

काण्ट और शङ्कर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय का एक आलोचनात्मक अध्ययन

A CRITICAL STUDY OF DIALECTIC IN
KANT AND ŚĀṆKARA

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फिल० डिग्री
के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

कु० मीरा मालवीय, एम० ए०

पर्यवेक्षक

डॉ० शिव शंकर राय, एम० ए०, बी० लिट्.,
प्राध्यापक, दर्शन विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

•

दर्शन विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
इलाहाबाद
१९७३

प्राक्कथन

=====

कान्ट और शंकर के दर्शन में दम्बन्धन्याय के आलोचनात्मक अध्ययन के विषय में हमें यहाँ बहुत कुछ नहीं कहना है। इसका मात्र कारण यह है कि दम्बन्धन्याय-सम्बन्धी अपने विषय के बारे में कुछ कहने से या तो प्राक्कथन में ही हमारे उन विचार-तथ्यों की पूर्ण जावृति हो जायेगी, जिनका विवेकन शोध-प्रबन्ध के प्रसृत परिच्छेदकों में किया गया है, अथवा हम अपने से सम्बन्धित ऐसे भावनात्मक व व्यक्तिगत कथनों में लग जायेंगे, जो पाठकों के लिए रुचिकर न होंगे तथा कठिनाई से ही शोध-प्रबन्ध के लिए प्रासंगिक होंगे।

इस शोध-निबन्ध में मैं केवल यह संकेत करती हूँ कि इन दो उत्तीव्रव्यापी दार्शनिकों के दर्शन में अपनी स्वयं की रुचि से प्रेरित होकर ही मैंने इस शोध-कार्य को अपनाया है। इन दार्शनिकों के विचारों दर्शन में मेरी अभिरुचि उसी समय से उत्पन्न हो गयी थी, जब मैंने अपने एम०ए० अन्तिम वर्ष में इनका अध्ययन विशिष्ट प्रश्न-पत्रों के रूप में किया था। यद्यपि इसका उल्लेख आवश्यक नहीं है किन्तु वतुवित एवं अप्रासंगिक भी नहीं है कि हमारी इस प्रकार की रुचि को हमारे गुरुजनों द्वारा प्रोत्साहन मिला। स्नातकोत्तरीय कक्षाओं के लिए प्रवचन उनके व्याख्यानों से निरन्तर हमें यह प्रेरणा मिलती रही कि हम कान्ट और शंकर के दर्शन को ही अपने शोध-कार्य का विषय बनायें।

हमारे शोध-निबन्ध का मूल शीर्षक अंग्रेजी शब्दों में -- "A critical study of Dialectic in Kant & Sankara है।" मैंने स्वयं अपनी उत्तीव्र इच्छा से ही इस शोध-निबन्ध को हिन्दी में लिखने का निश्चय किया। किन्तु इसका कारण यह नहीं है कि हमारी कठिनाई अंग्रेजी में प्राप्त रचनाओं के अध्ययन व समझ से है। प्रथम तो हिन्दी मातृभाषा होने के कारण, हिन्दी में ही विचार बढ़ी

सुगमता से जाते हैं तथा उनकी अभिव्यक्ति भी सहज व स्वाभाविक होती है । दूसरी बात यह है कि जब जर्मन, फ्रेंच, रूसी और जापानी--सभी अपनी रचनाओं को अपनी मातृभाषा में ही प्रस्तुत करते हैं, अंग्रेजी में नहीं, तो फिर हम क्यों न अपनी मातृभाषा का महत्व दें ।

सम्पूर्ण निबन्ध में 'डाइवैलेक्टिक' के समानार्थक शब्द 'द्वन्द्वन्याय' का ही प्रयोग किया गया है । यह दावा करना कि यह शब्द पूर्ण रूप से 'डाइवैलेक्टिक' का पर्यायवाची है, उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है, ऐसा इसलिए कि पाश्चात्य शब्द 'डाइवैलेक्टिक' के पीछे दो हजार वर्षों की एक ऐसी ऐतिहासिक परम्परा मिलती है, जो 'प्लेटो पारमेनिडिज़' से कान्ट, फिश्टे, हीगल और हेगल तक विस्तृत है । अपना प्रयास यही रहा कि 'डाइवैलेक्टिक' का एक ऐसा पर्यायवाची शब्द ढाँच निकालें जो 'डाइवैलेक्टिक' की व्यापकता से जात-प्राप्त हो । इसीलिए मैंने प्रत्येक संभव सुझाव एवं साधना से इस शब्द के एक उचित समानार्थक शब्द का प्राप्त करने की यथाशक्ति कोशिश की; किन्तु मैं देखती हूँ कि मेरी भाँति प्रत्येक व्यक्ति इसके समानार्थक पद के प्रति सन्देहमुक्त है और कोई भी इसके लिए एक उचित समानार्थक शब्द नहीं प्रस्तावित कर सका है । अन्त में हमारे गुरु, जो हमारे निर्देशक भी हैं, उन्होंने यह सुझाव दिया कि क्यों न बिना किसी प्रतिपाद के 'डाइवैलेक्टिक' का 'डाइवैलेक्टिक' ही कहा जाय, जबकि 'टेकनालाजी' का 'तकनीकी'; 'स्कैडेमी' का 'अकादमी' कहा जा सकता है; मेरी समझ में यह अनुपयुक्त भी नहीं प्रतीत होता है । परन्तु जिससे कि मैं विवाद का विषय न बनूँ, मैंने 'डाइवैलेक्टिक' के समानार्थक शब्द के रूप में 'द्वन्द्वन्याय' शब्द का ही तथर्व चुनाव किया है; और इसलिए भी कि वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत मानविकी-शब्दावली ॥१॥ में इसका पर्यायवाची शब्द 'द्वन्द्वन्याय' ही दिया गया है ।

अपने शोध के वार्षिक वृष्टिकोण के सम्बन्ध में मैं यहाँ कुछ नहीं कहना चाहती हूँ, क्योंकि मैंने अपने विषय-विषय की, शोध-निबन्ध के प्रथम अध्याय (भूमिका) में ही पर्याप्त विवेचना की है। अतः यहाँ उसके संक्षिप्त विवरण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

अपने अनुसंधान-विषय के सम्बन्ध में, मैं प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रति उत्पन्न आभारी हूँ जिसने मुझे यह शोध-कार्य करने की अनुमति दी। मैं प्रयाग-विश्वविद्यालय तथा जौहरी महादेवप्रसाद महाविद्यालय के पुस्तकालय अधिकारियों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकें प्रदान करके मुझे शोध-कार्य में सहायता दी।

अन्त में मैं अपने गुरु एवं निर्देशक अश्वेय डाक्टर शिवशंकर राय के प्रति उत्पन्न आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य निर्देश एवं सुझाव दे कर ही मुझे कृतार्थ नहीं किया वरन् अपना बहुमूल्य समय दे कर मेरी उन त्रुटियों का भी परिष्कार किया, जो मेरे लिए साधारणतः सम्भव न होता। अतः मैं वाञ्छन्व उनकी कृपणी रहूँगी, जिसे मैं शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकती हूँ। यदि मेरे इस शोध-निबन्ध में कुछ त्रुटियाँ व कमी शेष रह गयी हों तो उसके लिए केवल मैं ही उत्तरदायी हूँ। हाँ, यदि इसमें किसी महत्वपूर्ण वार्षिक तथ्य का संकेत मिलता है तो इसका कारण उनका ही सुझाव है तथा उनसे मेरा विचार-विभिन्न। इसके अतिरिक्त मैं उन सभी आदरणीय ज्यों के प्रति भी उत्पन्न कृतार्थ हूँ जो शोध-कार्य को पूरा करने के लिए सदैव मुझे प्रेरणा व प्रोत्साहन देते रहे, उनका प्रोत्साहन भी मेरे लिए कम महत्वपूर्ण न था।

समस्त प्रयत्नों के भाव में भी इस कृति में त्रुटियों का पाया जाना असंभव नहीं है, अतः इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं आज्ञा करती हूँ कि उबार पाठक मेरी त्रुटियों को सुधारने के लिए अवश्य ही सुझाव देंगे। यदि भविष्य में मुझे इस शोध-निबन्ध को प्रकाशित करने का अवसर मिले तो इसमें उनके द्वारा संकेतित संशोधनों का अपना ही स्थान होगा।

• दर्शन विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

३० जलाई. १९७१)

मीरा मालवीय

(मीरा मालवीय)

विषय-सूची

अध्याय १ -- भूमिका	--	--	१
अध्याय २ -- कान्ट के दर्शन में द्वन्द्वन्याय : शुद्ध बुद्धि में भागांश	--	--	३३
अध्याय ३ -- कान्ट के दर्शन में द्वन्द्वन्याय : व्यावहारिक बुद्धि में भागांश	--	--	१०२
अध्याय ४ -- कान्ट के दर्शन में द्वन्द्वन्याय : विमर्श में भागांश	--	--	१४२
अध्याय ५ -- शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग	--	--	१८७
अध्याय ६ -- सारत्र-विरोधी शारीरिक सम्प्रदायों का शंकर द्वारा सङ्गोपना-२५५			
अध्याय ७ -- उपसंहार	--	--	३०७
सहायक ग्रन्थ-सूची	--	--	३१६

००

---००---

अध्याय - ३

=====

यह शोध-प्रबन्ध तुलनात्मक दर्शन में एक अध्ययन है। अपने अध्ययन के लिए हमने जर्मन दार्शनिक कान्ट तथा भारतीय दार्शनिक शंकराचार्य को चुना है, जिनकी दार्शनिक रचनाएं अपूर्व विशुद्धता एवं बीज के साथ अतीन्द्रियवाद को स्पष्ट करती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि क्रमशः इन दो महान् पाश्चात्य एवं प्राच्य विन्तर्कों की दार्शनिक व्यवस्थाओं में विशिष्ट एवं सुस्पष्ट समानता है, तथापि यहां उनके बीच निहित समानताओं की एक सारिणी प्रस्तुत करने के उद्देश्य से यह कार्य नहीं किया गया है। इस शोध-प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य उन दोनों दार्शनिकों के प्रयत्नों या अभिप्रायों में निहित भेद को विशिष्ट रूप से प्लेखाना है। ऐसा मालूम होता है कि अपने प्रतिपादितों के सन्धानार्थ उन दार्शनिकों ने जो दार्शनिक युक्तियां प्रस्तुत की हैं, उन्हीं के अध्ययन से उनके भेद-स्थलों को जाना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप कान्ट अपने दार्शनिक लक्ष्य को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि एक आलोचनात्मक दर्शन को प्रतिपादित करने में उनका प्रयोजन अज्ञान को स्थान देने के लिए ज्ञान के क्षेत्र का परिशीलन करना है। ज्ञान के क्षेत्र का परिशीलन तथा अज्ञान के क्षेत्र की प्रतिष्ठा दोनों ही दार्शनिक रूप से विचार-विमर्शित विषय हैं। अज्ञान रसाक्त दार्शनिक विवेचन का प्राण एक ऐसे ज्ञान के विसर्जन में उपलब्ध है जो अज्ञान के क्षेत्र को जानने का अधिकारपूर्वक दावा करता है। इसी उद्देश्य से कान्ट अपनी प्रथम मीमांसा में एक ऐसा ढांचा तैयार करते हैं जिसका अभिप्राय हमें ज्ञान के कार्य और उसके स्वरूप से ही अवगत कराना है। इस ज्ञान से कान्ट सर्वथा ही गौण विषय का ज्ञान मानते हैं। 'अतीन्द्रिय' ज्ञान ही जो 'संवेदन', 'विश्लेषण' तथा 'द्वन्द्वन्याय' के विश्लेषण के रूप में जाता है, कान्ट द्वारा अधिकृत दार्शनिक क्षेत्र की एक-एक विशेष पद्धति का वास्तव है। इस पद्धति में न तो वे केवल आगमन विधि का अनुसरण करते हैं और न शुद्ध निगमन विधि का ही। वस्तुतः अतीन्द्रियात्मक पद्धति को उपरोक्त दोनों पद्धतियों के

अतिरेकों की परिशुद्धि करने के लिए प्रस्तावित करते हैं। अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समस्या को वे इस प्रकार प्रस्तुत नहीं करते कि ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार होती है। अनुभववादी तथा बुद्धिवादी दोनों विचारकों ने ज्ञान की समस्या पर इसी दृष्टिकोण विशेष से विचार किया है। अनुभववादी विचारक लाक इस खोज-विधि को ऐतिहासिक पद्धति कहते हैं। वे एक पूर्वमान्यता के रूप में इस तथ्य की प्रस्तुत करते हैं कि हमारा मस्तिष्क एक स्वच्छ शीट अथवा कौरी पृष्ठ की भांति है, हमारे समस्त ज्ञान का प्रारम्भ हन्ड्रियानुमस से ही होता है। अपने ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए वे यह बताते हैं कि प्रत्यय किस प्रकार उत्पन्न होते हैं तथा किस प्रकार ज्ञान के जटिल रूप में विकसित होते हैं। लाक की इसी ऐतिहासिक पद्धति को बर्कले तथा ह्यूम ने विस्तृत और परिष्कृत किया है तथा इसको ऐसी सीमा तक पहुंचा दिया है जहां से वे आत्मा, ईश्वर व ज्ञात सम्बन्धी दार्शनिक रहस्यों को प्रकाशित करने के लिए एक झुंकी प्रदान करते हैं। इसके विपरीत डेकार्ट, स्पिनाज़ा, लाइब्नीज़ तथा सुल्फ आदि बुद्धिवादी विचारकों ने दार्शनिक खोज को एक प्रागनुमसी मार्ग के रूप में प्रदर्शित किया है, जो कुछ 'सुरक्षित' व 'निश्चित' सत्ता पर अपने वर्णन के तात्त्विक रहस्यों को नाशित करते हैं। इन्हीं सुरक्षित एवं सुनिश्चित सत्ता को वे 'सहज प्रत्यय' कहते हैं। इन बुद्धिवादी दार्शनिकों ने अपने-अपने विभिन्न तरीकों से इसी 'सहज प्रत्यय' के सिद्धान्त को विस्तृत किया है जो विभिन्न रूपों में विस्तृत होते हुए भी तात्त्विक घरातल पर सिद्धान्ततः समान हैं।

बुद्धिवाद तथा अनुभववाद--ये दो विरोधी दार्शनिक सम्प्रदाय ज्ञान-मीमांसात्मक समस्याओं के समाधान के प्रयत्न में जिन विधियों को अपनाते हैं, वे कुछ विशेष पूर्वमान्यताओं को लेकर चलती हैं। दोनों सम्प्रदायों से सम्बन्धित प्रत्येक पूर्वमान्यता अपने स्वरूप में अपरीक्षित है। अनुभववाद के अनुसार हन्ड्रियानुमस ही प्रत्यय का स्रोत है, जबकि बुद्धिवाद के अनुसार प्रत्यय का स्वरूप एवं स्रोत प्रागनुमसी है। इन दोनों का प्रस्थान-बिन्दु प्रत्यय ही है। कान्ट की समस्या

१. फ़ाल्सेनर्क--हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न फ़िलासफी--पृष्ठ-१५५-५६

२. वही, पृष्ठ--६२

एक तीसरी प्रस्थान-बिन्दु की खोज न थी, उनकी समस्या ज्ञान की सम्भावना की समस्या थी, और ज्ञान को उन्होंने व्यापक अर्थ में लिया है, जिसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार का ज्ञान सम्भल जा सकता है। वारतविक दृष्टि में कान्ट वह प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने ज्ञान की समस्या को सुरपष्ट ढंग से प्रस्तुत किया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह अपनी दार्शनिक व्यवस्था को अतीन्द्रियात्मक व्यवस्था के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। वारतव में ज्ञान की सम्भावना को अतीन्द्रियात्मक शर्त ही उनकी खोज है, अर्थात् वे यही जानना चाहते हैं कि ज्ञान किस प्रकार संभव है तथा इसकी अतीन्द्रियात्मक शर्त क्या है? किन्तु इसका तात्पर्य आनुमयिक आधारों पर एक आनुवंशिक व विकासात्मक अध्ययन नहीं है और न तो प्रागनुमयी अव्यवस्था के विरुद्ध वाकारिक आधारों पर ही एक अध्ययन है। कान्ट अनुभव-वादी विचारधारा के इस तथ्य को सहर्ष मान्यता प्रदान करते हैं कि ज्ञान का प्रारम्भ अनुभव से होता है, किन्तु इसके साथ ही वह इस बुद्धिवादी विचार-तथ्य को भी मान्यता देने से नहीं बूकते कि ज्ञान की बुद्धि बुद्धि के स्तर पर ही होती है, अर्थात् ज्ञान बुद्धि द्वारा निर्मित होता है। कान्ट के अनुसार इतना ही पर्याप्त नहीं है, वह कहते हैं कि ज्ञान प्रज्ञा में अपनी सोमा का स्पर्श करता है, जहाँ इसे अपने को अनुभव से परे होने का ऐसा रंकेत प्राप्त होता है, जो इस बात को व्यक्त करता है कि ये विन्तनीय है, किन्तु ज्ञेय नहीं है। यह अज्ञेय ही अप्रतिबद्ध का क्षेत्र है, और यह क्षेत्र प्रज्ञा के प्रत्यय नामक शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित है। यही तत्त्व-दार्शनिक सत्ता का क्षेत्र है जिसे विश्वास ज्यथा अज्ञा में रक्षोकार किया गया है तथा जो भाषात्मक एवं नैतिक अनुभव में अनुभूतिमय है, परन्तु बुद्धि के वस्तु-विषय

१. कान्ट, कृटिक ऑफ़ प्योर रीज़न, एन०के० रिमय--पृ० ४५

२. वही, पृ० ५६

३. वही, पृ० ४१

४. वही, पृ० ४१

५. वही, पृ० ३१४

६. वही, पृ० २७

७. वही, पृ० ३०६

के रूप में यह ज्ञेय नहीं है। समकालीन प्रत्यक्षवादी विचारकों के विरुद्ध हमारा दावा है कि यह ज्ञानातीत क्षेत्र निर्णय नहीं है। ज्ञान के क्षेत्र से परे जो भी क्षेत्र है वह विश्वास का क्षेत्र है, केवल इसी क्षेत्र में ही स्वीकृत अतीन्द्रिय सत्ता अवस्थित होती है। इसी उद्देश्य से शुद्ध-बुद्धि, व्यावहारिक बुद्धि तथा निर्णय बुद्धि—इन तीन मीमांसाओं में कान्ट द्बन्द्वन्याय-शैली का प्रयोग करते हैं। द्बन्द्वन्याय का कार्य पूर्णरूप से यह दिखाना है कि अतीन्द्रिय सत्ता को सांगीपांग रूप से समझने के लिए शुद्ध-बुद्धि असमर्थ एवं अपर्याप्त है। व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा तथा निर्णय बुद्धि मीमांसा को प्रस्तुत करते समय एक बार पुनः कान्ट को ज्ञान की सीमाओं को दिखाने को परम आवश्यकता प्रतीत होती है, और ज्ञान की इस सीमा को वे युक्तियाँ द्वारा बहुत उत्साह एवं तत्परता से प्रमाणित भी करते हैं। ऐसा वह केवल इसलिए करते हैं कि हमारी व्यावहारिक व निर्णय बुद्धि तथा संवेदनात्मक व प्रयोजनात्मक बुद्धि का कार्य शुद्ध-बुद्धि के कार्यों से भ्रमित न हो सके।

कान्ट की द्वितीय व तृतीय मीमांसाओं का अभीष्ट ज्ञान के लक्ष्य से पूर्णतया भिन्न एक अन्य उद्देश्य की पूर्ति करना था। ज्ञान अपने क्षेत्र में सीमित है, यह नैतिकता को नहीं समझ सकता है और तन्त्रि व प्रयोजन को भी नहीं समझ सकता है। अपने ज्ञानात्मक कार्यों की सीमाओं को समझने का अर्थ यह नहीं है कि इस सीमा के आगे कुछ और शेष नहीं है। मानव को एक उच्चतर भवितव्यता या निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करना है। उसका यह लक्ष्य उपायता, मय्यता, सौन्दर्यानुभूति में तथा नैतिक हज्जा-शक्ति की हज्जा में अपनी मुक्तात्मा के साथ वास्तविक सत्ता का साक्षात्कार करना है। यह यथार्थ सत्ता ही अप्रतिबद्ध की अनुभूति है। कान्ट के अनुसार द्बन्द्वन्याय का अभिप्राय केवल शुद्ध-बुद्धि की इस अपर्याप्तता को दिग्दर्शित करना है कि यह मानव-जीवन के सर्वाच्च लक्ष्य की पूर्ति करने में तथा अप्रतिबद्ध की अनुभूति कराने में असमर्थ है। बुद्धिवादियों का परि-
कल्पनात्मक तत्त्व-दर्शन कान्ट के लिए इतना अग्राह्य था कि केवल शुद्ध-बुद्धि मीमांसा

१. एमरसन, क्लैसिक्स ऑफ़ एनालिटिक फ़िलॉसफी, पृ० ११२-११३

२. 'कान्ट', क्रिटीक् ऑफ़ प्यार रीज़न, एन०के० स्मिथ- पृ० ३२७

३. वही, पृ० ३०६, ३०७, ३२४

में ही नहीं बरन् अन्य दो मीमांसाजों तथा प्रौल्लोभिना आदि में वे अत्यन्त आग्रहपूर्वक यह प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नशील हैं कि ज्ञान केवल गौबर विश्व को ही प्रगट करता है और जब यह आलोचनात्मक रूप धारण करता है तब केवल अपनी सीमा को ही जान सकता है। यह सीमा ही अप्रतिषेध है, शुद्ध-बुद्धि इसे बिना जाने हुए ही इसके विषय में केवल चिन्तन कर सकती है। जब उदाहरण रूप में कान्ट यह कहते हैं कि चेतना की अतीन्द्रिय स्वता केवल एक तार्किक एकता है तब यह चम्तुतः इसका अपकर्षण नहीं करते हैं। इस प्रकार वह इस चेतना की एकता को एक तार्किक वादर्थ के रूप में मान्यता दे कर एक सर्वान्वय प्रशस्ति या श्रद्धा ही प्रदान करते हैं। उनके चिन्तन का विशेषात्मक पक्ष केवल इसी बात को स्पष्ट करता है कि यह चेतना की एकता एक तार्किक सिद्धान्त मात्र है, इसकी सवात्मक अनुभूति ज्ञान में नहीं हो सकती है। यही कारण है कि इस बात की मांग के अर्थ में कि वात्सा एक तात्त्विक सत्ता के रूप में ज्ञात हो; कान्ट की प्रथम मीमांसा अपने में अभावात्मक रह जाती है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। कान्ट की द्वितीय व तृतीय मीमांसाएं अपने स्वरूप में अधिक भावात्मक तथा तात्त्विक हैं, परन्तु यह भावात्मिकता वात्सा के नैतिक स्वरूप से सम्बन्धित है तथा उस अनुभूति की याचक है जो प्रयोजनात्मक व रुचिप्रधान है। छद्मलिए हमारे शोध-प्रबन्ध का प्रथम भाग कान्ट के दर्शन में उस द्बन्ध-न्याय की विवेचना से सम्बन्धित है, जो हमें शुद्ध-बुद्धि, व्यावहारिक बुद्धि तथा निर्णय-बुद्धि मीमांसाजों में मिलती है।

यहाँ इस तथ्य का समर्थन करना अनुपयुक्त न होगा कि द्बन्ध-न्याय के क्षेत्र में कान्ट की प्रमुख सफलता प्रामाणिक रूप से यह दिखाने में रही है कि बुद्धिवादी दार्शनिकों की ज्ञान-कैन्द्रित सत्ता मीमांसा की स्वीकृति प्रभारपव है। इस ज्ञान-कैन्द्रित सत्तामीमांसा की पूर्ण अभिव्यक्ति स्पिनोसा के नीतिशास्त्र में

१. कान्ट, क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीज़न, एम०के०रिमथ, पृ० २७

२. वही, पृ० १५५-५६, ३७०

३. वही, पृ० ३७०, एव०डब्ल्यू०हैशिरर, कान्टस फ़र्स्ट क्रिटिक, पृ० २५२

उस स्थल पर प्राप्त होती है जहाँ उन्होंने ज्ञान की समस्या के साथ नैतिकता की समस्या का तादात्म्य स्थापित किया है। अपूर्णता या अज्ञान की अस्पष्टता के रूप में सम्पत्ताने का प्रस्ताव किया गया है। अतः ईश्वर-साक्षात्कार के आकांक्षी को सावधान करते हुए रिपनोज़ा का यह कथन है कि किसी भी ईश्वर प्रेमाकांक्षी को अपनी बुद्धि के उस विकार को दूर करना होगा जो मिथ्या ज्ञान का मूल कारण^१ है।

बुद्धिवादी दार्शनिकों में रिपनोज़ा के सर्वश्रेष्ठ विचारक जेम्स के बावजूद भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह रिपनोज़ा की ही दर्शन परम्परा थी जिसका उत्पत्तिक विस्तृत विवेचन हमें लाइबनीज तथा बुल्फ़ावार्ड के मतानुगृही दर्शन के रूप में प्राप्त होता है। वाग्वै चले कर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम इस बात का पर्यालोचन करते हैं कि बुद्धिवादियों की दर्शन व्यवस्था में सत्तामूलक तर्क कितना अधिक व्यापक है। इसी तर्क के विरुद्ध इन्द्र-न्याय को आधार बनाने में कान्ट का उत्पत्तिक-बुद्धि की प्रतिष्ठा को केवल कम करना ही नहीं है बल्कि नैतिकता का समस्या से ज्ञान को समस्या को दूर करना भी है। इस सन्दर्भ में कान्ट का केन्द्रीभूत सिद्धान्त पता चलता है कि वाच्यतात्मक साध्य के रूप में पूर्णता की प्राप्ति ज्ञान में नहीं हो सकती है, किन्तु नैतिकता में तथा भावात्मक अनुभूतियों में हो सकती है। अर्थात् जो ज्ञान में संभव नहीं है वह व्यवहार व अनुभूति में सम्भव है। ऐसा मालूम होता है कि कान्ट ने इन्द्र-न्याय का प्रयोग इसी तथ्य को दर्शाने के लिए ही किया है कि नैतिकता व ज्ञान का समीकरण असंगत है।

कान्ट और शंकराचार्य की इन्द्रन्यायात्मक बुद्धियाँ के विवरण को प्रस्तुत करने में हमारा प्रमुख उद्देश्य इस विचार-स्थिति का मण्डन करना है कि शंकर के

(स्वरीभिन)

१. रिपनोज़ा, एथिक्स, पृ० २०३

२. वही, पृ० २०३-४

३. वही, पृ० २६३

४. कान्ट, क्रिटिक ऑफ़ प्यार रीज़न, एन०के०रिन्स, पृ० ५००

अद्वैत दर्शन में उत्कृष्ट रूप से प्राप्त ज्ञान व नैतिकता की समता ही वह विश्वसनीय एवं उदात्त उपाय है, जिसके प्रकाश में हम ज्ञान के प्रति कान्ट के अविश्वास को समझने का एक नव-प्रयत्न कर सकते हैं। इस प्रकार का प्रयत्न करना वांछित भी है। कारण यह है कि कान्ट ने ज्ञान के क्षेत्र को विश्वास के क्षेत्र से विभक्त करने के लिए ज्ञान की सीमा का निर्धारण किया। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने द्रष्टव्य-व्याय प्रणाली का उपयोग किया। ऐसा प्रतीत होता है कि कान्ट ने ज्ञान से वस्तुगत स्थिति में विषयों का ही ज्ञान समझा, क्योंकि नैतिकता अन्य विषयों के बीच एक विषय नहीं है, नैतिक अनुभूति की कटि अतीन्द्रिय है। जो इन्द्रिय-वस्तुभासीत है, वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। उसकी प्रतिष्ठा तो केवल विश्वास में ही की जा सकती है। इस सम्बन्ध में हम अपने विवेचन के अन्तित्व के पक्ष में यही कहना है कि कान्ट के द्रष्टव्य-व्याय का प्रयोजन ज्ञान की सीमा को निश्चित करना था, जिससे वह विश्वास के क्षेत्र को प्रसारित करते, किन्तु ऐसा करने में उन्होंने अपने निष्कर्षों को एक ऐसी पूर्वमान्यता पर आधारित किया जो परीक्षण पर लगी नहीं गिद्ध होती है। पूर्व मान्यता के घटक इस प्रकार के हैं :--

(१) जो ज्ञेय है, वह दुस्सिद्ध्य है और जो दुस्सिद्ध्य है, वह विषय स्थिति में इन्द्रियानुभूति पुरत सामग्री है, और (२) जो अतीन्द्रिय है, वह ज्ञेय नहीं है। इस पूर्वमान्यता के अनुसार अतीन्द्रिय-सत्ता, ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है। अपने इस निबन्ध में हम यही दिखलाना चाहते हैं कि ज्ञान का एक अधिभयक स्वरूप है। इस स्वरूप में अतीन्द्रिय-सत्ता या स्थिति का ज्ञेय होना किसी व्याघात का यातक नहीं है। जब रिफ्लेक्श ने नैतिक आचरण को अज्ञान का पर्याय मात्र माना तब उनके विचार में नैतिक आचरण अतीन्द्रियता से रिक्त नहीं है। अर्थात् नैतिकता का साम्राज्य विषय ज्ञात का साम्राज्य नहीं है। उनके दर्शन में भी वह अधिभयी संज्ञा है। परन्तु ऐसा नहीं है कि जो अधिभयी संज्ञा है उसका ज्ञान ही हो नहीं सकता है। रिफ्लेक्श में ईश्वर का बौद्धिक-प्रेम इस प्रकार के ज्ञान का उदाहरण है। हो सकता है कि रिफ्लेक्श के अनुसार बौद्धिक विचारधारा बौद्धिक विचारधारा अनुयायी वास्तविक उनकी परम्परा को परिचरित कर रहे थे, परन्तु ज्ञान की जिस विवेचना को उन्होंने प्रस्तुत किया उसमें रिफ्लेक्श के दर्शन का बाह्य बौद्धिक ढांचा मात्र ही रूपा गया था। उसमें उनके दर्शन के चिन्तन की

१. टी. आर. बी. भूति, बी. रैकल बेसिस ऑफ अद्वैतियम फिलार्सोफिकल क्वार्टर्ली ७३

आध्यात्मिक गहराई न थी। यह कहना कि बुद्धि सब कुछ जान सकती है, पर्याप्त नहीं है। लाइबनिज और वुल्फ के इस दावे में विवेक की ऐसी अपर्याप्तता निहित है जिसके कारण कान्ट ने उनके दार्शनिक दावे को पलायनी अलगाया और इसी कमी को दूर करने के लिए ही उन्होंने दण्डन्याय का प्रयोग किया। परन्तु हमारा कहना यह है कि कान्ट की यह पारणा ज्ञान की अपूर्ण विवेकता का फलभाव है। यदि हम कान्ट की दण्ड-प्रणाली के प्रयोजन की समीक्षा संसार के दर्शन के प्रकार में करें तो हमें ज्ञान की उस संकुचित अर्थ में गुणन करने का जगह दूर हो जायेगा, जिसके कारण कान्ट ने ज्ञान-ज्ञान और विश्वास-ज्ञान के बीच एक भारी दीवार खड़ी कर दी है। अतीन्द्रिय-सत्ता जैसा होने पर भी अपर्याप्त व्यवहार की योग्यता से युक्त है। एक विस्तृत अर्थ में ज्ञान के अन्तर्गत वेद और जैव यानी विषय रूप में वेद एवं अपर्याप्त रूप में अनुभूत संवागों को रखना किसी प्रकार उमान्य नहीं है। तब यह कहना उमान्य न होगा कि रिपनोड़ा ही ऐसे पार्श्वीय दार्शनिक विचारार्थ पड़ते हैं जिनकी चिन्तन-शैली हमारी भारतीय चिन्तन-शैली के अधिक-से-अधिक समीप है। यह कहना तो एक विवाद-विषय में प्रवेश करना होगा कि रिपनोड़ा पर प्राच्य विचारधारा का प्रभाव था। परन्तु उनकी चिन्तनधारा का प्राच्य विचारधारा से सामीप्य स्ताना कोई दुर्घट नहीं है।

भारत में वैदिक-मत व वैदिक अग्रजत सम्पूर्ण दर्शन परम्पराओं का एक अंतिम आध्यात्मिक प्रतिज्ञा में ही कैन्दुरित है। यह प्रतिज्ञा पूर्णता के प्राप्ति की प्रतिज्ञा है। अपूर्णता में सबै सीमाबद्धता का अर्थ निहित है। पूर्णता मुक्ति है, इसके स्वरूप व अन्तर्विषय को विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से जाना व समझा है। यह मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण आदि विभिन्न रूपों में वर्णित है।

१. विशुद्धी, तत्त्वप्रदीपिका (उपासीन संस्कृत विशालय ग्रन्थमाला) पृ० १६

२. रिपनोड़ा, एथिक्सा, पृ० १६६

३. वेदी चार्चमान, फ्रैड्स ऑफ इंडियन थॉट, पृ० १४१

४. ब्रह्मी, पृ० १४२

इस शोध-प्रबन्ध में शंकर के द्वन्द्वन्याय की भी विवेच्य विषय बनाया गया है, क्योंकि इसी के द्वारा हमें यह प्रमाणित करने का अवसर प्राप्त होता है कि शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन ही समस्त भारतीय दर्शनों का बीजमन्त्र है। अतः यह कहा जा सकता है कि उनका अद्वैत दर्शन उन सभी सीमित दृष्टिकोणों से युक्त दर्शनों की एक आलोचना व आबिष्यता का निरूपण है, जो ज्ञान की नैतिकता से प्रयुक्त करने के लिए प्रवृत्त हैं। विभिन्न भारतीय दर्शन व्यवस्थाओं की आलोचना के लिए प्रयुक्त शंकर की अद्वैत युक्तियाँ यह व्यक्त करती हैं कि इन सम्प्रदायों के सवामूलक ढाँचे व इनके आंशिक दृष्टिकोणों को आबिष्यता प्रदान करने के लिए वह प्रयत्नशील थे। शंकर ने अपने तर्कवाद में जितने सम्प्रदायों की आलोचना की है, उन दर्शन-सिद्धान्तों का तुल्य पता उनका भेद-दृष्टि से दृष्ट होना ही है। पूर्णता केवल अमेद दृष्टि में ग्राह्य है। अमेद ज्ञान ही अतिश्रेष्ठ ज्ञान है, किन्तु अतिश्रेष्ठ ज्ञान होते हुए भी यह नैतिकता और आध्यात्मिक मूल्यों के उत्कृष्ट तत्त्वों से रिक्त नहीं है।

क्रिया भी विबुद्ध व प्रागाणिक दर्शन-व्यवस्था की भाँति शंकर के दर्शन में भी द्वन्द्वन्याय तर्क का एक प्रकार है, जो युक्तियुक्त रूप में स्वीकृत एक तत्त्वमूलक प्रतिज्ञा के स्वरूप से अतुल्य होता है। शंकर के अद्वैत का तत्त्व-दर्शन अद्वैतवादी तार्किक प्रतिज्ञा के लिए ही आधारस्वरूप प्रतिष्ठापित होता है। इसका, अर्थ है मुमुक्षु का अपनी सत्ता को एक ऐसी अनन्त सत्ता में विलीन कर देना जिसमें किसी प्रकार का भी हतारभाव या अन्वयत्व नहीं है। सम्पूर्ण इतर भावनाएं हमारी विकृत बुद्धि द्वारा उत्पन्न होती हैं। जैसा कि हमें विस्तृत करने का एक अवसर प्राप्त होगा, हम यह वैशेषी कि इस विकृत बुद्धि का मूल तत्त्व विषयी-विषय के द्वैत में निहित है। इसी द्वैत के अन्तर्गत ही साधारणतः हम निवास करते हैं,

१. पूर्णता ही परम पुत्रार्थ है, यही नैतिकता का अन्तिम लक्ष्य है। अमेद में जो अद्वैत की स्थिति है उसमें सत्ता और पूर्णत्व एक ही है। अतः परमार्थिक ज्ञान में और पूर्णत्व में जो परम पुत्रार्थ है उसमें कोई अन्तर नहीं है। केवल द्वैत एवं भेद भावना में केन्द्रित दर्शनों के अन्तर्गत ही ज्ञान की समस्या और नैतिकता की समस्या विराट् है।

विनष्ट करते हैं तथा तर्क करते हैं । हम यह कह सकते हैं कि शंकर के दर्शन में द्रन्धन्याय एक द्विधारी तलवार के समान है , जिसकी एक धार ज्ञेय सत्ता अथवा एकमात्र ज्ञेय के रूप में तात्त्विक प्रतीक्षा को सुरक्षा प्रदान करती है और दूसरी धार अपने उन विरोधी ज्ञेयवादी , अर्थ-ज्ञेयवादी एवं सौपायिक ज्ञेयवादी दर्शनों की तात्त्विक कमियाँ को प्रदर्शित करती है, जो कहीं-न-कहीं व्याघातयुक्त पायी जायेंगी । यह आलोचना चाहे मीमांसा, वैशेषिक, जैन, बौद्ध आदि दर्शनों की हो, चाहे सांख्य, पांवरत्र आदि दर्शनों की, हमें यही स्वीकार करना होगा कि शंकर के दर्शन में द्रन्धन्याय केवल अपने प्रतिपक्षियों की प्रथम उपेक्षा का साधन मात्र नहीं है । शंकर एक वैतण्डिक नहीं हैं, द्रन्धन्याय का प्रयोग वे न तो एक ऐसे कुतर्क के रूप में करते हैं जो बिना किसी सिद्धान्त-पक्ष का पण्डन किये, प्रतिवादियों के नयवृत्तन में ही समाप्त हो जाता है और न तो उनका प्रयोजन प्रतिपक्षी को पराजित करने का ही है । अतः उनका तर्क या द्रन्धन्याय जल्य कौटिक का भी नहीं है । उनका तर्क याव कौटिक का द्रन्धन्याय है । इसमें युक्ति का स्वरूप ऐसा है कि जिज्ञासुओं को विचार के माध्यम में ज्ञेय तत्त्व का स्पष्टीकरण उपलब्ध हो सके । यदि ऐसा ही है तो यहाँ साज रूप से एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब सर्वत्र ज्ञेय का ही राज्य है तब विद्विषि एवं स्पष्ट करने का अवसर ही कहाँ है, क्योंकि स्पष्टीकरण या तो स्वार्थपरक होता है या परार्थपरक जब कहाँ भी अन्यत्त्व, ज्ञेय अथवा हतरभाव है ही नहीं, तब आलोचना का अवसर कहाँ है ? एक प्रतिवादी को आलोचना एवं उसका खण्डन सर्वव अन्यत्त्व के रूप में ही ग्रहण किये जा सकते हैं ।

उपरोक्त धारणा यह है कि ज्ञेयवादी शंकर का संघर्ष व प्रतिवाद किसी से नहीं है, क्योंकि अन्तिम विश्लेषण में प्रतिवाद सर्वदा ही अन्यत्त्व की उपेक्षा करता है और ज्ञेयवाद में किसी भी प्रकार के अन्यत्त्व के लिए स्थान नहीं है । हमने अपने इस शोध-प्रबन्ध में यह दिखाने का प्रयास किया है कि ज्ञेयवादी शंकर के विरुद्ध हर प्रकार की सभी शंकाएं सैद्धान्तिक स्तर पर अविवारणीय हैं ।

अद्वैत दार्शनिक ऐकर की समस्त युक्तियाँ निष्कर्ष में इस बात का संकेत करती हैं कि वस्तुतः यह उन समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों के शत्रु व प्रतिघापी नहीं हैं । प्रकाश बन्धकार का शत्रु नहीं है क्योंकि प्रकाश के भाष में बन्धकार का अभाव होता है अर्थात् जहाँ प्रकाश होता है वहाँ बन्धकार होता ही नहीं है । तम या बन्धकार अपने आप में कुछ है ही नहीं, बन्धकार में यवना केवल प्रकाश के द्वारा हो जाना जा सकता है । बन्धकार का अपने में अनस्तित्व इस अर्थ में है कि यह प्रकाश का अभाव है । इस प्रकार के समस्त दर्शन, जिनकी आलोचना संकर करते हैं, स्वयं-सिद्ध एवं स्वयं पर्याप्त होने का दावा करते हैं, परन्तु उनका यह दावा अपने में असिद्ध है । उनका स्वत्व उनकी उस कमी का यौक्त मात्र है जो अद्वैत ब्रह्मन्याय के प्रकाश में दृष्टव्य है । स्वप्रकाश वैशारदय अद्वैत की जात्स्ववादी प्रतिज्ञा से अन्यथा कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं । अद्वैतवादी ऐसी किसी भी पूर्वमान्यता से मुक्त नहीं हैं जिसे हठानुसार परित्याग कर दिया जावे तथा हठानुसार स्वीकार कर लिया जावे । यह किसी एक प्रकार के दार्शनिकों के लिए सुविधानुक तथा किन्हीं अन्य प्रकार के दार्शनिकों के लिए असुविधानुक परिकल्पना मात्र नहीं है । यह अप्रतिबद्ध-कैन्दुर होने के अर्थ में ही स्वयं-प्रकाशित तथा स्व-दीप्तिमान है । इसी स्वप्रकाश तत्त्व का आवरण

१. हमारा यह कथन मतागुही नहीं है । हम अद्वैत की निर्विवाद कह के उसे अन्य दर्शनों से ऊँचा सिद्ध करना नहीं चाहते हैं । हमारे कहने या न कहने से अद्वैत की निर्विवादिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है । अद्वैत विचाररहित इसलिए नहीं है कि हम अद्वैत के अनुयायी होकर उसकी प्रशंसा कर रहे हैं वरन् इसलिए है कि अद्वैत तत्त्व से किसी का भी विरोध तभी संभव हो सकेगा जब कोई उसके बाहर हो या उससे हटकर हो । यह सर्वव्यापी एवं अनन्त है, इसीलिए यह कान्ठ के अप्रतिबद्ध के समान है अर्थात् जितना और हो न सके ।

वाञ्छावित होना ही सम्भव है। शंकर द्वारा अनुमोदित ज्ञेयवाद स्पष्ट एवं अनिवार्य रूप से ज्ञेय, अप्रतिबद्ध अनन्त तत्त्वों की एकमात्र पारमार्थिक सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। ज्ञेयवत्तर वार्षिक व्यवस्थाएं ज्ञेय सत्ता की जीवन्मय के रूप में स्वीकार न करते हुए भी अपनी सम्पूर्ण प्रतिज्ञाओं में उस प्रशान्ति व आनन्द की प्राप्ति करना चाहती हैं जो उन व्यवस्थाओं द्वारा मोक्ष, कैवल्य के रूप में वर्णित है। ज्ञेयवादी शंकर द्वान्द्वन्याय के प्रयोग द्वारा केवल यह परिलक्षित कराना चाहते हैं कि विभिन्न दर्शन जीवन के विवक्षित लक्ष्य के रूप में स्वीकृत व समर्थित परम पुरुषार्थ मोक्ष की ही मान्यता में गृहण करते हैं। ज्ञेय के अतिरिक्त अन्य दर्शनों का मोक्ष बन्धन के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यद्यपि उन सब ने इसका प्रतिपादन व समर्थन इतनी कुशलता से किया है कि वह बन्धन के रूप में नहीं दृष्टिगत होता अपितु मोक्ष या कैवल्य ही प्रतीत होता है। जब बन्धन मोक्ष के रूप में प्रतीत होता है, तब यहां यह पूछा जा सकता है कि कौन किसके द्वारा आवृत है और वस्तुतः क्या प्रतीत होता है ? इस सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि जो आवृत है वह मोक्ष ही है, जो प्रतीति में है वह बन्धन है। अतः शुद्धि से ज्ञा होना सम्भव नहीं है, अप्रतिबद्ध से विमुक्त होना असम्भव है। केवल इसी अनन्त सत्ता की अनुमति ही परम पुरुषार्थ या ज्ञानिन लक्ष्य है। इसी का अर्थ, मनन व निविध्यासन निर्दिष्ट एवं वांछनीय है।

द्वान्द्वन्याय-सम्बन्धी अपनी समस्या का पुनः अवलोकन करते हुए हम कह सकते हैं कि ज्ञेय वेदान्त के अन्तर्गत वार्षिक शुद्धि के रूप में द्वान्द्वन्याय किसी दर्शन-व्यवस्था, दृष्टिकोण अथवा वार्षिक सिद्धान्त का केवल सण्डन नहीं करता है, क्योंकि सण्डनात्मक योजना अपने में साध्य नहीं हो सकती है। द्वान्द्वन्याय की आलोचना के लिए आलोचना प्रयोक्तृहीन है। सारसुख आलोचना का एक ही विषयावित प्रयोजन हो सकता है, वह स्व-परिशुद्धि का प्रयोजन है, अन्य प्रेरणाएं

१. आलोचना का विषयावित प्रयोजन वेदान्त की स्व-परिशुद्धि है। इस प्रकार की ज्ञान भीमांसा हमें ज्ञेय में ही नहीं बल्कि पाश्चात्य वार्षिक स्थितिज्ञा के 'ट्रेक्टेटस डी इन्टेलिजेंस' में भी मिलता है। स्थितिज्ञा के इस लेख की हम शंकर के अध्यास निरूपण से तुलना कर सकते हैं।

व दृष्टिकोण परिणाम की दृष्टि से सारहीन है । यदि हम बाह्य पक्ष से आलोचना करते हैं तब हम अपने आलोच्य विषय से बाह्य एवं पृथक् हो जाते हैं । आलोच्य दार्शनिक व्यवस्थारं भी अपने विचार-विषय को किसी विशेष प्रतिज्ञा पर आधारित करते हैं और यह प्रतिज्ञा उनके द्वारा पहले से ही स्वीकृत होती है, इसकी प्रामाणिकता को भी निर्विवाद रूप से स्वीकार करती है । जब हम उनकी आलोचना करते हैं, तब अपनी प्रतिज्ञा की स्थिति के अनुसार अपने विशेष दृष्टिकोण से उनकी आलोचना करते हैं । प्रत्येक दर्शन की प्रतिज्ञा ही उसका अपना बीजमंत्र होता है । विभिन्न प्रतिज्ञारं एक दूसरे को प्रामाणिक या अप्रामाणिक नहीं बना सकती हैं । इसलिए यदि शंकर किसी विशिष्ट वाद से प्रेरित हैं तो वे किसी अन्य वाद की आलोचना केवल बाह्य दृष्टि से ही कर सकते हैं और ऐसा करने में वह आलोचना के दार्शनिक अभिप्राय को समझने में असफल होंगे तथा उनकी आलोचना मात्र एक अनर्गल अभिलाष ही सिद्ध होगी ।

इस शीघ्र-निबन्ध में अपनी युक्तियाँ व व्याख्या द्वारा हम इसी तथ्य को दर्शाना चाहते हैं और इसी का समर्थन भी करना चाहते हैं कि अद्वैत दार्शनिक-व्यवस्था अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में एक दर्शन-सम्प्रदाय नहीं है । ऐसा केवल प्रतीत होता है कि वह भी विभिन्न सम्प्रदायों के बीच एक सम्प्रदाय है । यद्यपि अद्वैत अन्य दर्शनों में एक दर्शन की भाँति प्रतीत होता है किन्तु फिर भी हम यह कह सकते हैं कि विलक्षण रूप से यह एक फुट व मुड़ दर्शन है, एक बल या अप्रकट दर्शन नहीं है । यह इस अर्थ में मुड़ है कि यह अन्य विरोधी दर्शनों को अपने सिद्धान्त की शरण में जाने के लिए बाध्य नहीं करता है । यह उन्हें इन तथ्यों से अवगत कराना चाहता है कि--(१) उनकी व्यवस्थाओं में एक अन्तर्भूत विरोध है, अर्थात् अपनी प्रतिष्ठित प्रतिज्ञाओं के प्रसार में वे आत्म-व्याघात को ही फुट

१. दि लाइफ़ डिवाइन, श्री अरविन्द, पृ० ४४३

२. डा० जे०एन० बम्ब ने अपने १९६६ के इंडियन फिलॉसॉफ़िकल काँग्रेस के अध्यक्षता भाषण में इसे किसी भी दर्शन का प्रधान-चिन्तु या काइटीरीयन कॉन्सेप्ट कहा एक दर्शन विशेष के अन्तर्गत उसकी सभी तार्किक श्रृंखलाओं को यही काइटीरीयन-कॉन्सेप्ट धैर्य या अवैध प्रमाणित करता है ।

३. वही, पृ० ८-९

करती है। चापार्क के अतिरिक्त प्रत्येक भारतीय दर्शन का अधिलक्षित केन्द्र-विन्दु मोक्ष ही है परन्तु इसी मोक्ष की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में ही समस्त दर्शन मतभेद रहते हैं। इसी हमने अपने निबन्ध के उस अध्याय में स्पष्ट किया है, जिसमें संकर द्वारा की गयी अन्य दर्शनों की जाँच-बीज का उल्लेख किया है। (२) मोक्ष के रूप में वर्णित अपनी प्रतिज्ञाओं से सम्बन्धित प्रान्ति-विचारण के साथ ही ये विभिन्न भारतीय दर्शन व्यवस्थाएं अपने विरोध, अपारदर्शिता एवं जाणविक पृथक्ता के बोध से युक्त हो जाती हैं। लाइबनिट्स के विषय विन्दुओं की भांति ये विभिन्न भारतीय दर्शन व्यवस्थाएं गवादाहीन एवं बन्द हैं, किन्तु यह तो केवल उनकी प्रत्यक्ष बाह्य स्थिति है। इस पक्ष विशेष से संकर का अद्वैत दर्शन भी एक बन्द दर्शन है और किसी भी अन्य भारतीय दर्शन की भांति इसी भी एक गवादाहीन बिन्दुविन्दु के रूप में प्रतीत होना चाहिए। परन्तु यहाँ हम यह उपलक्षित करना चाहते हैं कि ये विभिन्न दर्शन अपनी प्रतीति में जाणविक पृथक्ता से युक्त होते हुए भी एक पूर्वस्थापित सामंजस्य से युक्त हैं। लाइबनिट्स के बिन्दुविन्दुओं से भारतीय दर्शन के इस सादृश्यानुमान को और अधिक विकसित करके हम इस बात का उचित रूप से समर्थन कर सकते हैं कि उनके बिन्दुविन्दुवाच में उपलब्ध परम बिन्दुविन्दु की भांति संकर के अद्वैत दर्शन की भी एक परम बिन्दुविन्दु के रूप में गृहण करके हम यह कह सकते हैं कि अद्वैत दर्शन ही वह परम बिन्दुविन्दु है जो अन्य अन्य बिन्दुविन्दुओं की भांति प्रतीत होने वाले विभिन्न भारतीय दर्शनों में पूर्वस्थापित सामंजस्य स्थापित कर सकता है। लाइबनिट्स ने आचार के तात्वात्म्य सिद्धान्त पर ही बिन्दुविन्दुओं की अनेकता को प्रदर्शित किया है। इसके अनुसार कोई भी दो बिन्दुविन्दु समान नहीं हो सकते हैं, समान होने पर वे एक ही होंगे। परन्तु यह सिद्धान्त इन दो परिणामों से युक्त है--(१) बिन्दुविन्दु अनेक है, असंख्य है और प्रत्येक बिन्दुविन्दु अपने आप में बन्द है और उसकी कोष्ठता उसके सीमित व सामान्य स्वरूप की जातक है, उसकी यह सीमा उसके क्रियात्मक,

१. यह लाइबनिट्स के दर्शन के प्रिन्सिपल ऑफ़ आइडियैन्टिटी ऑफ़ डिस्नैक्स का हिन्दी रूपान्तर है।

२. लाइबनिट्स, बिन्दुविन्दु विज्ञान (हिन्दी रूपान्तर, हिन्दी सभिति, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, १९६७) पृ० १३८

भावात्मक तथा ज्ञानात्मक समर्थता की है । (२) सीमित विद् विन्मुक्तों की अनेकता तथा उनकी अपनी अपूर्णता केवल तभी अर्थगुह्य छाँसी है जबकि हम इस पूर्वमान्यता को स्वीकार करें कि उन विद् विन्मुक्तों में प्रत्येक विद् विन्मु अपने क्रियात्मक व ज्ञानात्मक पदार्थों में सीमित होते हुए भी अनन्त विद्विन्मु की स्वसोपितता पात्र है । लाइबनिट्स के तत्त्वदर्शन का चिदणुगुह्य छाँसा एक असीमित विद्विन्मु के जगत् में डल जाता है । यह असीमित एवं अनन्त विद्-विन्मु स्व-सीमा को शक्ति से युक्त है । कार्य की दृष्टि से स्व-सीमा के सिद्धांत का जो पदार्थों में पैदा हो सकता है :-- (१) अस्तित्व के पक्ष में और (२) ज्ञान के पक्ष में । स्व-सीमा का यह सिद्धान्त एक जगत्वात्मक तत्त्व है । जिस प्रकार सूर्य स्वयं अपनी पूंछ को नहीं निगल सकता है, जिस प्रकार नट स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता है, अग्नि स्वयं को नहीं जला सकती है, उसी प्रकार यह जगत्वात्मक तत्त्व जगत् स्व-सीमा की शक्ति परम विद्विन्मु को प्रभावित नहीं कर सकती है । निर्मल के आकाश की भांति परम विद्विन्मु किसी भी सीमा या बाधकात्मक से ग्रसित नहीं होता, किन्तु निर्गमित पदार्थों की भांति सीमित विद्विन्मु एक यथार्थ सीमा से ग्रस्त होते हैं । किन्तु विभिन्न रूपों में प्रतीत होने वाली इन सीमाओं के परीक्षा में तत्त्व क्या है ? यह तत्त्व आत्मा या चेतना है और उस आत्मा की सम्पूर्ण विश्व-अभिव्यक्तियों ही विद्विन्मु कहलाती हैं । आत्मा में वे सब एक हैं । उनके बीच एक पूर्वस्थापित सामंजस्य है, क्योंकि वे विभिन्न आकारों में मूर्तिमान समान आत्म-चेतन हैं ।

उपरोक्त सामानुमान हमारे इस शोध-प्रबन्ध में प्रस्तावित दृष्टिकोण को मज़ीभांति स्पष्ट करता है । इसके प्रकाश में हम शंकर द्वारा प्रयुक्त द्वन्द्वन्याय का यथार्थ मूल्यांकन प्रस्तुत कर सकते हैं । अतः तत्त्व जो आत्मा, अथवा इन विभिन्न नामों से प्रख्यात है, वह सकल नानात्व के शून्य, स्थिति एवं व्य का आधार है । आत्मा या अक्षर के रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार से मनोनीत अतः ही भारतीय पार्श्विक विचार का अधिष्ठान है । जबकि हम भारतीय भिन्नता में नानात्व को अस्वीकार नहीं करते तथा उसका प्रतिपाद भी नहीं करते, किन्तु फिर भी हमने प्रस्तुत निबन्ध में यह दिखाने का एक सामान्य प्रयत्न किया है कि शंकर द्वारा प्रयुक्त द्वन्द्वन्याय का एकमात्र अपिप्राय हमारे समक्ष उस उद्घाम की चेतना

या अधिष्ठान की 'संरचना' को प्रदर्शित करना है किसी क्रम या मोक्ष का नाम दिया गया है । इस तत्त्व को शास्त्र-सम्मत तथा शास्त्र-व्यस्यत दोनों ही भारतीय दर्शन किसी-न-किसी प्रकार स्वीकार करते हैं । जड़त तथा जड़त-इतर भारतीय दर्शनों में एक यथार्थ विरोध नहीं है । एक जड़त-इतर दर्शन जड़त दर्शन की फलक्रिया मात्र है । केवल ऐसी दृष्टिकोण से हमने अपने निबन्ध के उत्तरवर्ती अध्यायों में दण्डन्याय की समस्या पर विचार करने का प्रयत्न किया है । अतः न तो हम जड़त वेदान्त से इतर विभिन्न प्राच्य व पाश्चात्य दर्शनों का प्रत्याख्या करते हैं और न तो हम एक जन्मानुगामी की भाँति इसके जीव, जात व कृ-सम्बन्धी कर्मों का समर्थन ही करते हैं यद्यपि केवल ऐसी तथ्य का निर्देश करना चाहते हैं कि जड़त के दर्शन में लक्षित परमार्थ हो, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है और जो तब ही होते हुए भी अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता से युक्त है, भारतीय दर्शन के विस्तार का अभिप्रेरक एवं मार्ग-प्रदर्शक बन सकता है । ऐसा कहना इस अर्थ में उपयुक्त है कि सभी भारतीय दर्शन एक आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर गतिशील हैं । इस लक्ष्य की प्राप्ति ही बन्धनमुक्त जीव की मुक्तान्ति प्रदान कर सकती है । जड़तवादी दण्डन्याय-जैसी यह अमोघ वस्त्र नहीं है जिसका प्रयोग हम कुल्लता से विरोधी पार्श्वनिक दृष्टिकोणों का खण्डन करने के लिए कर सकें । प्रतिपक्षी के खण्डन में ये सारगर्भित प्रश्न विद्यमान हैं कि यह प्रतिद्वन्द्वी कौन है, यह हमसे किस प्रकार इतर है और हम उसे इतर क्यों मानें ? यदि मैं 'भ्रान्त हूँ तो तू भ्रान्त की ओर कर मेरा इतर और कौन हो सकता है ? अविद्या से आध्यात्मिक अपना प्रतिपक्षी मुझसे बड़ा कौन है, इस अविद्या का तिरापीन ही विवक्षित लक्ष्य है । इस तिराभाव में ही मेव दृष्टि का लय होना पाया जाता है । इस अविद्या का छटना ही जीव का क्रम से साक्षात्कार ही जाना है, अर्थात् अपने अमेव स्वरूप को जान लेना है ।

‘अयम् आत्मा ब्रह्म’ तथा ‘तत्त्वमसि’ इन दो द्युतिवाक्यों का अर्थ समान है । दर्शन की किसी भी परम्परा में ‘अहम्’ और ‘त्वम्’ का द्वैत अज्ञानरथ है ।

ज्ञान में सब एक है, परन्तु ज्ञान क्या है ? यह एक बोध है । यह आत्म-बोध है, और तत्प्राप्ति के लिए विधियाँ हैं स्वयं अपने निष्कर्ष का भी प्रकाशक है । ज्ञान का जो कुछ भी रूप हो, यह निश्चित ही है कि यन्त्रि ज्ञान का रहस्य सुल जाने के बाद ज्ञान का रास्ता सीधा है । ज्ञान के तिमिर का तिराधान एवं ज्ञान का उदय एक ही वेतना के दो पक्ष हैं । ज्ञान के तिराधान की संभावना इसी में निहित है कि ज्ञान का आशय भी ज्ञान में ही है । यह ज्ञान एक ही सत्य का गीतक है जिसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है । इन अभिव्यक्तियों की कनेक्ता भी एक ही सत्य से प्रकाशित होती है, वह सत्य स्वयं प्रकाश एवं स्वयं ज्योति है । हमारी विवेचना का विषय अर्थात् शांकर-वेदान्त में ब्रह्मन्याय का अभिप्राय अन्य दर्शनों का लण्डन करके उन्हीं निर्वचनता को प्राप्त करा देना नहीं है । इसका प्रयोजन तो एक ही है, अर्थात् अवस्था विचार शैली को उसके व्यापारों का प्रदर्शन कराके उसे पुनः स्वस्थ बना देना है । अवस्था एवं विकृत विचार शैली को संयत एवं पुष्ट बनाने का उर्ध्व उरको बौद्धिक अन्तर्दृष्टि में परिणित करना है । यह बौद्धिक अन्तर्दृष्टि न तो कान्ट के दर्शन का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है और न तो प्रयोजनवाधियों की अर्थक्रियापरक अन्तर्दृष्टि ही है, न तो संकल्पवाधियों का निम्न-विकल्पात्मक प्रत्यक्ष ही है । यह अज्ञेय दर्शन की अपरोक्षानुभूति है । शंकर के दर्शन को परम वेद बुद्धि की भर्त्सना करने में निहित नहीं है बल्कि बुद्धि को एक ऐसी क्षमता प्रदान करने में है जो इन्द्रियों के उभाव में अपरोक्ष ज्ञान की कुशला से युक्त है और जो बुद्धि-विकल्पा का अतिक्रमण करके हुए वस्तुतन्त्र सत्ता को निर्मान्त्र होकर जानती है । इसकी तुलना में कान्ट की अपरालता केवल उनके उस दुराग्रह में निहित है जिसके कारण वह बुद्धि को अन्तर्दृष्टि की क्षमता प्रदान करने के लिए तैयार नहीं है । इसीलिए उनके ब्रह्मन्याय में ईश्वर और मनुष्य के बीच एक गति विभाजक-रेखा खींच दी है । इस विभाजक-रेखा के फलस्वरूप ही ईश्वर बौद्धिक अन्तर्दृष्टि से युक्त है, जबकि

१. वृक्षवारण्यक उपनिषद् २-३-६ 'अवायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः ।'

२. चाट्सन, वि. फ़िलासफ़ी ऑफ कान्ट (एक्सट्रैक्ट्स) पृ० ३८

मनुष्य में इस प्रकार की क्षमता का सर्वथा अभाव है। इसी कारण कान्ट के दर्शन में ज्ञान का परिधीयन होना विश्वास की अपेक्षा का अंतर्गत है। शंकर के दर्शन में आत्मा एवं परमात्मा परमार्थतः वही नहीं हैं। अद्वैत ही परमार्थ है। अद्वैत में न कोई विभाजन है और न हरम किंवा भेद के लिए ही स्थान है। द्वैत तो व्यवहार की स्थिति में ही मान्य है। परमार्थ में द्वैत का लय ही विषयगत है। द्वैत का आभास बुद्धि की विकृत क्रियाशीलता का निम्न है। इस विकृत स्थिति की परिशुद्धि में द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं है जैसा कि 'दि हेरिटेज ऑफ़ शंकर' में श्री एस०एस० राय ने लक्षित किया है। सम्भाव्यता की स्थिति के अनुसार ज्ञान के एक प्रकार के रूप में तत्त्व-विमर्शा के प्रति कान्ट की विमुक्तता इस बात का अंतर्गत है कि एक संश्लेषणात्मक प्रागनुभव केवल वैकल्पिक है और परिलक्षित संवेदनाओं तक ही सीमित है। संश्लेषणात्मक प्रागनुभव एक प्रतीकात्मक आयास ही भी युक्त है, यह आयास अतिकाशीन एवं अतिदेशीय है और यह आत्मा या चेतना का आयास है। इसका क्षेत्र विषय-विषयी के द्वैत पर व्यावहारिक रूप से समर्थित वस्तु-सत्ता के क्षेत्र से परे है।

इस प्रकार जो कुछ भी हमने व्यक्त किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि इस अनुशीलन में हमारा लक्ष्य बुद्धियों के माध्यम से कान्ट तथा शंकर के दो आध्यात्मिक दर्शनों को प्रस्तुत करना है। एक दूसरे के विपरीत इन दर्शनों पर सन्तुष्ट प्रकट न करते हुए हमारा प्रस्ताव केवल यह है कि ये दो दर्शन, दो आध्यात्मिक-सांस्कृतिक चेतनाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं। हममें से प्रत्येक अपनी पूर्वमान्यता पर आधारित है तथा अपनी पूर्वमान्यता को एक निर्विवाद अप्रतिहत प्रतिज्ञा के रूप में ग्रहण करता है। कान्ट की दार्शनिक चेतना 'क्षोभापरिधत' है जबकि शंकर की दार्शनिक चेतना 'अनन्ताभ्युत्थी'^४ है।

१. श्री एस०एस० राय, 'दि हेरिटेज ऑफ़ शंकर', पृ० १७६

२. वही, पृ० १८०-१८१

३. वही, पृ० १७७

४. इस सम्बन्ध में हमें श्री एस०एस० राय की 'दि हेरिटेज ऑफ़ शंकर' में

इस शोध-निबन्ध के प्रारम्भिक अध्याय में हमें इस बात की अपेक्षा करना स्वाभाविक है कि हम कान्ट और शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय के कार्य को प्रस्तुत करने से पूर्व पाठकों को इस तथ्य से अवगत करावें कि द्वन्द्वन्याय क्या है, पूर्व तथा पश्चात्त्य दर्शनों में यह किस प्रकार विकसित हुआ है।

निम्नलिखित प्रकार का उल्लेख मिलता है, जिसे हम बिना हिन्दी में त्पान्तर किये इसलिए उद्धृत करते हैं जिससे भाषान्तर के कारण स्व परिचर्चित न हो पावे :--

"...Kant's agnostic pronouncement, in respect of the knowledge of the unconditioned, was more in consonance with his philosophical heritage than his claim that the unconditioned is realisable in moral practice. Given moral practice is a matter concerning the conditioned aspect of existence. If a claim is made on behalf of Kant that in moral life one is on way to the realization of the unconditioned, such a claim cannot be substantiated. The clinging on to the definite, the determinate and the coherent, is so great in Kant's metaphysic of existence, that any claim purporting to an actualization of the unconditioned, either at the level of knowledge, or at the level of moral practice, must remain a pseudo-claim only, for the simple reason that Kant's thinking, having in its make-up, the entire cultural heritage of the limit-riddled thinking of the West, makes it impossible for him to turn towards the indefinite and the limitless as the land of heart's desire. The indefinite is axiologically inferior to the definite in a cultural consciousness of this nature. How and why, then, does he at all talk of the unconditioned? Not because the unconditioned is, in any vital sense, the goal of either knowledge or moral practice, but because the unconditioned helps better to systematize knowledge and moral life. Metaphysic in Kant remains at best only a means to an end. Such an end, in the aspect of cognition, consists in the attainment of a consciousness that extends our knowledge, without losing the character of necessity. In the aspect of morality, it is the attainment of virtue wedded to happiness. And if this is so, the Kantian criticism of metaphysics stands more than well-explained. A reformulation of the Kantian critique of metaphysics would, therefore, need a reformulation of the entire motive for philosophizing. So long as philosophical thinking persists in what we have described as the objective attitude, there will be an irrepressible or even a logically

पाश्चात्य चिन्तन में इसका प्रारम्भ ग्रीक दर्शन से होता है तथा कान्ट, हीगल और ब्रैडले के दर्शनों में यह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है। भारतीय दर्शन में ब्रह्मन्याय का प्रयोग केवल स्क्र के ब्रह्म दर्शन, शंकराचार्य दर्शनों एवं ब्रह्म-सिद्धि, बौद्ध, जैन, मीमांसा, न्याय तथा नव्य-न्याय व अन्य क्षेत्र दर्शनों में भी किया गया है अनुयायी दर्शनों में ही नहीं किया गया है। अपना विनम्र निवेदन यह है कि हमने ब्रह्मन्याय का एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। यहाँ इसका विस्तृत विवेचन एक निरर्थक प्रयास होगा। अतः इस परिक्रियात्मक विवेचन में हमने निम्न-लिखित समस्याओं का विवरण प्रस्तुत किया है।

inevitable tendency towards the cherishing and adoring of the definite and the limited, So long, indeed, metaphysics will only have a status, ancillary to science. Only in a consciousness, that has transcended the objective attitude, does metaphysics come to its own. In the Advaita, however, we come across an initial turning away from the limited and the determined. The preferential attitude, in which Advaitism is conceived, is disinclined towards an adoring of the limited and the relational. No amount of systematization of the content of relational awareness, either in the cognitive or the conative situation, can reconstruct the fulness of the atmanic

पाठकों के समक्ष अपने प्रांग विषय के एक पारम्परिक स्वरूप को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से हम निम्न अनुच्छेदों पर ध्यान देने का प्रयत्न करेंगे --

(१) यह स्पष्ट करना कि ब्रह्मन्याय का कैन्द्रीभूत प्रयोजन क्या है तथा विभिन्न प्रकार के ब्रह्मन्याय अपने धर्म प्रयोजन को किस प्रकार पूरा करते हैं ?

(२) ब्रह्मन्याय को एक जापशास्त्रिक या प्रातिमानिक स्थिति में क्या करना चाहिए, अर्थात् इस स्थिति में इससे क्या अपेक्षित है ?

experience. How can the limited and the determined be made to look like the limitless and the infinite? And even if it is made to look like it, we should not forget that the mere factor 'looking like it' is not enough. In it is not yet that which, in its unlimited visage, absorbs and cancels all limits. It makes unerring sense to say that the limited implies the limitless as its basis, but it is puzzling indeed to think how the limitless could ever lapse into limit. Such a puzzlement is the ground of the metaphysical attitude, and in a really metaphysical attitude, there is no place for ever entertaining the notion of the senselessness of the metaphysical truth."

इन्द्रम्याय का केंद्रीभूत महत्त्व :

द्वन्द्वन्याय जिसे अपने पारवात्य शब्द 'डालीक्टिक' के पर्याय के रूप में स्वीकार किया है अपनी शब्द-व्युत्पत्ति के अनुसार 'संवाद' का सूचक है। यह संवाद किसी से भी हो सकता है। संवादकर्ता से गिन्य किसी अन्य व्यक्ति से भी संवाद हो सकता है अथवा स्वयंहीं से युक्त होने के कारण संवादकर्ता अपने से भी संवाद कर सकता है। हो सकता है कि वह वाधा एवं कठिनाइयों से युक्त होकर स्वयं अपने दृष्टिकोणों को स्वीकार न कर पा रहा हो, फलस्वरूप अपने आपको ही बाधो, प्रतिवादी बना बैठा हो। इसी यह अनुमित होता है कि द्वन्द्वन्याय एक 'संवाद' या 'व्यापकत्व' है किन्तु एक या अनेक विरोधपूर्ण स्थितियों की आलोचनात्मक परीक्षा की जाती है। इस संवाद-सम्बन्धी आलोचनात्मक परीक्षा का प्रसृत लक्ष्य एक विशिष्ट स्थिति में निहित विरोधों का निरूपण है। परन्तु यह अभिवार्य रूप से सत्य नहीं है कि द्वन्द्वन्याय एक विशिष्ट स्थिति का परीक्षण उसके विरोधों को अभिव्यक्त करने के लिए ही करता है। एक संवाद के रूप में विमर्शित द्वन्द्वन्याय समान आधार पर संवाद के लिए दो पक्षों द्वारा प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु यह समस्त सिद्धान्तों को समग्र विचार रचनाओं तथा इस प्रकार की सम्पूर्ण स्थितियों की केवल आलोचना नहीं हो सकता है। सम्पूर्ण द्वन्द्वन्यायात्मक दर्शनों में यह तथ्य सामान्य है कि वे सब के सब अपने लक्ष्य में 'आलोचक' होते हैं। आलोचना के लिए एक प्रतिवादी अपेक्षित है। ऐसा भा संभव हो सकता है कि प्रतिवादी इस लण्डन की कुवृद्ध पद्धति में समान रूप से पक्ष न हो, और इसलिए वह अपने विरोधी द्वारा प्रदर्शित आलोचना की बाधोना भी स्वीकार कर ले। परन्तु संवाद में यदि वह भी समान आधार पर भाग लेने वाला हो, तो वह भी अपने प्रतिस्पर्धी को अपने तर्कों द्वारा मात करने का प्रयत्न करेगा। विचार के अन्तर्गत दोनों का एक पूर्ण साक्षात्कार किसी भी व्यक्ति का ध्यान इस ओर आकषित कर सकता है कि वह विचार-रचनाओं व कृतियों के रूप में प्राप्त सम्पूर्ण सिद्धान्तों पर संशय करने लगे और इस प्रकार द्वन्द्वन्याय आलोचना के लिए आलोचना के रूप में अयोग्य बन सकता है। इसी सिद्ध होता है कि द्वन्द्वन्याय अचालित हो उद्देश्यों में से किसी एक उद्देश्य से युक्त हो सकता है :-

विषय की ओर बढ़ता है तथा दूरतः पराज्य की ओर । यह विषय-पराज्य वाक्-वाच्य पर अधिक निर्भर है । जिस कुतूहल से शारदाजी हो रहा है, वही पर यह संवाद-जैसी आधारित है । किन्तु संवाद के इस प्रकार के शारदाजी में ज्य-पराज्य के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि इसमें भी मूलतः पूर्वमान्यताएं जरूर रखी जाती हैं । बुद्धिवाद ने अनुभववाद को जालीबना की तथा अनुभववाद ने बुद्धिवाद को । इस प्रकार सब की रूढ़ि केवल अपनी-अपनी विन्तन-परम्परा को पुनः-पुनः विरस्थापी बनाये रखता था । एक दर्शन-व्यवस्था दूसरी दर्शन-व्यवस्था के विरुद्ध स्थापित होती है, या यदि कहिए कि एक दर्शन-परम्परा का प्रतिपादन दूसरी परम्परा के विरुद्ध होता है । समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक जोर्ज मूर द्वारा की गयी 'विज्ञानवाद' की समीक्षा भा यथार्थवाद के नाम की विषय पताका ही तो है ।

(स) ऐसा भी संभव हो सकता है कि एक तार्किक अपने प्रतिवादी पर विषय प्राप्त करके तथा उसे मिटाकर कर देने के पश्चात् अपना कोई मण्डन पक्ष न रखता हो । इस प्रकार के तार्किक का लक्ष्य केवल सम्पूर्ण विचार दृष्टियाँ या सम्पूर्ण विन्तन व्यवस्थाओं को एक जालीबनात्मक परीक्षा करना हो सकता है । परन्तु ऐसा क्यों है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि विचार की समस्त कौटियाँ सामान्यतः ही संशयग्रस्त एवं अज्ञात हैं, फलतः द्रष्टात्मक न्याय सभी दृष्टियों की जालीबना में परिवर्तित होकर उन पूर्वमान्यताओं का परीक्षण बन जाता है जो इन दृष्टियों का पोषण करती हैं । इसी प्रकार की जालीबना की माध्यमिक दार्शनिक 'मृतपुत्रवैज्ञानिक' के नाम से प्रख्यात करते हैं । मृतपुत्रवैज्ञानिक का गन्तव्य तर्क द्वारा सभी दृष्टियों की शून्यता को प्रदर्शित करने में है । इस प्रकार का द्रष्टात्मक तर्क पाश्चात्य दर्शन में एकसदृश एम्पिरिकल और कान्ट के दर्शन में मिलता है । कान्ट का कथन है कि ज्ञान का सम्बन्ध

१. जोर्ज मूर, 'दि रिप्यूटेशन ऑफ़ जालीबनालिज़्म', माहन्ड १९०३ ।

२. टी० वार० वी० मूर्ति, 'दि सैन्ट्रल फ़िलासफ़ी ऑफ़ बुद्धिज़्म' पृ० २६४

३. वही, पृ० १२६

गौरव प्राप्त हो है अतः ये सब तत्त्व-दर्शन दृष्टिपूर्ण धारणा के शीतक हैं जो तत्त्व-विषय सत्ताओं का ज्ञान प्रदान करने का दावा करते हैं। गौरव ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। तार्किक अनुसंधानियों की तत्त्व-ज्ञान-सम्बन्धी समीक्षा भी सभी तत्त्व-दर्शनों पर कुछ इसी प्रकार से प्रयुक्त होती है। माध्यमिक का द्रष्टव्यता भी सर्वदृष्टिपूर्णता को ही दर्शन का चरम लक्ष्य उपोद्दिष्ट करता है। इन दर्शनों में द्रष्टव्यता किसी भी तार्किक सिद्धान्त की स्थापना करने का अभिप्राय नहीं रखता है क्योंकि तार्किक स्तर पर सभी सिद्धान्त विप्रतिषेधों से ग्रस्त हैं। अतः यद्यपि मान्य होगा कि किसी भी सिद्धान्त के पोषण से हम अपने को बला रक्षित हैं। सभी दृष्टियों की शून्यता को जानना ही प्रज्ञा है। दृष्टि-रिक्त होना ही दार्शनिक वेतना का लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति द्रष्टव्यता द्वारा ही हो सकती है। वैदिक के द्रष्टव्यता में भी यही प्रयोजन मनीषांति अभिव्यक्त होता है। महात्मा बुद्ध को भी इस प्रकार की स्थिति का वर्णन पूर्वज्ञान था :--

‘वज्जानि पक्षी है--’ परन्तु क्या शीतल की अपनी कोई सिद्धान्त दृष्टि है महात्मा बुद्ध की उतर देते हैं-- वे वज्ज । तथागत सम्पूर्ण सिद्धान्त-दृष्टियों से मुक्त हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि द्रष्टव्यता सम्पूर्ण दृष्टियों में अन्तर्निहित स्व-विरोधों को ही परिलक्षित कराना है ।

(ब) कुछ ऐसे द्रष्टव्यता युक्त दर्शन भी हैं जिनका अभिप्राय उत्तम निर्णयात्मक नहीं है जिनका कान्ट, माध्यमिक तथा वैदिक के दर्शनों का । विचार व्याघातपूर्ण हो सकते हैं, किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि विचार में वह क्षमता नहीं है, जिसके द्वारा यह परामर्शः सत्य सिद्धान्तों का निर्माण कर सके । द्रष्टव्यता का उद्देश्य सत् और तत्मास के भेद करने में ही होता है । तत्मास केवल सत् की सीमित परिस्थिति है, इसी को दिखाने में द्रष्टव्यता का मुख्य अभिप्राय केन्द्रित है । अप्रतिबद्ध, जो परामर्शः सत् है, उन सीमाओं की

१. टी. ०. १०वीं ० मूर्ति, वि. सेन्ट्रल फ़िलासफ़ी ऑफ़ इंडियन, पृ०-२६६ १३१-३२

२. वही, पृ० ६४५-६४६ -- १४२

३. जे. ०. १० वीं ० मूर्ति १६६५ में इंडियन फ़िलासॉफ़िकल काँग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में बुद्ध के इन वचनों को मज्झिमनिकाय से प्रस्तुत किया है, आशुत ।

कोटि से परे है। इसी से यह परिलक्षित होता है कि विचार अप्रतिबद्ध को जानने में नितान्त ही असमर्थ है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न पुछा जा सकता है कि विचार अपने स्व-निर्मित सिद्धान्तों में व्याघात किस प्रकार दिला सकता है। जबकि उसे उस परिस्थिति का कोई भी ज्ञान नहीं है ?

दार्शनिक हीगल का द्वन्द्वन्याय सम्बन्धी दृष्टिकोण अपने स्वरूप में अधिक रसोकारात्मक है। हीगल के मतानुसार विचार अपने में निहित विरोधों से अक्षत होता है, किन्तु इसके साथ ही साथ यह आत्म-संशुद्धि की व्यवस्था से भी युक्त होता है। यह विचार प्रक्रिया पक्षा-विपक्षा तथा सम्बन्ध की अपनी त्रिभुजा प्रवृत्तियों द्वारा सम्पूर्ण विरोधों का अतिक्रमण कर जाती है। हीगल का परम तत्त्व आत्मचेतना से स्वरूपित होता है और यह चेतना विचार या प्रज्ञा है। अतः हीगल की दर्शन-व्यवस्था में द्वन्द्वन्याय बालीवना का एक साधन नहीं है बल्कि ज्ञान का ही स्वरूप है। यहाँ स्पष्ट होता है कि हीगल के द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा ब्रैडले के दृष्टिकोण में आंशिक विरोध है। ब्रैडले के अनुसार विचार केवल सत् के स्वरूप का ज्ञान है, वह ज्ञान भी अधिरोध के रूप में सत् की कसौटी का ज्ञान है। ब्रैडले के वर्णन का यह अर्थ पूर्णतया बाह्यिक है तथा हीगलवादी है। किन्तु हीगल तथा ब्रैडले की यह समानता बाह्य है, क्योंकि ब्रैडले ज्ञान के लिए विचार के आत्म-हनन को अपेक्षा की मान्यता देते हैं। इनके अनुसार विचार की क्रिया विषयी-विषय (ज्ञान-ज्ञेय) की आवृत्ति में सम्मिलित होती है अतएव सत् विचार के माध्यम से ज्ञेय होती है। इस प्रकार ब्रैडले

१. फ़ाल्तेनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न फ़िलॉसफ़ी, पृ० ४६०

२. ब्रैडले, ऐफियरेन्स एण्ड रियलिटी पृ० १४३-१४५

३. स्टीज़ जॉन ड्यू एण्ड रियलिटी, पृ० २१३

४. ब्रैडले, स्टीज़ जॉन ड्यू एण्ड रियलिटी, पृ० ११७

५. वही, पृ० ३१७

६. वही, पृ० १५०-१५१

का दर्शन आत्यन्तिक रूप से द्वन्द्वन्यायात्मक छोटी दृष्टि भी विचार के नैराश्य में समाप्त हो जाता है और अपराधिता द्वारा विशेषित निरपेक्ष गान के लिए एक दावा मात्र रह जाता है। ड्रेडले का 'परम सत्त्व' हीगल के परम की भांति एक 'बौद्धिक समष्टि' नहीं है। यह सकेत समष्टि है जो निरपेक्ष तथा 'अपराधिता' है। परन्तु वैचारिक स्तर पर स्वीकृत ड्रेडले का 'परम' वाक्यारिक मात्र है अथवा इसमें सत्तामूलक सामग्री भी धिक्कमान है। यहाँ केवल यह पित्ताना हो पर्याप्त होगा कि सत् एक निरपेक्ष समष्टि है जो विषयी-विषय के तैत से परे है। आलोचक के रूप में ही ड्रेडले दर्शन के प्रति निष्ठा रखते हैं, क्योंकि वे पुस्तक वास्तविक सत्ता के निर्मित चित्र को बाधित बताते हैं। अतः इनके दर्शन में कोई भी 'सत्ता मोमांसा' नहीं रह जाती है, प्रमुख रूप से केवल ज्ञानमोमांसा रह जाती है। यह ज्ञान मोमांसा ही यहाँ द्वन्द्वन्याय है। यह मो अपेक्षाश में निर्णयात्मक है। अतः यह कहा जा सकता है कि धिक्कृत समकालीन पारश्वात्य दर्शन परम्परा में आशावादी वार्षनिक केवल हीगल ही हैं, धिक्के अनुसार विचार जिज्ञासी प्रक्रिया से युक्त है--आलोचनात्मक एवं रचनात्मक। हीगल की द्वन्द्व-न्यायात्मक दर्शन-व्यवस्था के विरुद्ध यही आक्षेप लाया जा सकता है कि-- जब द्वन्द्वन्यात्मक प्रक्रिया के अनुसार विचार की गतिशीलता ही इसका प्राण है तब सम्पूर्ण विरोधों के परम समन्वय में क्यों और किस प्रकार विचार की एक न्यायी स्थिति प्राप्त होती है? यह क्यों नहीं संभव होता कि व्यापकता परम की स्थिति भी विरोधयुक्त हो जाय? कदाचित् इस सन्दर्भ में हीगल का विचार-पक्ष ही उचित प्रतीत होता है। विचार उस दिशा का निर्देश कर लक्ष्यनिर्देश सकता है किन्तु उसके सन्तुष्टि की सामग्री उपलब्ध है। परन्तु उस 'सत्' के घटक विचार-निर्मित नहीं होते हैं जो उसे संस्तुति प्रदान कर सकता है। कल्पन का

१. ड्रेडले, एसेज़ ऑन ट्रूथ एण्ड रियलिटी, पृ० १५०

२. ड्रेडले, एसेज़ ऑन ट्रूथ एण्ड रियलिटी, पृ० ४०५

३. ड्रेडले, एसेज़ ऑन ट्रूथ एण्ड रियलिटी, पृ० ३१७

४. जी० आर० बी० एम्बर, ए रेट्रो ऑफ़ हीगल लॉजिक्स, पृ० ३३२-३३

"the inherent duality of human experience is the rock on which Hegel's system, at all are any part of it pretends to flawless finality, suffers total shipwreck"

अभिप्राय यह है कि विचार को सत्य के आकृति की फलक मात्र ही मिलती है, वह सत्य को वस्तुतः स्थिति में नहीं जान सकता है। आभास केवल आभास है, इसे सत् में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता है। आभास सापेक्ष होने के कारण सीमागुस्त है। इसी सत् में रूपान्तरित करना संभव नहीं है। यह रूपांतरण एक असम्भाव्यता है। सत् पर असत् का तथा असत् का सत् पर अध्यारोपण होता है, इसी व्यापार से सत् के आभास से तादात्म्य भी प्रतीत होता है। माया के द्वारा ही सत् असत् के रूप में असत् सत् के रूप में आभासित होता है। आभास का यथार्थ स्वरूप सत्-असत् से विलक्षण है, इसलिए यह अनिवार्य है। शंकर की दर्शन-व्यवस्था में द्रष्टव्यता का लक्ष्य आभास के इसी स्वरूप को ही दिखाना है। तब सत् क्या है, क्या इसे द्रष्टव्यता कहा सकता है, यदि नहीं तो सत् को कौन बतावेगा? इसका निर्विवाद उत्तर है-- 'दृष्टि'। सत् अमेव है, व्यापार-रहित है क्योंकि भेद तो विरोधी से परिपूर्ण है। परन्तु यह अमेव सत् क्या है, कहाँ है, और कौन है? द्रष्टव्यता इन प्रश्नों को हमारी चेतना में उत्पन्न गहराई तक पहुँचा देता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन प्रश्नों के उत्तर अप्रतिबद्ध के क्षेत्र में अवस्थित होते हैं और अप्रतिबद्ध तर्क का विषय नहीं है, यह अनुमति एवं संरक्षण का विषय है। यह उस अपरीक्षा ज्ञान का विषय है जो अपरिच्छेद्य दृष्टिवाक्यों के अर्थ के साथ सहवस्तुत होता है। उसी की मननात्मक अवतारणा दुर्लभ में निर्वर्णित है।

४

तर्क तो केवल एक विचार-शैली है, और यह विचार शैली कोई प्रकार की हो सकती है। भारतीय ज्ञान में क्या के प्रकारों के रूप में इसका विवेचन

१. इस दृष्टिकोण के अनुसार कि सत् सीमायुक्त है तथा सम्पूर्ण आभास सीमागुस्त है, न तो शीघ्र का द्रष्टव्यता ही आभास को सत् में रूपान्तरित कर सकता है और न तो शीघ्र के अनुसार आभासों का सम्पूर्ण एवं पुनर्गठन ही आभास को सत् में रूपान्तरित कर सकता है।--हर्मिस्टर्स एण्ड रियलिटी, ब्रुसेल्स पृ० ३२५

२. वही, पृ० ३२३

३. वेदान्तसूत्र, जार्ज थीयू, बाल्युम (पृ० ६-६)

४. देखिए, जे० एन० फिलिप्स का ऑफ फिलिप्स इन दी प्रोसीडिंग्स ऑफ़ ब्राल इंडिया फिलिप्स सीमर, मार्च, १९६५, इसमें वे द्रष्टव्यता को तर्कशैली के रूप में परिभाषित करते हैं और इनके अनुसार कोई एक तर्कशैली नहीं है बल्कि अनेक तर्कशैलियाँ हैं।

मिलता है। जैसा कि ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है, कथा के मुख्य रूप वाद, ठ जल्प एवं वितण्डा हैं। हम किन्तु प्रकार की कथा का महत्त्व देते यह हमारी व्यक्तिगत रुचि एवं संस्कारों से निर्धारित होता है। कथा-चयन को सैतान्तिक प्रवृत्ति मानी जा सकती है। किन्तु इसका मानीत 'मैं' उसके अविषय का प्रमाण नहीं है। केवल इतने से ही वह तर्कहीन युक्तियुक्त एवं विश्वासोत्पादक नहीं हो सकती है। अतः इस प्रकार की कोई भी तर्कहीन अवांछनीय एवं त्याज्य है जो चिन्तासूत्रों को वास्तव करने के स्थान पर उन्हें सन्देहयुक्त बना देती है।

इस विषय में अपना विचार व्यक्त करते हुए हम कह सकते हैं कि भारतीय न्यायशास्त्र में विभिन्न कथा के प्रकारों में 'वाद' ही सर्वश्रेष्ठ है। वितण्डा एवं जल्प तर्क की किसी न किसी अर्थ में साध्य मान लेने का दुरागुण करते हैं। ये दोनों ही तर्क के भ्रान्त स्वरूप हैं। भ्रान्त इसलिए है कि वितण्डा व जल्प दोनों ही तर्क शैलियों में तर्क करने वाला वास्तविक सर्वथा ही इस भ्रम से ग्रस्त होता है कि केवल उसका तर्क ही सत्योत्पादन की क्षमता से युक्त युक्त है। किन्तु उनका यह सोचना अर्थहीन है। अन्तिम विश्लेषण में तार्किक ब्रह्मन्याय का एक ही सिद्ध साध्य हो सकता है, अन्य सब साध्य असिद्ध हैं। यह सिद्ध साध्य केवल अधिपा को बुर करने में ही उचित हो सकता है, क्योंकि एक अधिपाग्रस्त तार्किक ही यह राय रखता है कि केवल उसी का तर्क अपने में साध्य है और वह अपने ही तर्क द्वारा सत्य का सृजन कर सकता है। यह स्पष्ट है कि तर्क में सत्योत्पत्ति की क्षमता नहीं है, अतः ब्रह्मन्याय अपने सर्वोत्तम व सर्वग्राही स्वरूप में सत्य का उत्पादक नहीं हो सकता है। सत्य तो सभी विन्तनों का प्रधानविन्दु है और अन्तव्य भी है। जो त्रिकालाबाधित नहीं है, वह ऐतिहासिक स

१. देखिए, दि क्लरल डेरिटेज ऑफ़ इण्डिया, वाल्यूम-३, अध्याय : दि गार्ट ऑफ़-फ़िलॉसॉफ़िकल डिस्प्युटेशन, पृ० ५६२-५६५

२. किसी का स्वीकृत ब्रह्मन्याय उसकी अपनी अतितात्किक प्रतिभा पर बाधित होता है

३. देखिए, जे०एन० बब्ब, अध्यात्मिक भाषण, इण्डियन फ़िलॉसॉफ़िकल कांग्रेस, १९६६, जिसमें निम्नलिखित कथन हमारी धारणा को पुष्ट करता है :- All thinking in philosophy at the constructive level is the slow and persistent maturation of a basic criterion-concept which is alogical.

है, इसी का दूसरा नाम मिथ्यात्व है। यदि तर्क सत्य का सृजन कर सकता है तो इससे यही सिद्ध होगा कि ऐसी सृजनात्मक तर्कक्रिया के पूर्व सत्य का अभाव था। किन्तु, जिसका अभाव था उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती है। अतः सत्य की अनादि, अनन्त, अतिदेशिक व अतिकालिक मान कर ही चलना होगा। सत्य तर्क से सीमित नहीं है। तर्क तो केवल इसी अनादि अनन्त सत्य का एक तार्किक ढाँचे में ही देखने की क्रिया का नाम है। किसी भी तर्क की प्रामाणिकता को यह अनन्त सत्य ही सत्यापित करता है। सभी प्रमाणों का प्रमाण यह अनन्त सत्य ही है। सभी तर्कों का रूप प्रतिबद्धता का यौक्तिक है अतः यही तर्क सत्य के रूप की बाह्यिक माध्यम में फलक्रिया हो वे सकता है जो अपनी सीमागुस्तता के विन्तन का यौक्तिक हो। पार्श्ववाच्य दार्शनिक एफ०एच० ब्रैडले ने अपनी पुरतक 'आभास और सत्' में एक बड़े मार्मिक तथ्य का निर्देश किया है। वह कहते हैं कि विचार अपनी अपूर्णता को जानने में उस अनन्त सत् की वाहट पाता है जिसमें उसके सभी संशयो का लय और साथ ही साथ उसका भी लय संकेतित है। ब्रैडले के उस कथन का भी यही अर्थ है जिसमें वह सत् की ज्ञानोपलब्धि में विचार के वात्सवात् को बाह्यीय बताते हैं। इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि हम तर्क के उस वास्तविक स्वरूप को जानें व समझें जो आभासों के विन्तन से परे है अर्थात् जो न आभासगुस्त है और न आभासों की सृष्टि करता है। तर्क का मन्तव्य किसी भी वांछा का परिवर्तन करना नहीं है, उसका प्रयोजन केवल प्रान्ति का निराकरण करना है।

१. इस कथन का अर्थ यह है कि तर्क द्वारा सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती है। तर्क की प्रामाणिकता अपरोक्षानुभूति या प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध होती है। अतः विन्तन में एक अतितात्किक दृष्टि का स्पष्टीकरण ही तर्क है। देखिए, श्री अरविन्द, 'लाइफ़ डिवाइन, पृ० ४४०-४४१

२. एफ०एच० ब्रैडले, आभास और सत्, पृ० १४६ : अनुबाबक, डा० फतहसिंह

किन्तु यह तभी संभव हो सकता जब बुद्धि अपने विकल्पों की सीमागुरुतता को समझ ले ।

इस उपर्याप्त भूमिका के जन्म में हमारे लिए यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि हम एक अति संक्षिप्त रूप में अपने तुलनात्मक अध्ययन का प्रयोजन स्पष्ट कर दें । यह तुलनात्मक अध्ययन कान्ट एवं ऊंकर की द्वन्द्वात्मक तर्क शैलियों का अध्ययन है । वैसे तो इस अध्ययन का प्रयोजन प्रत्येक परिच्छेद में न्यूनाधिक रूप से समापन्न है, परन्तु यहाँ हमें इन्हीं दो तथ्यों पर प्रकाश डालना है--

(१) ऊंकर और कान्ट की दार्शनिक तर्कशैलियों के मूल आधार को भिन्न आध्यात्मिक सांस्कृतिक मूल्यों में है । इसलिए उनकी तर्कशैलियाँ दो भिन्न विशाखाँ में विकसित होती हैं । कान्ट अपनी दार्शनिक मीमांसा का प्रारम्भ ज्ञान के विश्लेषण से करते हैं । ज्ञान को वे सदैव ही 'गौवर की वेतना' के अर्थ में लेते हैं । इसका अर्थ यह है कि उनके अनुसार विषय-विषयी ज्ञेय ही ज्ञान का अंतिम साँचा है । जो इस साँचे में नहीं समाता वह ज्ञान के बाहर है । ज्ञान की कमी किसी ऐसी क्रिया या अनुभव में ही पूरी हो सकती है जो ज्ञान से भिन्न है । ज्ञान की इसी कमी की पूर्ति के लिए बुद्धि-बुद्धि-मीमांसा के बाव कान्ट को व्यावहारिक बुद्धि व मिथ्य बुद्धि की अपेक्षा होती है । इसके विपरीत ऊंकर अपने दर्शन का प्रारम्भ ज्ञान की किसी एक प्रागनुभवी परिभाषा से युक्त होकर नहीं करते हैं । उनके दर्शन का प्रारम्भ ज्ञान के विश्लेषण से नहीं होता, वरन् वह अपनी दार्शनिक मीमांसा को अध्यास के विवेचन से प्रारम्भ करते हैं । यह अध्यास विवेचन ही ज्ञान-विज्ञासा को एक ऐसी विशा प्रदान करता है जिसमें अनेकानेक श्रुतियों के विरोधों का सामास समाप्त हो जाता है । विषय-विषयी ज्ञेय को स्वीकार करके कान्ट अप्रतिबद्ध के साम्यत्व में ज्ञान के नैराश्य से ग्रस्त हो पाते हैं । केवल अप्रतिबद्ध में ही प्रतिबद्ध वेतना के नैराश्य एवं निष्कल प्रत्यक्षों को शांति मिल सकती है । बूँकि कान्ट ने विषय-विषयी ज्ञेय को ज्ञान के अन्तिम आकार के रूप में स्वीकार कर लिया है, इसलिए वह गौवर के व्यूह से बाहर निकलने के मार्ग का संकेत केवल व्यावहारिक-बुद्धि मीमांसा व मिथ्य-बुद्धि मीमांसा में ही देते हैं । इससे यह स्पष्ट होता है कि कान्ट की दार्शनिक वेतना में ज्ञान एवं अप्रतिबद्ध के बीच ऐसी खाँह हुई है जो ज्ञान द्वारा मारी नहीं

जा सकती है। कान्ट उसे पाटने का मार्ग नैतिक जाग्रण द्वारा निर्मित करते हैं। यदि कान्ट तार्किक हैं तो उनका द्रष्टव्यताय केवल इसी अभिप्राय से प्रेरित है कि वह यह दिखला सकें कि ज्ञान कितना सीमित है और प्रति-गौरव कितना विशाल एवं असीम है कि वह ज्ञान द्वारा ग्राह्य नहीं है? यह सम्भव ही सकता है कि ज्ञान के सम्पूर्ण कथन उनके उस वाध्यात्मिक सांस्कृतिक चेतना में सिद्ध माना जावे जिसमें कान्ट का दर्शन केन्द्रित है। परन्तु यह अन्तिम सत्य नहीं है किन्तु उसकी अभिव्यक्तियाँ अनेक हैं। शंकर की वह तर्कशैली और उनका दार्शनिक विवेकन, जिसका प्रारम्भ अध्यास के रूप में विश्लेषण में होता है, भेद दृष्टि के लण्डन से अभिप्रेरित है। हमने अपने शोध-प्रबन्ध में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि शंकर की तर्कशैली एक ऐसा दार्शनिक चेतना को पुष्ट करती है जिसमें ज्ञान और नैतिकता का विरोध समाप्त हो जाता है^१। यद्यपि भारतीय दर्शनों में भी इस प्रकार का विरोध दृष्टिगत होता है, परन्तु फिर भी हमारी दृष्टि में ये दर्शन शंकर के समीप और कान्ट से दूरस्थ हैं। विविध तार्किक शैलियाँ विविध तात्त्विक धारणाओं में केन्द्रित हैं, और ये तात्त्विक धारणाएँ विभिन्न वाध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक अनुभूतियों में आक्षिप्त हैं।

१, यदि अपूर्णत्व अज्ञान है और पूर्णत्व सर्वज्ञत्व ज्ञान है तो पूर्णत्व की उपलब्धि ज्ञान के परे नहीं है। अज्ञेय वेदान्त के अनुसार अपूर्णत्व अधिषा के कारण है, इसलिए अधिषा का प्रसङ्ग ही पूर्णत्व है। अधिषा की निवृत्ति ही ज्ञान है अतः अज्ञेय दार्शनिक परम्परा में निःशेष और ज्ञान के बीच कोई विरोध नहीं है।

कान्त के दर्शन में द्वन्द्वव्यायः अत बुद्धि पीमांसा

कान्ट के द्बन्धन्याय का अपनी भूमिका में परिवर्तन देने के पश्चात् अब हमारा प्रस्तुत विचारणीय विषय यह है कि अनुपवासीय सत्ताओं के क्षेत्र के ज्ञान की अन्तिम तथा सुनिश्चित स्थापना के लिए तत्त्व-दार्शनिकों द्वारा विकसित व स्वीकृत युक्तियों के पुनः परीक्षण हेतु द्बन्धन्याय का प्रयोग क्या है ? जैसा कि कान्ट का कथन है ये अनुपवासीय सत्तारं केवल 'पूजा के प्रत्यय' नामक एक शीर्षक के अन्तर्गत आती हैं । यदि दार्शनिक कान्ट की 'वर्गीकरण' की योजना के अनुसार विभिन्न प्रत्ययों का वर्गीकरण किया जाय तो हम उन्हें दृग्गमता से इन तीन प्रमुख विभागों के अन्तर्गत रख सकेंगे :-

(१) वानुमविक -- हम कह सकते हैं कि ये पुस्तक वानुम-पुस्तक सामान्यीकरण के रूप में प्राप्त होती है, उदाहरण स्वरूप--श्वेतपत्र, लालपत्र आदि ।

(२) अनुभवातीत प्रत्यय-- इनका उद्गम पूर्ण रूप से अनुभव-निरपेक्ष है और वे स्वयं में हमारे लिए अनुभव को संभव बनाने के हेतु एक अतीन्द्रिय पूर्वमान्यताएं हैं, जैसे--कारणता, इच्छा इत्यादि ।

(३) अवि-अनुपवातीत-- ये न तो अनुभवजन्य सामान्यीकरण रूप है और न तो अनुभव को सम्भव बनाने के लिए अनुपवातीत पूर्वमान्यताएं ही^२ हैं । ये सीम है असीम की और तथा सान्त से वान्त की और विचार की कोटियों के विस्तार ही हैं । कान्त यही विचार करने के लिए प्रवृत्त है कि केवल इतना ही सुखिसंगत है कि 'प्रज्ञा के प्रत्ययों' के विषय में, जैसी कि वे हैं, हमें यही कहना होगा कि विश्वास में ही उनका स्थान है । परन्तु जब हम चिन्तन द्वारा इन्हें सिद्ध करने का प्रयास करते हैं तब हमारा यह लक्ष्य एक ऐसा साहसिक कार्य ही जाता है,

१. इमैनुअल कान्दस क्रिटीक् ग्रोफ़ प्यार रीज़न (अंग्रेज़ी अनुवाद एन०के० रिमथ)
पृ० ४८५

२. बही, पृ० २६६

३. , देविए, लेबिस ह्वाइट बैक, इन्सुलर कान्ट, क्वाटिन् डॉफ़ प्रैक्टिकल रीजन, पृ०१३

जिसे हम हतनी बड़ी पूर्वधारणाओं को अतिकृत रूप से अपनाते हैं जिनका कोई दृढ़ सम्बल नहीं है। कान्ट द्वन्द्वन्याय का प्रयोग केवल यही वशाने के लिए करते हैं कि हमारी प्रज्ञा अप्रतिबद्ध सत्ताओं को व्यावहारिक स्तर पर उपस्थित करने का जो वादा रखती है, वह असत्य है, पूर्ववर्णापूर्ण है। उपरोक्त विवरण के प्रसंग में हम निम्न विषयों पर विचार प्रस्तुत करेंगे :-

(१) अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ केवल विद्वत् प्रज्ञा के दावा की व्याख्या करने के उद्देश्य हेतु कान्ट की युक्तियों को संक्षिप्त तथा प्रत्यक्षतया स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना। ये दावे हैं-- (क) प्रज्ञा का धर्म यथार्थ रूप में विषयी का युक्ति-संगत ज्ञान प्रदान करना करना, अर्थात् चैतन्य की शक्ता का ज्ञान जिसे अनुभव की व्याख्या के लिए स्पष्टतया अनिवार्य तार्किक शक्तों के ही रूप में नहीं जाना गया है वरन् उसे उस तार्किक संज्ञा के रूप में भी सम्पन्न की अवश्यम्भावी प्राम्ति की गयी है जिसे दार्शनिकों ने 'आत्मज्ञ' कहा है।

(ख) धर्म ईश्वर-मीमांसा की पद्धति प्रदान करना, जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार निःसन्देह ही तर्क-संगत विचार-विमर्श में है अथवा चिन्तनात्मक शुद्ध बुद्धि में है। स्वामाधिक ईश्वर-मीमांसा का यह वादा हमारे सम्पूर्ण ईश्वर-विषयक ज्ञान एवं साँज को विचार के माध्यम से निर्मित करने की चेष्टा करता है। कान्ट एक निष्पक्ष तथा कड़े आलोचक हैं, विशेष रूप से ईश्वर के स्वरूप तथा सृष्टि से उनके सम्बन्ध को उपस्थित करने के लिए तर्कना की सामान्य प्रकृति का जो विस्तार है और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तत्त्व-दार्शनिकों

१. सन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ४८५

२. वही, पृ० ४८७

३. वही, पृ० ३७०

४. वही, पृ० ५०६

ने जो विभिन्न युक्तियाँ निष्पादित की हैं उनकी दृष्टिकोण में रहते हुए कान्ट द्वारा की गयी 'युक्तियुक्त ईश्वर प्रमाण' की समीक्षा को सम्पन्न होगा।

(स) अति सामान्य तथा समष्टि के रूप में सृष्टि का एक समग्र ज्ञान प्रदान करना, जो अति प्राचीन काल से कान्ट के समकालीन समय तक में प्राप्त होता है।

(२) अब हमें उन युक्तियों की उस प्रकृति का निकषित एवं निर्विष्ट करना है जिस रूप में ये कान्ट के द्रन्डन्याय को संस्थापित करती हैं और दर्शन के स्वयं के साक्षरपूर्ण कार्य के सम्बन्ध में स्थान ग्रहण करती हैं। इसी सम्बन्ध में हम इस प्रश्न पर भी विचार करें कि क्या द्रन्डन्याय दर्शन शास्त्र में कुछ पोषित सिद्धान्त की स्थापना करने के हेतु एक साधन है अथवा यह प्रज्ञा का स्वयं पर ही एक समीक्षात्मक पुनर्विचार है, जिसमें प्रज्ञा स्वयं से अतीत किसी प्रयोजन को जागे नहीं बढ़ाती अर्थात् यह केवल अपनी सीमाओं के बारे में ज्ञान देने वाले तर्कों को निर्मित करने का कार्य सम्पादित करती है, इसके परे नहीं जाती है। अतः यहाँ एक अति विस्तृत दार्शनिक विवेचन की आवश्यकता है। कान्ट के द्रन्डन्याय का लक्ष्य दर्शन में सभी रचनात्मक प्रयत्नों की पूर्वमान्यता की अलौकिकात्मक परीक्षा ही है। इन विषयों का मनन दार्शनिक युक्तियों की साम्यता तथा प्रामाणिकता से सम्बन्धित विवेचन के मांग की अपेक्षा करता है।

(३) कान्ट के दर्शन में उनके द्रन्डन्याय के उपयोग एवं लक्ष्य के मूल्यांकन का प्रयास करना। यह मूल्यांकन ही पुनः कान्ट के निमोक्त प्रयत्न पर एक सामान्य निरूपण की अपेक्षा करेगा।

(१) युक्तियुक्त मनाविज्ञान

समस्यात्मक विवेचन के माध्यम से

युक्तियुक्त मनाविज्ञान के दावे की एक तार्किक परीक्षा :

यहाँ हमें यह जानने का सुअसर प्राप्त हुआ है कि कान्ट के दर्शन में 'द्रन्डन्याय' और 'समीक्षा' समानार्थक पद हैं। अन्तिम एवं स्वीकृत रूप से किसी तार्किक

स्थिति को बिना अपनाये हुए ही कान्ट का प्रमुख लक्ष्य प्रत्येक सम्भव तत्त्व-मीमांसा की पूर्वधारणा की खाली बना करना है। ये तत्त्व-मीमांसा को एक कने-बनाये तैयार तत्त्व-वार्शमिक सिद्धान्त की उपस्थिति के लिए ही एक दावे के रूप में स्वीकार करते हैं और अनुमतातीत द्वन्द्वन्याय में उनका लक्ष्य ही तत्त्व-वार्शमिक स्थिति की असंगतता या अनाचित्यता को ही विन्दित करना है। कान्ट के पूर्वदर्शन के दावे में ही सर्वप्रमुख दृष्टान्त हमें 'युक्ति-युक्त मनोविज्ञान' के सिद्धान्त के प्रतिपादन से ही प्राप्त होता है, जिसकी कान्ट ने सर्वप्रथम परीक्षा की है और उस पर प्रहार भी किया है। आधुनिक दर्शन में इस विचार के उद्गम के ज्ञान के लिए डेकार्ट, लाइब्निज़ तथा बायमाटन आदि वार्शमिकों की और दृष्टिपात करना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, क्योंकि प्रथम तो ये कान्ट के पूर्व के विचारक हैं और उनकी के द्वारा प्रतिपादित 'चिन्तये'— 'मैं सोचता हूँ' नामक पद की 'युक्ति-युक्त मनो-विज्ञान' के सिद्धान्त की आधारशिला है। 'चिन्तये' का अर्थ है— 'मैं विचार करता हूँ'। यही सूत्र कि 'मैं विचार करता हूँ' प्रत्येक ज्ञान या बोध की पूर्व-मान्यता है बाहे बस बोध किसी सत्य ज्ञान से प्राप्त हो अथवा किसी सम्देह एवं अविश्वास से प्राप्त हो। कारण कि 'मैं चिन्तन करता हूँ' यह सभी प्रकार के बौद्धिक ज्ञान के साधन साथ अनिवार्यसहवर्तित रूप में कार्य करता है। इससे अपेक्षित रूप में यह भी निगमित होता है कि विचार के अन्तर्वस्तु के संघटक-तत्त्व से 'मैं' जो चिन्तनकर्ता है, उसका एक पृष्ठ एवं स्वतंत्र अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। यदि चिन्तन करना संकेतनहीन है और यदि यह संकेतन हीन हो सभी ज्ञान या प्रत्येक ज्ञेय वस्तु की आवश्यक पूर्व-मान्यता है तो यह चिन्तन की प्रक्रिया अपने आप में भी कुछ समझी जानी चाहिए, अर्थात् जो कुछ यह चिन्तन करती अथवा जानती है उससे बला भी इसका एक अपना अस्तित्व होना चाहिए। इसका तात्पर्य

१. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ६२-६६

२. वही, पृ० ३२३

३. वही, पृ० ३३०

यह है कि जिन विषयों का यह मनन करती है उसी स्वतंत्र इसका एक अस्तित्व है। यथार्थ सौख्य है; यह विषयी है, और यथि यह सभी वस्तुओं या विषयों की जातव्यता और बोध्यता की अनिवार्य पूर्व-मान्यता है तो इसे किसी निश्चित रूप में अस्तित्वयुक्त होना चाहिए। हम कह सकते हैं कि किसी यह जानता है, जिसे यह समझता है तथा जिसका यह विचार करता है उसी पृथक् स्वतंत्र तथा निरपेक्ष रूप में इसका अपना अस्तित्व है। इस प्रकार वह सब जिसे विषयी जानता है उसके अतिरिक्त द्रव्य के रूप में विषयी के अस्तित्व को स्वीकार करना तथा स्थापित करना ही युक्ति-युक्त मनोविज्ञान का वाचा है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है, यह युक्ति-युक्त मनोविज्ञान विषयी को उन गुणों के साथ प्रतिष्ठित करने का वाचा रखता है जिनके कारण एक तत्त्व सामान्यतया विशेषित एक द्रव्य के रूप में समझा जाय। द्रव्यत्व, गुण, परिमाण तथा सम्बन्ध के पहलुओं में ही विषयी अपनी सैकता को तथिष्ठित करता है। इन कोटियों के अन्तर्गत विषयी को (१) द्रव्य (२) सरल या अभिश्रित (३) एकता (४) सम्बन्ध—(वैलगत सम्भाव्य विषयों के साथ इसका सम्बन्ध) के रूप में स्वीकार किया जाता है।

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान का अधिकृत विषय, जो लाहवनीज के पश्चात् एक सिद्धान्त के रूप में विकसित हुआ, वह यथि विचार करता है कि इस प्रस्थापना को सामान्यतया जेतना के रूप में स्वीकार करता है। परन्तु यह इसे केवल तार्किक इकाई के रूप में ही पाकर सन्तुष्ट नहीं है जो ज्ञान और ज्ञान की संभावना की व्याख्या के लिए अनिवार्य है वरन् यह मनोविज्ञान द्रव्य के रूप में विषयी के यथार्थ अस्तित्व को प्रतिपादित करता है, और यह विषयी सभी अनुभव से अतीत स्वतंत्र रूप से अस्तित्ववान है। संक्षेप में युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के अनुसार आत्मा या जेतना की एकता केवल एक ज्ञानमीमांसा-सम्बन्धी पूर्वमान्यता ही नहीं है, बल्कि एक आत्म द्रव्य है, वास्तविक है, अस्तित्ववान् है और ऐसी तत्त्वों से पृथक्

१. दि फिलोसफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लैण्ड, जॉन वाट्सन, पृ० २४३,

२००६ रिमथ, हर्मेनुटल कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ३३०

एवं स्वतंत्र है, जो एक विषय को स्वरूप देने के लिए महत्वपूर्ण है तथा जिसके लिए यह विषयी के रूप में स्थित होता है। यह विषयी यथार्थ एवं सत्य तत्त्व है। स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि विषयी केवल एक तार्किक पूर्वमान्यता ही नहीं है बल्कि यह एक ऐसी सत्ता है जिसका कालगत एवं देशगत अस्तित्व नहीं है। यह कालातीत है, देशातीत है तथा यह विशुद्ध चेतना है, एक ऐसा तत्त्व है जो निराकार व अरूप है अर्थात् जिसकी किसी वाक्य में कल्पना नहीं की जा सकती, तथापि यह सत्य एवं वास्तविक है। अतः जब को दार्शनिक भाषा में यह कथना अनुपपन्न न होगा कि आत्मा की तात्त्विक स्थिति भावस्था है। कान्ट के विचारानुसार बुद्धि-बुद्धि भाविज्ञान के प्रतिपादक तथा प्रस्तावक विशेष रूप से लाइब्निज़ और बुल्फ़ यह प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं कि 'मैं विचार करता हूँ, इस बुद्धि से आत्म वृत्त्य के वास्तविक अस्तित्व का अनुमान होता है और जो कुछ भी ज्ञान-मीमांसा को दृष्टि से कहा जाता है वह चेतना की अतीन्द्रिय अद्वैत एकता का विजयगत प्रतिरूप है।

इस प्रसंग के सम्बन्ध में कान्ट अपने द्वन्द्वन्याय द्वारा यही दिग्दर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि यदि विशुद्ध ज्ञाता का अभिप्राय सर्वत्र अहम् को आत्म वृत्त्य के रूप में सूचित करना है तो यह तभी संभव हो सकेगा जबकि हम चेतना के इस ऐक्य या 'मैं' के विषय में प्राग्नुभवी संश्लेषणात्मक विभावनाओं को प्राप्त करेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि चेतना के ऐक्य को, जिस वृत्त्य के रूप में जाना गया है, इन दो प्रतीयमान अंशों में पूर्ति करना चाहिए -- (१) इसकी अपनी रचना में किसी अनुभव के तत्त्व का भाव नहीं होना चाहिए। (२) इसकी अस्तित्व को मैं विस्तृत करता हूँ इस सत्ता द्वारा अनन्तर अप मैं अनुभवित होना चाहिए। जहाँ तक स्वरूप का प्रश्न है निःसन्देह ही मैं सौवता हूँ यह एक अनुभव-निर्देशक संश्लेषणात्मक वाक्य है और क्योंकि सब अनुभव इसी पर निर्भर रहते हैं इसलिए यह स्वयं अनुभव में या अनुभव द्वारा नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। इससे निष्कर्ष

१. कान्ट फ़ारट्टे क्रिटिक्, एब० ४४०० कैथिरर, पृ० २४६

२. वही, पृ० ३५३

३. वि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट्स सक्स्प्लेण्ड, जे० वाट्सन, पृ० २४३

एन० ६० रिसर्च, इमेनुएल कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्यार रीज़न पृ० ३६६

स्वल्प यही ज्ञात होता है कि जब उस विषयी के बारे में प्रागुत्पत्ती संश्लेषणात्मक वाच्य संभव नहीं तबो यथार्थ ऐक्य के रूप में एम उरी प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के प्रतिपाद्य रूप अनुभवाँ से जो उसका पुष्कलक्षण है उसी पर बल देते हैं। केवल यही एक कारण है कि चेतना के ऐक्य में काल तत्त्व से अवरोध करने पर वे गौर देते हैं। बुद्ध आत्मा कालान्तर्गत नहीं है या काल-वापका नहीं है, परिवर्तनशील नहीं है अथवा क्षणिक नहीं है, यह स्वयं ही अपनी में सब परिवर्तनों को विररथायी रखता है। काल को हटते पुष्क प्रिया गया है। यह सत्य है कि यदि विबुद्ध आत्मा जैसा कोई तत्त्व है तो वह कालातीत ही होगा, काल-वापका नहीं। चेतना की तार्किक एकता जो विषयमय रूप में अनुभव के प्रत्यक्ष मनोगम्य या प्रत्यक्ष आधार-सामग्री को प्रतिष्ठित करता है, वह कालरहित है। इस कालातीत या कालरहित तार्किक एकता को एक तार्किक एकता में कभी भी लपान्तरित नहीं किया जा सकता। काल से अप्रत्यक्ष होने के ही कारण यह हान्दियमावर नहीं हो सकता और जो हान्दियमय नहीं है वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है, और जो ऐसा है उसे तार्किक एकता के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में नहीं जाना जा सकता है। यह केवल एक ज्ञानमीमांसात्मक पूर्वकल्पना ही है। जो ज्ञान-मीमांसा के लिए अनिवार्य है, ऐसे तत्त्व को इस ज्ञान-मीमांसा शास्त्र में एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व के न्याय-असंगत परिदृश्य के बिना अस्तित्वयुक्त रूप में नहीं समझा जा सकता है।

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस युक्ति-युक्त मनोविज्ञान का उन चार तत्वावयवों के अनुपम चार तर्कानुसारों में छय हो जाता है—(१) आत्मा इच्छ है। (२) यह अनिश्चित या असंदिग्ध है (३) यह एक या अनेक है। (४) अनुभव के सभी सम्भाव्य विषयों के सम्बन्ध में यह अवस्थित है। युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के सब

१. दि फ़िलासफी ऑफ़ कान्ट्स एक्सप्लेण्ड, जे० वाटसन, पृ० ३३७

२. दि क्रिटिक ऑफ़ प्योररीजन (जर्मनी अनुवाद, एन०के० स्मिथ) पृ० ३३०

अनुमान इस मान्यता पर आधारित है कि विन्वनकर्ता विषयी ज्ञान का एक विषय बनाया जा सकता है। इसीलिए उनको जानने के लिए बुद्ध सम्प्रदाय और बुद्धि-क्रांटियों का प्रयोग किया जा सकता है। यह अभिहित भाव^१ 'अहम्' या 'मैं' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जिसके लिए बुद्धि-क्रांटियों का प्रयोग किया जा सके। यह 'मैं' सन अन्तर्वस्तुज^२ है शून्य है इसीलिए यह किसी अतिरिक्त संकल्प या प्रज्ञा को स्वीकार नहीं करता। सम्भवतः इस 'मैं' को जाना नहीं जा सकता है, क्योंकि इसे उस विचार से पृथक् प्रवृत्त नहीं किया जा सकता जिसके द्वारा यह वस्तु-विषयों को निर्धारित करता है और जिसके अभाव में इसका विचार नहीं किया जा सकता है। यदि इस 'मैं' के सुरपष्ट स्वरूप के सम्बन्ध में पुनः प्रश्न जाय तो इसके उत्तर में कोई यही कह सकेगा कि यह सब प्रत्ययों या भावों का सामान्य वाकार है जिससे वस्तु-विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। परन्तु अनुभव की इस सामान्य वाकृति को ऐसे विषय के रूप में गृहण करना, जो विषय अस्तित्वयुक्त ही तथा अनुभव से स्वतंत्र जाना जा सकता है, केवल विचार की प्राम्ति अथवा तर्कमात्र ही है। किसी भारतीय संश्लेषणात्मक प्रागनुभवी निर्णय को स्वीकार करने के लिए 'मैं' विचार करता हूँ इस तर्कवाक्य को नहीं निर्मित किया जा सकता। बुद्ध सम्प्रदाय या केवल वात्स्य-वेतना से ही इस प्रकार के निर्णयों को व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता है। केवल प्रत्यक्षालम्ब्य का ही ज्ञान संभव है। जब सभी अनुभवों का व्यापार प्रतिरूपित होता है तो बुद्ध भाव के आधार पर सत्ता को निगमित करने के प्रयत्न में हमें आशातीत सफलता नहीं प्राप्त होती।

अब प्रश्न है कि कान्ट के युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की सीमांसा का अन्तिम अभिप्राय और भारतीय निष्कर्ष क्या है। भारत में कान्ट वेतना की एकता के सम्बन्ध में यह विश्वास करना नहीं पसन्द करते कि ज्ञात्मा को सब अनुभवों की अतीन्द्रिय अनिवार्य अवस्था के रूप में समझा जाय। कान्ट ने सत्ताज^३ का वर्गीकरण

१. कान्ट, कारनर, पृ० ११२

२. जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ० ४३

(१) परमार्थ (२) गौबर—दो भागों में किया है। जब हम यह कहेता है कि युक्ति-युक्त मनोवैज्ञानिकों के वात्सा का ज्ञान कान्ट के उपर्युक्त परमार्थ यानी स्वतन्त्रता और गौबर यानी आभास सत्ताओं में से कहा जाता है ? वस्तुतः यह समस्या अत्यन्त घटित एवं दुष्प्र है, परन्तु एक बार इसका समाधान कर लेना एक ऐसा प्रयत्न होगा जो युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के विचारकों के दृष्टिकोणों के तण्डन में निहित आवश्यक प्रेरणा को समझने और उसकी सीमाओं के गहन एवं सुस्पष्ट विचारों को समझने में हमारा नेतृत्व करेगा।

यदि हमारी वात्सा या विषयी के बारे में कान्ट की विचारधारा को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त करने के लिए कहा जाय तो हम केवल यही कहेंगे कि कान्ट के विचारानुसार वात्सा का कोई भी तत्त्व-वर्णन नहीं है। युक्ति-युक्त मनोवैज्ञानिक विन्सकॉ ने अपने सिद्धान्त में जो भूल की है, वह इस आस्था और विश्वास की एक दुरागृह्य पुनरावृत्ति है कि--" मैं सोचता हूँ यह विद्वत् ज्ञाता अनुभव के अंत में केवल एक तार्किक अतीन्द्रिय अनिवार्यता नहीं है बल्कि यह एक पूर्णतया कियोज्य तत्त्व है। यद्यपि यह प्रत्येक प्रकार से क्लृप्त या अज्ञेय है और अनुभव के अत्यधिक बहुमुख्यक अन्तर्बस्तुओं से सम्पूर्णतः भिन्न है, फिर भी निश्चय ही यह एक अनिवार्य तार्किक सिद्धान्त के रूप में नहीं बल्कि स्वयं अपने आप ही अस्तित्वयुक्त सत्ता के रूप में यथायोग्य स्थान रखता है। भाषित ज्ञान में यह ज्ञाता किया भी वस्तु से पूर्णतया असमान है यानी वस्तुओं या विषयों का ज्ञान इसके द्वारा जाना जाता है परन्तु उस ज्ञान में यह ज्ञाता सर्वथा अनुपस्थित रहता है। यह विद्वत् ज्ञाता सुन्य में अभिविक्त रूप से ही केवल नहीं स्थित है वरन् युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के समर्थकों के अनुसार यह विन्सकॉ की वात्सा से विभिन्न लक्षणों और धर्मों से भी युक्त है जो अनुभव की आभास सत्ता या वस्तुओं के उन गुणों से उत्पन्न है जो कैल-काल में घटित होते हैं तथा बुद्धि के आकारों में

१. एम०के० रिफ्लेक्टिंग अनुवाद, दि क्रिटिक् ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० २६५-६६.

२. वही, पृ० ६६५

कोटि विमर्शित होते हैं और बुद्धि के बाकार भी जेतना के इस चिल्लाहण एहता की पूर्व-अपेक्षा रहते हैं। अभिहितता और प्रत्यक्ष जेतना की स्रष्टा के तार्किक अर्थ में प्रयुक्त होने चाहिए और जेतना की स्रष्टा ही वात्पत् है तथा सब अनुभव की अतीन्द्रिय पूर्वमान्यता है। परन्तु कान्ट जो प्रश्न उठाते हैं वह इस तार्किक अर्थ के रूप में ही अनुमित होने वाले गुणों की वात्पा पर आरुपित करने की प्रासंगिकता तथा तर्क-संगतता के विषय में ही है। बुद्धि-युक्त मनो-विज्ञान के विरुद्ध कान्ट द्वारा मुख्यस्थित एवं स्थापित सम्पूर्ण तर्क चलता अकादम और अनिवार्य रूप से बांझित प्रतीत होता है कि कोई भी व्यक्ति कान्ट को तथा बुद्धि-युक्त मनोविज्ञान को आलोचना के प्रति उनकी प्रेरणा को बड़ी क्षामता से समझ सकता है। परन्तु कान्ट के प्रमुख दावे जथवा विवाद की समकक्ष होने से बुद्धि-युक्त मनोविज्ञानिक विस्तर्कों के विषय को समाप्त करने में कैथळ कोई कठिनाई नहीं होती बल्कि उनके विषय को स्वीकार करने में एक सुस्पष्ट ठिँसि विवेकयुक्त स्वैच्छावारी झुकाव होता है। बुद्धि-युक्त मनोविज्ञानिक विचारकों की विचार-स्थिति में एक आन्वीक्षात्मक भ्रम निहित है। यह सम्मत है कि जेतना की स्रष्टा की मान्यता के तभाव में ज्ञान का कोई भी विवरण तथा रपष्टोकारण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें इस 'विशुद्ध तार्किक स्रष्टा' जथवा इस ज्ञानपीमाक्षात्मक रूप-रैखा को एक तार्किक स्तर के साथ प्रतिष्ठित करने के लिए एक नियंत्रण में होना चाहिए। इसे रक्थ के सिद्धान्त की प्रतिपादित करने के तरीके में जो प्रयुक्त व विशिष्ट कठिनाई है वह 'जेतना के स्रष्टा' की आकृतिहीनता में निहित है क्योंकि यह जेतना वैश व आळ से अतीत है, इसीलिए यह अन्विय-प्रत्यक्षा ज्ञान में उपवत है। जब बुद्धि-युक्त मनोविज्ञान जेतना के जथेव को स्थापित करने का दावा करता है तो वह निःसंदेह इसमें भी विश्वास करता है कि यह जेतना की स्रष्टा किसी तरह से ज्ञान का विषय बन सकता है। यदि ऐसा है तो वह मनोविज्ञान अप्रत्यक्षा रूप से तथा

अकथनीय रूप में यह भी प्रतिपादित करता है कि 'चेतना की एकता' आभासित होने योग्य है । कम से कम इसके एक-आभास होने में विश्वास किया जाता है । परन्तु यहाँ एक आभास होने से जिसका केवल विश्वास किया जाता है उसमें हम भेद कर सकते हैं । इस प्रकार बुद्धि-युक्त मनोविज्ञान की भाँति किसी भी वैज्ञानिक विज्ञान में एक भ्रान्ति का होना अनिवार्यतया बाँझिल हो जाता है । यह भ्रान्ति भी एक आभास के अस्तित्व के रूप में किसी वस्तु पर विश्वास करने में निहित है । विश्वास की ज्ञान से पृथक् नहीं किया जाता है और इसीलिए यहाँ एक मूल उत्पन्न होता है अर्थात् एक भ्रान्ति की स्थिति खड़ी हो जाती है और यह भ्रान्ति अत्यधिक विवृत रूप में अस्त-व्यस्त हो जाती है जबकि 'चेतना की एकता' के 'एकता' की वस्तु-सत् या 'स्वलक्षण' से स्वीकृत कर दिया जाता है । 'स्वलक्षण' ही ऐन्द्रिय राशि का अधिष्ठान है जिसकी स्थिति वैज्ञानिक को प्रतिबोधित करने वाले अर्थात् के पार अन्ति की गयी है, और एक ऐसे प्रतिबोधन-विन्दु पर जो वस्तु पायी जाती है वही प्रवृत्त है । बुद्धि की कोटियाँ द्वारा स्थापित एवं विमर्शित यह प्रवृत्त वस्तु पूर्णतया चेतना की एकता के विरुद्ध ज्ञान के विषय अर्थात् आभास के रूप में स्थित होती है । यद्यपि आत्मन् पूर्णरूपेण अस्त्यक्त रूप है परन्तु फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि इसका किसी अतीन्द्रिय तरीके से प्रत्यक्ष होता है । क्योंकि विश्वरूप से यह ज्ञात होता है, कि इसीलिए यह एक आभास की अपेक्षा अन्य कुछ नहीं हो सकता । यह आत्मन् आभास की कोटि से ही सम्बन्ध रखेगा, परन्तु प्रश्न यह है कि यह आभास किस प्रकार का है ? किसी भी प्रकार से इस प्रश्न का उत्तर देने में हमें अलंघ्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा । यदि यह आत्मन् ज्ञान का एक विषय है तो इसे अवश्य ही एक आभास होना चाहिए । परन्तु यह एक आभास नहीं हो सकता, क्योंकि न तो यह अनुभव में प्रवृत्त किया जाता है और न तो इसे अनुभव में प्रवृत्त करने की सम्भावना ही है । प्रवृत्त वस्तु का अधिष्ठान न हो सकने के कारण यह पारिभाषिक नहीं हो सकता और इन्द्रियनिष्ठ रूप में उपस्थित होने की कठिनाई के कारण यह केवल एक आत्मनिक या क्लृप्तपूर्ण आभास है । जो न तो एक आभास है और न तो एक सत् है वह केवल

एक तार्किक पूर्वमान्यता हो है। कान्ट के अनुसार आत्मा जो कि अनुभव को सम्भाव्यता का सुबुद्ध आधार है, अपने में अनुभवमय नहीं है और न तो यह ऐसी दर्शनीय वस्तु सामग्रियों को उत्पन्न करने में समर्थ है जो कोटिविमर्शनीय है। अतः यह न तो पारिभाषिक है और न व्यावहारिक या गोचर है परन्तु केवल तार्किक है। पुनः यह केवल धारणा का विषय नहीं है बल्कि इसकी तार्किक अनुपस्थिति में अनुभव की सम्भाव्यता के रपट होने के कारण यह स्वरूप में अस्तिमित्य है।

सुक्ति-युक्त मनोविज्ञान प्रमुख रूप में एक यह निष्कर्ष दिव्यशक्ति करता है कि इस आत्म-विषयक चिन्तन में अभिहित, अज्ञेय तथा वस्तुतः अस्तित्वयुक्त किंवा भी पदार्थ के रूप में एक आत्मन् की मान्यता की अपेक्षा कुछ भी अधिक निरर्थक और असमर्थनीय नहीं हो सकता। बुद्धिवादी पार्श्विक आत्मा के एक तत्त्व-पार्श्विक सिद्धान्त को वृद्धतापूर्वक स्वीकार करते हैं और वृत्ति इस स्वरूप का आत्मन् एक यथार्थ तत्त्व है इसकारण वस्तुओं में से एक वस्तु की भाँति चेतना की यह स्वरूप अनुभव के क्षेत्र में एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति का सामना करती है जो इसे प्रदान की जा सकी है, यद्यपि यह मनोवैज्ञानिक स्थिति आनुभविक स्तर पर मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को प्राप्ति स्थिति से मूलतः पृथक् एवं परिवर्तित है। अतः कान्ट के विचारानुसार आत्मा का कोई भी तत्त्व-दर्शन नहीं हो सकता। यदि यहाँ सुक्ति-युक्त मनोवैज्ञानिक चिन्तन कान्ट की उपर्युक्त उक्ति का उतरावे तो कहते हैं कि वे आत्मा का एक समुचित मनोविज्ञान प्राप्ति करते हैं और इस मनो-विज्ञान के संघटन तत्त्व आनुभविक रूप से प्रवृत्त न होने वरन् अनुभव-निरपेक्ष होने, तो कान्ट के मतानुसार ऐसा आत्म-मनोविज्ञान केवल एक तत्ति सम्बन्धपूर्ण स्थिति

१. डी०पी० ड्रायर, कान्ट्स सॉल्यूशन फ़ॉर वैरिफ़िकेशन इन मेटाफ़िज़िक्स, पृ० १०४

२. एन०के० रिम्प, कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ प्रियर रीज़न, पृ० १७०

३. वही, पृ० १३५-३६

४. वही, पृ० ३६६-६७ एवं ३७१

है कुछ होगा, क्योंकि यह एक परिस्थिति को अपरिहार्य बना देता है कि यदि मैं जीवता हूँ, इस उक्ति द्वारा अभिव्यक्त एक प्रत्यक्ष ही स्वयं ही परी जाना होगा तथा स्वयं को एक ऐसी विषय से सम्बन्धित करना होगा जो अनुभव द्वारा प्रदान न होकर अनुभव-निरपेक्ष रूप से उत्पन्न होगा। इस प्रकार यह वस्तुतः उक्त में ही एक व्यापार है। किन्तु अन्य संक्षिप्त विवरण की अपेक्षा कास्ट की पुष्ट-पुष्टि मोमांसा का निम्न उद्धरण युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की समीक्षा को अधिक स्पष्ट कर देता है-- "इस प्रकार विचार में सामान्यरूपेण मेरी आत्मा की योजना का विश्लेषण, विषय के रूप में मेरी आत्मा के ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ भी प्रकाश प्रदान नहीं करता। विचारसामान्य के तर्कसारणीय विवरण की मान्यता विषय का पराविष्ट सम्बन्धों निर्धारण मान लिया गया है।

यदि प्रागनुभवात्मकता इस बात को सिद्ध करने की सम्भावना होती कि सब विचार करने वालों सदाएं अपने आप में अप्रतिष्ठित सरल वृत्त हैं, और परिणामतः (जैसा उपपत्ति से इसी प्रकार निष्कर्ष निकलता है) व्यक्तित्व उनसे अधिप्राप्त है, तथा वे समस्त भौतिक तत्त्व से पुष्ट अपने अस्तित्व के विषय में केना सम्बन्धित हैं तो यह सम्भव ही हमारी समग्र मोमांसा के भाग में एक बड़ा भारी रौंड़ा होता या इससे भी बढ़ कर एक अनुवर्णनीय बीधा होती। क्योंकि इस प्रकार ही तो हमने ऐन्द्रिय जगत से परे पदार्पण कर दिया होता, हम अतीन्द्रिय तत्त्व के क्षेत्र में प्रविष्ट हो गये होते, और अब इस क्षेत्र में और भी जागे बढ़ते जाने अथवा अ. जाने के हमारे अधिकार का कोई भी विरोध न कर सकता, और जैसी-जैसी प्रत्यक्ष के प्रति उसका मान्य-नक्षत्र अनुकूल होता जाता तो उस क्षेत्र पर अधिकार करने के विषय में भी ऐसा ही होता। यह प्रस्थापना कि प्रत्यक्ष विचार करने वाली सत्ता, एकमतः एक अप्रतिष्ठित सरल वृत्त है, एक सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक प्रस्थापना है, क्योंकि प्रथम तो वह अपने आधारभूत सम्बन्धों का अतिक्रमण करता है और विचारणा सामान्य के साथ अस्तित्व के प्रकार को जोड़ देता है, और दूसरे वह इस सम्बन्ध के साथ एक विधेय (अप्रतिष्ठितता) को जोड़ देता है, जो किसी भी अनुभव में दिया हुआ नहीं हो सकता। इस प्रकार सांश्लेषिक प्रागनुभवात्मक प्रस्थापनाएं न केवल (जैसा कि हमारा वादा है) संभाव्य

अनुभव के विषयों के सम्बन्ध में, और वास्तव में इस अनुभव की संभावना के सिद्धान्त के रूप में व्यवहार्य और स्वीकार्य है, प्रत्युत वे वस्तु सामान्य और स्वरूपतः सत् वस्तुओं के प्रति भी लागू होती हैं—यह ऐसा परिणाम है जो हमारी समस्त मीमांसा को समाप्त कर देगा और हमकी पुरातन पद्धति को स्वीकार करने के लिए विवश कर देगा^१।

इस सम्बन्ध में कान्ट के निष्कर्षों को विस्तारित विवरण द्वारा स्पष्ट होना चाहिए और उनके निष्कर्षात्मक द्रष्टव्यताय को यह स्वीकार करके समुचित रूप से जाश्वरत हो जाना चाहिए कि :-

(१) सामान्यतया वेतना स्वयं के द्वारा किसी ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती ।

(२) यद्यपि सामान्य रूप में वेतना ही सब ज्ञान की एक अनिवार्य शक्ति है रूप में स्वीकृत की गयी है तथापि इससे सम्बन्धित किसी अन्य विशेष मान्यता या दावे को अस्वीकार करना असम्भव है । यह स्पष्ट रूप से सत्य है कि ऐसी वेतना से पृथक् जिसे हम यथार्थतः सहायक जानते हैं, उस रूप में कुछ भी जाना नहीं जा सकता, यद्यपि यह स्वयं किसी सत्ता की स्थिति के लिए स्वीकार नहीं की जा सकती ।

(३) सामान्यतया वेतना न तो एक प्रतीति या आभास की स्थिति से युक्त है और न तो स्वलक्षण या परमार्थ की स्थिति से युक्त है ।

(४) जब हम अपने वाप के ज्ञान अथवा अनुभव से युक्त होते हैं तो हमें प्रकट होने वाला वस्तु-विषय, किसी भी माध्यम से सभी ज्ञान अथवा अनुभव में निहित शुद्ध वेतना के तत्त्व के समरूप नहीं हो सकता ।

जहां तक प्रथम का सम्बन्ध है वस्तुतः उसे अस्वीकार करना असम्भव है । अन्तिम विश्लेषण में यही कहा जा सकता है कि यह केवल एक प्रतीति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । उपस्थिति करता क्योंकि यह केवल प्रतीति मात्र है ।

१. कुछ बुद्धि मीमांसा, पृ० ३११-३१२--अनुवादक--मोलाभाय ज्ञा

२. एनके० सिन्ध, दि क्रिटिक आफ् प्यार रीज़न, पृ० ३८१

हमने पहले ही आत्म-ज्ञान के सम्बन्ध में कान्ट की स्थिति का विवेकन और विस्तार किया है तथा यह भी पैल लिया है कि किस प्रकार 'नैतना की एकता' केवल एक तार्किक इकाई है, इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्त्व नहीं है और ज्ञान की सम्भाव्यता के लिए और ज्ञान के दित में ही इसे उचित रूप से मान्यता भी दी गयी है, परन्तु फिर भी 'अभिहितता' तथा अन्य ऐसे गुणों एवं विशेषताओं को प्रदर्शित करते हुए इस नैतना को एक तत्त्व-दार्शनिक पृथक् के रूप में स्वीकार व प्रतिपादित करना अतर्कसंगत बात होगी । युजि-युज मनोविज्ञान के द्वारा दार्शनिक कान्ट को कुछ भी समझते व प्रतिपादित करते हैं उसके विरुद्ध आज कोई भी वर्शन का विद्यार्थी व गंभीर विन्तक नाहे वध तत्त्व-दार्शनिक परम्परा में ही अथवा अ-तत्त्व-दार्शनिक में ही, किसी मत को स्थापित करने का अथक परिश्रम नहीं करेगा । परन्तु क्योंकि कान्ट स्वयं ही युजि-युज मनोविज्ञान के अभिहित विन्तन विषय के नैतिक स्तर पर पुनर्जीवित करने के लिए एक प्रकार की उत्सुकता प्रदर्शित करते हैं, इसलिए कान्ट के सम्पूर्ण विषय पर पुनर्विचार व विवेकन करना तथा यह कहना पूर्णतया अनिवार्य हो जाता है कि आत्मा के तत्त्व-दर्शन जैसी कोई वस्तु नहीं है या अतीन्द्रिय मनोविज्ञान नहीं है जो नैतना की एकता को केवल एक ज्ञानात्मक पूर्वमान्यता के रूप में ही नहीं स्वीकार करता वरन् उसे स्वतंत्रता की अनुमति और नैतिक अनुभव के बीच और सुबुद्ध वाधार के रूप में स्वीकार करता है, जो नैतन तत्त्व नैतिकता का केन्द्रक है ।

अतः इस प्रकार अब प्रमुख समस्या युजि-युज मनोविज्ञान के अन्तर्गत नहीं है कि कान्ट ने इसे अप्रसिद्धि दी तथा सफलतापूर्वक उसका सण्डन किया, बल्कि समस्या उनके युजि-युज मनोविज्ञान मीमांसा और व्यावहारिक बुद्धि-मीमांसा में इस विषय के बीच निहित है कि आत्मन्, जो नैतिक अनुमति का वाधार है और स्वतंत्रता का एक प्रमुख प्रतीक है, वह केवल एक तार्किक इकाई ही नहीं है वरन् एक सत्तात्मक तत्त्व है ।

१. जॉन वाटसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ० ३०६

द्वन्द्वन्याय के अन्तर्गत आत्मा की समस्या के कान्ट के प्रतिपादन में एक पूर्ववर्णापूर्ण उभयधाविता की स्थिति निहित है यानी दो प्रत्यक्षतः परस्पर-विरोधी स्थितियों को समाविष्ट करने वाले एक द्वैत स्वरूप की अनुभूति इस द्वन्द्व-न्याय में प्राप्त होती है — (१) आत्मा कभी भी केवल एक तार्किक सिद्धान्त के अतिरिक्त इससे अधिक कुछ भी नहीं हो सकता, तार्किक सिद्धान्त जैसे— कारण-कार्य का सिद्धान्त या तादात्म्य का सिद्धान्त, जो विचार की अन्तर्परतुर्जा की व्याख्या तथा उनको अर्थपूर्ण एवं महत्वपूर्ण बनाने के लिए अत्यन्त अनिवार्य है । (२) और यह आत्मन् एक ऐसी सत्ता के साथ प्रतिष्ठित होने की अपेक्षा रखता है जो अप्रतिबद्ध है तथा इस कारण सर्वत्र पूर्ण कुछ भी है । परिणामस्वरूप विधित होता है कि ये दो प्रतीयमानतः व्याघातपूर्ण स्थितियाँ एक और तो 'ज्ञान की समस्या' तथा दूसरी और 'नैतिकता की समस्या' के कान्ट के प्रतिपादन के बीच एक गहन गती या खाई उत्पन्न कर देती हैं । अब प्रश्न यह है कि क्या हम 'बुद्धि-बुद्धि मोमांसा' में आत्मा की समस्या के प्रतिपादन की 'व्यावहारिक बुद्धि मोमांसा' में आत्मा की समस्या के साथ अविच्छिन्न रूप में गृहण करते हैं ? इन दो परिस्थितियों में कान्ट का निष्कर्ष इस प्रकार का है— (१) निःसन्देह आत्मा एक 'चेतना की एकता' है परन्तु क्योंकि यह शुद्ध स्वरूप के अतिरिक्त किसी भी वस्तुरूप में अवैद्य है इसलिए एक तात्त्विक सत्ता की भांति किसी भी वस्तु रूप में इसकी परिकल्पित एवं स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए । यदि यह एक तात्त्विक सत्ता हो सकती तो इसे एक वस्तुगत सामग्री के रूप में प्रवेष्ट होना चाहिए । परन्तु जिस 'चाण' यह इस वस्तुगत सामग्री के रूप में सम्भवा जाता है उसी 'चाण' यह बुद्धि-कौटिल्यों द्वारा निर्धारित विषय बन जाता है । यदि यह आत्मन् ऐसा ही है तो 'आत्म-चेतना की एकता' अपने उस अतीन्द्रियात्मक गुण को ही देता है, जिससे बुद्धि-कौटिल्य प्रधारित व निर्धारित होते हैं और ऐसी दशा में यह 'चेतना की अतीन्द्रियात्मक एकता' सापेक्ष और प्रतिबद्ध बन जावेगी । यदि यह अतीन्द्रिय ही रहती है तो इसे अनिर्धारित होना चाहिए । इस प्रकार कान्ट 'चेतना की एकता' को 'तार्किक एकता' की अपेक्षा किसी अन्य स्थिति के साथ प्रतिष्ठित करने में एक कठिनाई का अनुभव करते हुए अपने को असमर्थ पाते हैं । परन्तु फिर भी यह एक अन्तिम स्वरूप नहीं है जिसमें आत्मा की समस्या अपने आपको 'अतीन्द्रिय एकता'

के रूप में कान्ट के समक्ष उपस्थित करती है । ज्ञान के स्तर पर जो कुछ पाना असंभव है उसी को नैतिकता के स्तर पर या नैतिक अनुभव में सम्भव तथा व्यवहार्य दिखाया है । यही कारण है कि कान्ट ने कैता को एकता के साथ शक्ति के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं, जिसका प्रथम ज्ञान-मीमांसा में उभाव है । यह शक्ति हज्जा-शक्ति है । इस पहलू में कैता की एकता कुछ बुद्धि के साथ स्वरूपित नहीं की गयी है । इसी व्यावहारिक बुद्धितथ्या नैतिक हज्जा-शक्ति के साथ स्वरूपित करना है जो अभिन्न विश्लेषण में अनिवारित है । निर्धारित हज्जा-शक्ति नैतिक हज्जा-शक्ति नहीं है, इसीलिए कान्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि कुछ रूप में वात्मा कुछ कैतन्य रूप है तथा विपुल हज्जा-शक्ति से अभिन्न है । अनैतिकता ही अपूर्णता है । यह एक अत्यन्त अनिवार्य मूल्य 'शक्ति' के विनाश का निर्देश करता है । किसी प्रकार की सीमा से स्वतंत्रता ही 'शक्ति' है । 'शक्ति' एक निरपेक्ष अथवा परम अनिवारण है । नैतिक हज्जा-शक्ति के अव्यास द्वारा इस अपूर्णता को विधित करना है एवं समाप्त कर देना है ।

यदि हमें वात्मा के स्वरूप और स्थिति के सम्बन्ध में कान्ट द्वारा प्रस्तुत प्रथम मीमांसा के निराशाजनक निष्कर्ष और द्वितीय मीमांसा के अति उत्सर्गहीन उत्साहो व वाशाजनक निष्कर्ष के बीच की खाई को पाटना ही है तो इसके लिए कान्ट को सम्पूर्ण समस्या एक पुनर्स्थिति-निर्धारण की अपेक्षा रखती है । ऐसा ज्ञात होता है कि प्रथम मीमांसा में विशेष रूप से द्वन्द्वन्याय में कान्ट लाहवनीय के युक्ति-युक्त मनोविज्ञान से छुटकारा पाने का अथक एवं उद्येजित प्रयास करते हैं । द्वन्द्वन्याय में जित बुद्धि-कौटिल्य को वात्मा से छीन लिया गया था, कान्ट उन्हीं नैतिक बुद्धि-कौटिल्यों को पुनः वात्मा को वापस करने का प्रयत्न करते हैं । हमारे विचार में वह ज्ञान की समस्या का नैतिकता की समस्या के साथ सामंजस्य स्थापित करने में असफल एवं असमर्थ रहे । नैतिकता केवल एक रवीचारात्मक स्तर पर ही आधारित है । ज्ञान की समाप्ति हमारे ज्ञान की सीमा की कैता के

१. लेविस स्वाइट बेक, हमें उल कान्ट क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० १४ .

२. जॉन वाटसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड पृ० ३०८-३१३

साथ ही ही जाती है। कान्ट की विचारधारा के पुनर्निर्माण और पुनर्व्यवस्था के ही आधार पर हम एक नवीन स्थिति निर्धारित कर सकते हैं, यह नवीन स्थिति निर्धारण ही सच्चा मनोविज्ञान भी होगा, परन्तु यह मनोविज्ञान न तो आनु-भविक मनोविज्ञान होगा और न तो बौद्धिक मनोविज्ञान होगा। यह अतीन्द्रिय मनोविज्ञान अथवा आध्यात्मिक मनोविज्ञान होगा। ज्ञान एवं नैतिकता के मिलन-बिन्दु अथवा केन्द्र में एक ऐसा संवृत्तिशास्त्र है जिसका वस्तु-विषय एक अस्तित्वयुक्त संप्राण केना है। यह संप्राण तथा सक्रिय केना ही आत्मा है जिसे नैतिक अनुभव के यथार्थ रूप में परिणित नहीं किया गया है अर्थात् जो केवल नैतिक अनुभूति में ही कार्यान्वित नहीं है बल्कि यह स्वयं ही ज्ञान है। एक ऐसा ज्ञान है जो सब विषयी और वस्तु-विषयी के सम्बन्धों का अतिक्रमण कर देता है और जो बिना किसी अभाव तथा विनाश के ही परिपूर्ण है तथा स्वयं-प्रकाश है। उनका यह 'आत्मन्' उपनिषद् का आत्मन् है, जैसा कि कान्ट का विचार है यह केवल एक 'तार्किक एकता' नहीं है बल्कि अनुभव का एक परम आधार है। आत्मा की प्रत्येक अवस्था के लिए हम माण्डूक्य उपनिषद् में एक विस्तृत विवेचन पाते हैं। इस 'आत्मा' को एक रहस्यवादी (गण) के रूप के द्वारा प्रतीक रूप में वर्णित किया गया है जो केना की जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में व्याप्त है तथा इन तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण भी कर जाता है। यह 'विबुद्ध-वैतन्य' है और जो कुछ यह जानता एवं अनुभव करता है उससे पृथक् यह अपना अस्तित्व रक्षता है। यह अपने अनुभव-योग्य एवं ज्ञेय वस्तुओं में से एक वस्तु नहीं है। इसे यह कह कर भी वस्तु-रूपित नहीं किया जा सकता कि यह केवल ऐसा नहीं है। अपने यथार्थ होने के लिए भी यह वस्तु-रूपित होने की अपेक्षा नहीं रखता। कान्ट ने ज्ञान और

१. के०सी० भट्टाचार्या, स्टडीज़ इन फिलॉसफ़ी, वॉल्यूम-२, पृ० २४, २८-२९

२. श्री० एस० एस० राय, दि हैरिटेज ऑफ़ संकर, पृ० ५०-५१, तथा माण्डूक्य उपनिषद्, गौणपादीय कारिका, शांकरभाष्य, वागम प्रकरण 'अपिस्थितकारमिदं' सर्व तदयोपव्याख्यानं भूतं मवमविष्यदिति सर्वमाकार एव। यच्चान्यस्मिन्कालातीतं तदुप्यमाकार एव ॥१॥ इसके अतिरिक्त इसी प्रकरण का दूसरा श्लोक भी देखिए।

नैतिकता के दौत्र में भिन्न-भिन्न आत्मावादी की स्थितियाँ की स्थापना करके जिस सार्द्ध की कल्पना की है उसे आध्यात्मिक मनोविज्ञान स्वीकार सेतु द्वारा ही पाटा जा सकता है । उस पाटने के सम्पूर्ण कार्यों से हम विरतुत रूप में भिन्न प्रकार के विश्लेषण द्वारा व्यक्त होंगे ।

(१) चेतना के स्वरूप के विश्लेषण से (२) नैतिकता के स्वरूप के एक विश्लेषण से, जिसमें हमारा सम्पूर्ण अभिप्राय यही प्रमाणित करना होगा कि नैतिकता की समस्या ज्ञान का समरगा से पूर्णतया अभिन्न है । अब पूर्णतया परिलक्षित हो जाता है कि युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की आलोचना का जो उल्लङ्घनयुक्त तथा रक्षायपूर्ण निष्कर्ष है वह इस बात में निहित है कि कान्ट इस समस्या का समाधान केवल बुद्ध ज्ञानात्मक अथवा अनुभवात्मक स्तर पर करने में तैयार अवसर रहे । समस्या यह है कि अनुभव में 'चेतना की एकता' नामक एक ऐसी तत्त्व को अर्धीकृत नहीं किया जा सकता, जो अनुभव-निर्मित नहीं है तथा जो ज्ञान-मीमांसात्मक रूप से एक अतीन्द्रिय तत्त्व है, क्योंकि इस तत्त्व की अर्धीकृति ज्ञान का ही असम्भन्ना देती है । परन्तु उसी समय 'चेतना की एकता' को तार्किक स्तर से उच्च किसी अन्य स्तर पर प्रतिष्ठित करना उसी युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के बल-बल में क्लेश जाना होगा, जो वास्तविक सवायुक्त आत्मा के अस्तित्व को 'मैं' साबित हूँ ज्ञान की इस अनिवार्य स्थिति से प्रभावित कर देता है । परन्तु यहाँ यह विषय समाप्त हो जाता है, अब तक हम कान्ट के प्रत्यक्षों को विद्वद् निष्कर्षात्मक रूप में ही स्पष्ट कर सकें । कान्ट युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के दोषयुक्त विवरण के जो परिणाम निश्चित करते हैं, वह इस प्रकार के हैं :--

(१) यथार्थ या सत्य होने के क्रम में 'आत्म-चैतन युक्त' एकता को अवश्य ही अप्रतिबद्ध होना चाहिए और अप्रतिबद्ध होने के क्रम में उसी अवश्य ही मुक्त एवं अनिवारित होना चाहिए ।

१. कैसी० मदाबायी, पि स्टडीज़ इन फिलॉसफी, पृ० ३३

२. सन० कै० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ प्रियर रीज़न, पृ० ३६५

(२) ज्ञान की स्थिति का एक विश्लेषण सब सन्दर्भों के परे यह प्रकट करता है कि 'आत्म-चेतना की एकता' जो आवश्यक एवं निर्विवाद रूप में स्वीकृत है उसे सभी वस्तुगत अन्तर्द्वन्द्वों से प्रकट एक यथार्थ अस्तित्वयुक्त रूप में नहीं स्पष्ट किया जा सकता है। अतः उसे सक्रिय एवं जीवित रहने के लिए विषय-ज्ञात को ग्रहण करना अत्यन्त अनिवार्य है। चेतना की मुक्त स्मृति एक अभिविज्ञित वस्तु है, यद्यपि ज्ञान की स्थिति में इसे वस्तुगत अन्तर्द्वन्द्व से प्रकट करना असंभव है। अतः यहाँ ये दो पदान्तर हैं-- (१) या यह प्रतिपादित करना कि 'चेतना की एकता' अत्यन्त कर्तव्य है (२) या किसी अन्य स्थिति का विचार करना जिसमें यह आत्मनः मुक्त एवं सत्य प्रतिष्ठित होता है। यह केवल एक अनुमानित वस्तु या केवल एक परिकल्पना अथवा एक 'तार्किक एकता' ही नहीं है जिसे ज्ञान की साक्षात्कृतता के लिए निर्मित किया गया है। फान्ट इन दोनों में से द्वितीय पदान्तर को किसी भी प्रकार व्यक्त रूप से बहिष्कार नहीं करते और न तो व्यक्त रूप से उसे बहिष्कार करने का कोई संकेत ही देते हैं। फान्ट ने मुक्ति-मुक्त मानविज्ञान की बालीयना पर अत्यधिक बल देते हैं कि कारण आत्मनः को एक 'तार्किक एकता' के रूप में प्रतिष्ठित किया है, इसलिए नहीं कि वह 'अप्रतिबद्ध आत्मनः' या छुड़ बुद्धि के वस्तुतः मुक्त केन्द्र तत्त्व के निरर्थक स्वरूप के सम्बन्ध में एक निर्भयात्मक कथन प्रस्तुत करना चाहते हैं वरन् उनका विश्वास है कि ऐसा आत्मनः अवश्य अस्तित्वयुक्त है और 'इस आत्मनः को वह उन्मुक्त या निर्विकल बुद्धि के रूप में स्वीकार करते हैं। नैतिक इच्छा-शक्ति में ही हम आत्मा के सत्य अस्तित्व की अनुभूति होती हैं तथा यह चेतना भी प्राप्त होती है कि आत्मा निरपेक्ष एवं अप्रतिबद्ध रूप से स्थापित एक ऐसे सिद्धान्त के अनुसार क्रियाशील होता है जो सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत होता है। उसीलिए यह कहा जाता है कि नैतिक इच्छा-शक्ति में तथा नैतिक पहलू में ही हमें अप्रतिबद्ध बौद्धिक केन्द्र से परिचित हो सकते हैं। इस नैतिक साध्य के चुनाव में ही व्यक्ति ऐसे आत्मनः का परिचय

प्राप्त करता है, जो स्वयं अस्तित्ववान् है, स्वयं अभिव्यक्त है, स्वयं सत्य है, सापेक्ष सत्य नहीं है। यह इस या उस लक्ष्य के हेतु क्रियाशील नहीं है वरन् प्रज्ञा के ठीक नियम के लिए क्रियाशील होता है। यह प्रज्ञा भी किसी अन्य तत्त्व द्वारा प्रमाणित न होकर स्वयं-प्रमाणित है। कान्ट के अनुसार एक व्यक्ति अपने आत्मा की मौलिक शुद्धता की अनुमति अपने नैतिक इच्छा-शक्ति में ही कर सकता है। यह नैतिक इच्छा-शक्ति परमशून्य है, निरपेक्षतया शून्य है तथा अपने आप में शून्य है, क्योंकि यह सत्य है और सत्य ही ही उच्च बुद्धि में नहीं है। इस प्रकार कान्ट के दार्शनिक निबन्ध में ज्ञाता आत्मन् और कर्ता आत्मन् यानि शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि से सम्बन्धित एक यथार्थ द्वैत का साक्षात्कार होता है। व्यावहारिक बुद्धि की प्राथमिकता और शुद्ध-बुद्धि का सापेक्षिक स्वरूप--दोनों ज्ञान और नैतिकता के बीच एक तार्किक उत्पन्न कर देते हैं। यह सत्य ही सकता है कि कान्ट द्वारा की गयी युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की आलोचना तर्कसंगत ही परन्तु यह भी स्पष्ट रूप से कहा जा सका है कि बाण समकालीन योरोपीय दर्शन, भारतीय दर्शन तथा विशेषरूप से ज्ञान दर्शन में इस दृष्टिकोण को किसी ने भी नहीं अपनाया है, जिसकी जाड़बना कान्ट युक्ति-युक्त मनोविज्ञान का सण्डन करने के लिए स्वीकृत एवं इच्छित रूप से करते हैं। बाण यह युक्ति-युक्त मनोविज्ञान एक ऐसा काल्पनिक कथन बन गया है कि कोई भी विचारशील दार्शनिक इस विषय को स्वीकार नहीं करते। वेदान्त दर्शन के लिए भी यह एक काल्पनिक विषय बन गया है, यह भी इसी एक गम्भीर विन्तन के रूप में नहीं अपनाते हैं।

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान पर कान्ट की सीमांसा को अपनी आलोचना के परिणामों में हम जो कुछ भी विन्दित करना चाहते हैं, वह यही है कि हम निम्न वाक्यों को प्रतिपादित करने में बहुत उत्सुक हैं :--

(१) आत्म-नेतृता की एकता केवल एक तार्किक एकता ही नहीं है, यद्यपि इसका स्वरूप अतीन्द्रिय है परन्तु फिर भी एक मनोवैज्ञानिक स्थिति में इसका

१. जॉन वाटसन, दि फिलॉसफ़ी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३८५,

लैबिस व्हाइट बेक, हमेंतुल कान्ट, फ्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न एण्ड लवर,

राइटिंग्स इन मॉरल फिलॉसफ़ी, पृ० २३२

साक्षात्कार होना असंभव नहीं है, इसकी अनुमति विषय-कोटि की नहीं है, पूर्ण रूप से विरुद्ध अतीन्द्रिय प्रकार की है जैसा कि श्रीकृष्ण-बन्धु मद्दानार्थ ने अपने निबन्ध 'सबलैक्ट ऐण फ्रीडम' में कहते हैं।

—सम्बन्धित

(२) नैतिक स्थिति में 'वैतना की एकता' की वास्तविकता से कान्ट का विषय पूर्णतया एक उचित आधार हो सकता है, जबकि हम इसमें इस विवेकता की वृद्धि कर दें कि कान्ट ने 'नैतिक साध्य' के स्वरूप का वृद्धिपूर्ण तथ्य समझा है और यदि नैतिक रूप में पतित होना अपूर्ण होना है तो अपूर्णता की समस्या उचित रूप में ठीक अज्ञानता की समस्या के समान है और अज्ञान का बाधित हो जाना तथा नैतिक दृष्टि-शक्ति का क्रियात्मक होना दो वस्तुएं नहीं हैं।

यहां हमें निम्न प्रश्नों को भी दर्शाना होगा—

(१) कि ज्ञान की स्थिति में 'वैतना की एकता' को बिना किसी क्षति के विषय-अन्तर्वस्तु से पृथक् किया जा सकता है। यह एक पूर्ण तत्त्व है जतः इसमें कुछ भी वृद्धि नहीं की जा सकती और न तो इसमें से कुछ कम ही किया जा सकता है।

(२) कोई भी नैतिक सिद्धान्त जो नैतिकता या 'नैतिक अपूर्णता' की समस्या का अज्ञान की समस्या के साथ तादात्म्य स्थापित करना अवधीकार कर देता है, अपने आपको 'अनन्त सक्रियतावाद' के 'अवस्था-दीप' में फँसा देने के लिए बाध्य हो जाता है। 'नैतिक सक्रियतावाद' सब अन्तर्वस्तुओं से विच्छेदित

१. कैसी० मद्दानार्थ, दी सबलैक्ट ऐण फ्रीडम, पृष्ठ ७० से ६६, देखिए, कैसी० मद्दानार्थ, दि स्टडीज़ इन फ़िलासफ़ी, पृष्ठ ३०-३३।

२. यहाँ हम यह बतलाना चाहते हैं कि अज्ञेय तत्त्व ही परमार्थ है, उसमें ज्ञेय का समावेश हो अभाव बाधित है तथा ज्ञेय में ही उपलब्ध और आधार के भेद दृष्टिगत होते हैं यदि हम भेद को मान कर नहीं तो लक्ष्य अर्थात् मोक्ष-साधन ही दूर बना रहेंगे और हमें यह भी प्रामाण्य बनी रहेगी कि हम उसे कभी-न-कभी पूर्णरूपेण प्राप्त कर लें। ज्ञेय-अज्ञेय आधार की स्थिति आपेक्षित विज्ञेय के सम्बन्ध में अवस्था-दीप से व्यभिचरित है।

एक इच्छा-शक्ति से शून्य नहीं है। वात्स-तत्त्व की पूर्णता के साथ ही यह सह-विरतारित है।

‘वैतना की एकता’ के विषय में कान्ट की विचारधारा का हम जाँसिक समर्थन करते हैं एवं जाँसिक धिरोष भी करते हैं। वैतना की एकताकेयुक्ति-युक्त मनीषिज्ञान की तर्कगतता से सम्बन्धित उनके पार्श्वों के विरुद्ध हमें केवल यही कहना है कि एक अवस्थितयुक्त सत्ता के साथ वैतना की एकता को प्रतिष्ठित करने के क्रम में हमें एक युक्ति-युक्त मनीषिज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि एक अतिमिद्वय या आध्यात्मिक मनीषिज्ञान की आवश्यकता होती है, और ऐसे मनीषिज्ञान के अन्तर्गत वैतना की एकता के तथ्य और दुर्बलता के अभाव में वस्तुगत अन्तर्वस्तु से विषयी का एक पूर्ण पृथक्करण फलीभूत हो सकता है। कान्ट का यह एक स्वीकृत एवं ग्राह्य दृष्टिकोण है कि वैतना की एकता ज्ञान का एक विषय नहीं बन सकती। अतः कान्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि ‘ज्ञानात्मक कार्य’ को निष्पादित करने के कारण यह केवल एक तार्किक एकता है, और इसीलिए इसे कोई तात्त्विक स्थिति नहीं प्रदान की जा सकती। इसे एक तात्त्विक स्थिति प्रदान करने का तात्पर्य यह है कि--(१) इसे प्रत्यक्ष प्रदान करना। (२) और वस्तुगत अन्तर्वस्तु अथवा विषयगत स्थिति के साथ इसके फँसाव से इसे पृथक् करना। ज्ञाता अथवा विषयी को वस्तु-विषय के रूप में प्राप्त करना एक न्याय-अज्ञात बात है। इसी न्याय अज्ञातता को ही कान्ट युक्ति-युक्त मनीषिज्ञान के तर्काभास की अपनी जालीबना द्वारा प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं और उनका यह अदृष्ट विश्वास है कि युक्ति-युक्त मनीषिज्ञान ने आत्मा को ज्ञान का एक विषय बना कर उसका आत्मा को प्रत्यक्ष बता कर अनुभवातीत तर्कशास्त्र के विरुद्ध एक अपराध किया है। अतः हम अपने विवाद-विषय में यह विश्वास लाँगा कि-- (१) वैतना की एकता; जिसे यह जानती है उन ज्ञेय वस्तुगत अन्तर्वस्तुओं से फिरोप्य तत्त्व है (२) और ‘वैतना की एकता’ को अनिवार्यतया यथार्थ एकता के रूप में प्रतिपादित करने का तात्पर्य यह है नहीं है कि यह एक प्रत्यक्ष है। यदि तात्त्विक रूप में ‘वैतना की एकता’ से सम्बन्धित वैदान्त की युक्तियों तथा शिष्टान्त को हम उपस्थित करें तो

हमें स्पष्ट रूप से परिचित होता है कि किस तरीके से अद्वैत दर्शन परतुर्वा की ओर दृष्टिपात करता है उसी उपाय से हम भी उपर्युक्त दोनों वशावा की पूर्ण करने में सफल हो सकेंगे। अनुभववाचक रूप में वेतना की ज्ञान मीमांसात्मक एकता अनुभव का एक विषय है। यह केवल एक तार्किक नियम है, ऐसा इसलिए है कि यह ज्ञान की स्थिति में प्रवेश करता है और अनुभव का संघटक है। तावात्म्य नियम या कारण-कार्य नियम अनुभव में प्रवेश नहीं करते, वे अनुभव के उपादान-तत्त्व नहीं हैं, वे केवल वह साधे या स्वरूप हैं जिनमें अनुभव निर्मित होता है। परन्तु 'वेतना की एकता' ज्ञाता के रूप से अनुभव में प्रवेश करती है, इसलिए ज्ञाता वहां एक तार्किक नियम अथवा तार्किक सिद्धान्त के रूप में नहीं रहता है। यह अनुभव का एक वर्तमान सक्रिय व सजीव पहलू है तथा सभी अर्थपूर्ण भाषण द्वारा पूर्वापिहित है। परन्तु पुनः कोई भी चिन्तक यह प्रश्न प्रस्तुत कर सकता है कि यह कैसे एक तार्किक सिद्धान्त नहीं है? पुनः वेदान्त दर्शन के दृष्टान्त द्वारा उसकी पुनरावृत्ति करते हुए इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कहेंगे कि गहन सुशुद्धि का एक विश्लेषण हमें गहन मित्रा या सुशुद्धतावस्था द्वारा वेतना की निरन्तरता अथवा अविविच्छिन्नता का कटू विश्वास दिलाता है। वे व्यक्ति सुशुद्धतावस्था में रहता है वही जागृतावस्था में भी उपस्थित रहता है। यदि कोई यह तर्क प्रस्तुत करता है कि गहन मित्रावस्था में वेतना का अभाव रहता है तो उसे मही प्रकार यह पूछा जा सकता है कि उन्हें वेतना के अभाव की अनुमति होती है या नहीं? वेतना का अभाव है; वेतना का अभाव नहीं है,--हम दोनों ही स्थितियाँ हैं हमें विषयी ज्ञाता का एक 'वेतन्य' के रूप में ही स्वीकार करना होगा। प्राग् मित्रा से सम्बन्धित कोई भी निश्चयात्मक कथन वेतना की सत्ता का स्वीकार करता है और यह वेतना जागृत, स्वप्न तथा सुशुद्धि--हम तीनों अवस्थाओं में अबाधित तथा अविविच्छिन्न बनी रहती है। मातृव्य उपनिषद् द्वारा वेतना के मनीषिज्ञान का एक सर्वसंगत समुचित विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसी मूल सिद्धान्त पर श्री गौड़पाद ने अपने आगमशास्त्र में टीका की है।

विषयों के सम्बन्ध में माण्डूक्य उपनिषद् द्वारा प्रस्तुत विवेचना का प्रमुख अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि वेतना के दो प्रकार होते हैं--(१) सापेक्ष वेतना--इसके अन्तर्गत अनुभव की जागृत और स्वप्नावस्था आती है, (२) निरपेक्ष--इसकी अन्तर्गत (क) सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रावस्था) तथा (ख) तुरीयावस्था (त्तीन्द्रिय) आती है । सुषुप्ति या प्रगाढ़ निद्रावस्था एक ओर तो अनुभव में समाहित जागृत और स्वप्नावस्थाओं तथा कूटरी और त्तीन्द्रिय अवस्थाओं के बीच एक स्थिति है । यह अनुभव के समाप्त है, क्योंकि सापेक्ष ज्ञान की वापस लाने के लिए सुषुप्ति अवस्था में यह एक अन्तःशक्ति है । सुषुप्ति के टूट जाने या भंग हो जाने के पश्चात् स्वप्नावस्था तथा जागृतावस्था हैं। स्थान ग्रहण करती है । सुषुप्तावस्था में यो सापेक्षता समाप्त नहीं होती परन्तु इस कारण यह कहना भी त्रुटिपूर्ण होगा कि प्रगाढ़ निद्रा सापेक्ष है । यह पूर्णतया निरपेक्ष है । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यहाँ वेतना का अभाव है या इसकी अनुपस्थिति है । इस प्रकार की मनोवृत्ति अधिकारतः पारमार्थ्य धार्शनिकों में प्राप्त होती है जो प्रगाढ़ सुषुप्ति की वेतनाशून्य तथा ज्ञानशून्य रिक्तता के रूप में उल्लिखित करते हैं । इन धार्शनिकों ने ज्ञान या वेतना जैसा जोह इन शब्दों का प्रयोग आनुभविक अर्थ में किया है । यही प्रवृत्ति हागल, कैयट, वैडल, वासंके तथा हागल के अनुयायियों की विचारधारार्यों में प्राप्त होती है । वात्सा का ज्ञान स्वयं अपने ही द्वारा एक प्रतिवर्ती अनुव्यवसाय में समझा जाता है जिसे आत्म-वेतना की ' अभिवार्य-अवस्था ' के रूप में ' विषयी-विषय ' जैसा ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत की आवश्यकता होती है । कान्ट के इस निश्चित कथन से कि 'यदि वेतना की एकता' एक सत्तात्मक तत्त्व है तो इसे अवश्य ही ज्ञेय होना चाहिए, यह प्रतीत होता है कि कान्ट ने भी अन्य अधिकारतः योरोपीय धार्शनिकों की भाँति आत्म-वेतना की समस्या का हल किया है । वे आत्म-ज्ञान को केवल इसी रूप में अवलम्ब बताते हैं कि वेतना की अनुभावी स्फूर्ति की एक वस्तु-विषय में -- -- -- -- --

१. माण्डूक्य उपनिषद्, गौणपादीय कारिका, शांकरभाष्य, १-११, १२

२. एंती० मुल्की, दी वेयर ऑफ़ सेल्फ़, पृ० २३६-४६ तथा एफ० एच० ग्रैडल, एस्सेज़ ऑन ट्रूथ एण्ड रियैलिटी, पृ० १६५

३. कैयट, हागल, पृ० १४७, तथा ग्रैडल, एस्सेज़ ऑन ट्रूथ एण्ड रियैलिटी, पृ० १६०

रूपान्तरित नहीं किया जा सकता है।^१ ब्रुंकि वात्सा के इस रूप को निर्धारित करने में उन्हें कठिनाई का अनुभव हुआ इसी कारण उन्होंने अपना युक्ति को सीमित किया तथा वात्सा को केवल एक 'तार्किक एकता' के रूप में वर्णित किया। वात्सा को एक सदा के रूप में प्रतिष्ठित करने के डब्लूक होगल और फिश्टे दोनों ने हो 'विराधी' की एकता के रूप में 'वात्स-वेतना' की म्याय-संगतता के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यहाँ पर 'विषयी-विषय' अर्थात् 'ज्ञाता व ज्ञेय' का होना ही विरोध है 'जिनमें वात्स-वेतना' ही समन्वय है। 'होगल और फिश्टे दोनों वास्तविकों ने वात्सा को सापेक्ष रूप दे कर उसे एक तार्किक स्थिति के साथ प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार हम अपने आप को पुनः एक वामुभक्ति मनोविज्ञान के दल-दल में फँसा हुआ पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि होगल की विचारधारा के समर्थकों ने काम्ट की चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया, और उन्होंने भी ज्ञानमीमांसात्मक समस्या के समाधान के लिए मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करके एक मूल की है। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत समस्या यह है कि वात्सा को कैसे जाना जाता है? यदि हम कहें कि इसी वस्तुओं के ज्ञाता के रूप में जाना जाता है तो यहाँ हमें एक 'प्रतिवर्ती अनुव्यवसाय' का सहारा लेना पड़ता है, जो हमें नैयायिकों के अनुव्यवसाय की स्मृति दिलाता है, और ऐसा करने पर यहाँ 'अनवरथा बोध' उत्पन्न हो जाता है। श्री अनुकूलचन्द्र मुक्जी ने अपनी पुस्तक 'नेबर बोफ़ सेल्फ' में इस मूल को 'अनुभवातीत-विस्थापन' के नाम से निर्दिष्ट किया है। वात्सा को अपनी केंद्रीय स्थिति से हटाया नहीं जा सकता है। यदि यह एक 'ज्ञेय सत्ता' है अर्थात् जानने योग्य वस्तु है तो पूर्व समय के इस ज्ञाता को जानने के लिए एक अज्ञात विषयी या ज्ञाता की आवश्यकता होगी। वकैले तथा पाश्चात्य परम्परा के अधिकांश विज्ञानवादी विचारकों ने वाधशात्मक परिकल्पनावर्ती को स्थापना द्वारा ही वात्सा के लिए एक स्थिति प्राप्त की है।

१. एनके० रिम्प, समैनुजल काम्ट्स क्रिटिक ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ३६५

२. रिचर्ड प्रोल्मैन्का, सिस्टी बोफ़ मोडर्न फ़िलासफ़ी, पृ० ४६७ तथा ४२७

३. एस्सी० मुक्जी, दि नेबर बोफ़ सेल्फ़, पृ० १२ तथा सेल्फ़ थोट एण्ड रियेसिटी, पृ० ३५२

परन्तु विज्ञानवादी परिकल्पना विधारी तत्त्वार्थ के समान है, चाहे वह कलै की मान्यता ही जल्दा होगल की । विषयी के ज्ञास में वस्तु विषय नहीं रहता परन्तु उसी कारण वस्तु-विषय के ज्ञास में विषयी भी नहीं हो सकता । ड्रेडले के विचारानुसार विषयी और विषय के बीच बहुत-सी सामग्रियाँ रचाना-मस्तरणीय है । अतः इन दार्शनिकों के अनुसार विषयी और विषय के मध्य कोई भी सुरपष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है । इसी विचारधारा का प्रतिपादन ड्रेडले रचल ने भी किया है और उन्होंने विषयी-विषय के भेद को 'क्रियात्मक-परिकल्पना' के द्वारा स्पष्ट किया है । विषयी प्रकाशमान है जल्दा चेतन है क्योंकि यह ^{राज}मौलिक ज्ञास की घटनावाँ से भिन्न एक माध्यम में घटित होने वाली एक घटना है । जिसमें इस प्रकार की घटना घटित होती है वह माध्यम 'संस्थित' है । 'गिल्बर्ट राइल' ने इस बात को अन्य शब्दों में व्यक्त किया है, उनका मन प्रत्यय व्यवहारवाद की भाषा में आत्मा से सम्बन्धित वाक्यांशवादियों के दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति है ।

इस सन्दर्भ में हमारी विधिति का संक्षिप्तीकरण निम्न प्रकार का है :--

- (१) विषयी सत्य है ।
- (२) विषयी निरपेक्ष है ।
- (३) विषयी ज्ञेय है ।
- (४) यह वस्तु-विषय के रूप में ज्ञेय नहीं है ।
- (५) यह द्रव्य नहीं है ।

उपरोक्त विचारों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रकार से होगा ।

विषयी सत्य है क्योंकि यह कालातीत एवं शाश्वत है और अन्तिम विश्लेषण में इसे पूर्ण करने वाला जल्दा हसका विरोध करने वाला कोई भी तत्त्व नहीं दृष्टिगत होता है । यह निरपेक्ष है क्योंकि सुक्ष्मावस्था में भी यह अपने आप उपरिधत रहता है । यह ज्ञेय है, क्योंकि यह स्वयं-प्रकाश या स्वयं-ज्याति

१. ड्रेडले, एस्सेज ऑन द्यु एण्ड रियलिटी, पृ० १६०, तथा स्प्रिगर्स एण्ड रियलिटी, पृ० ८६-८७

२. हीरोसो वाँ कोन्स, ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ वेस्टर्न फ़िलासफी, पृ० ४८१

३. वही, पृ० ४४७, जिसमें किन्टन ने गिल्बर्ट ^{राज}के विचारों की एक स्पष्ट विवेचना प्रस्तुत की है ।

है क्योंकि स्वरूप में यह शुद्ध अपरोक्षानुभूति रूप है । अज्ञेय-वर्जन साहित्य में इसको स्वयं प्रकाश के रूप में वर्णित किया गया है । यह वस्तु-विषय के रूप में ज्ञेय नहीं है क्योंकि इसकी विद्युद और अनुभवातीत वात्स्य-निष्ठता को अवधीकार कर देने से 'चित्तसुख' के अनुसार सम्पूर्ण वस्तु-ज्ञात या विषय-ज्ञात ही अवधीकार में मिलान हो जायेगा क्योंकि ज्ञावांध्य हो जायेगा ।

युक्ति-युक्त मनोविज्ञान के प्रति कान्ट की अपेक्षा एक वात्स्य-द्रव्य के रूप में उनके विरोधी विचारकों के दृष्टिकोणों की बारम्बार पुनरावृत्ति करती है । इस प्रसंग में हमें यही दिखाना है कि जब भी हम वात्स्या को एक वास्तविक सत्ता या तात्त्विक सत्ता के रूप में ग्रहण करते हैं तब इसका अर्थ यह नहीं है कि यह केवल एक तार्किक पूर्वमान्यता है वरन् एक द्रव्य है । द्रव्य की परि-कल्पना ने दो कार्यो को पूर्ण करने का विचार रखा है--प्रथम कार्य दो या दो से अधिक ऐसे गुणों का एक साथ विचार करना है जो एक दूसरे में समाहित नहीं होते तथा प्रायः निश्चित रूप से एक दूसरे से अलग हो जाते हैं । द्वितीय कार्य यह है कि द्रव्य का द्रव्य भी दो परस्पर विभिन्न गुणों-विचार और विस्तार से कुछ वर्णित किया गया है । यहाँ जल-रज्जु गुण की अपेक्षा द्रव्य ही अधिक व्यापक है तथा द्रव्य और गुणों में एक भेद वास्तविक भेद है । द्वितीय कार्य यह है कि द्रव्य का विचार द्रव्य को ही रथायित्व प्रदान करने का कार्य पूरा करता है, जबकि गुण अपायी होते हैं, उदाहरणस्वरूप नैयायिकों का वात्स्य । इस विधिति में भी भेद सत्य है । वस्तुतः एक के अज्ञाशब्द होने पर दूसरा भी स्वामाधिक रूप से अज्ञाशब्द हो जायेगा ।

इस प्रकार हमें वस्तुतः वात्स्य द्रव्य नहीं हो सकता । यदि हमें वात्स्या को केवल एक तार्किक सत्ता या अनुभवातीत ज्ञानात्मक सत्ता की अपेक्षा एक उच्च तत्त्व के रूप में अपनाना है तो हमें कान्ट को आलोचना के विरुद्ध भी कुछ

१. चित्तसुखी, तत्त्वप्रदीपिका, उवाचीन संस्कृत विद्यालय ग्रन्थमाला, पृ० १६

२. सूत्र, पृ० ३२

३. अमुपर यथा, इण्डियन फ़िलोसफ़ी: एक क्रिटिक्ल सर्वे, पृ० १६५-१६६

कहना होगा । 'दृव्य' के स्वभाव के साथ प्रतिष्ठित होने के अभाव में समाकल्पन की अतीन्द्रिय स्वता तात्त्विक रूप में जानी जा सकती है । आत्मन् सत्य है सक्ता है इसीलिए यह 'अ-दृव्य' के रूप में वाच्य है । यह केवल एक ज्ञानमीमांसात्मक पूर्वमान्यता नहीं है बल्कि एक तात्त्विक सत्ता है ।

अब हमें यह स्पष्ट एवं प्रमाणित करना है कि यह तात्त्विक सत्ता कान्त द्वारा प्रतिपादित केवल नैतिक आत्मा ही नहीं है बल्कि यह आत्मन् विद्वत् ज्ञान-स्वरूप है । इस दिशा में हमें केवल यही निर्दिष्ट एवं सूचित करना है कि 'नैतिक-आदर्श' और 'तात्त्विक सत्ता' दो तत्त्व नहीं हैं, एक ही अद्वैत तत्त्व है । नैतिक आदर्श अथवा नैतिकता के दृष्टिकोण से जो कुछ वर्णित है वह 'मात्ता' है तथा बुद्ध तत्त्व-ज्ञान के दृष्टिकोण से जो कुछ वर्णित है वही 'आत्मा' है । प्रथम तो अत्यधिक सामान्य सत्ता है तथा द्वितीय अत्यधिक व्यापक सत्ता है । इनमें अधिष्ठित वस्तुएं आभास अथवा प्रतीति में भी सत्तायुक्त होती हैं ।

ज्ञान प्रति नैतिकता; तात्त्विक रूप में सत्य और नैतिक रूप में आदर्शात्मक आत्मन
 ~~~~~  
 का तादात्म्य --  
 ~~~~~

सृष्टि-युक्त मनाविज्ञान के आन्वीक्षात्मक सण्डन के परिणाम से ऐसा विधित होता है कि यह विशेष रूप से एक ही प्रमुख लक्ष्य की निर्दिष्ट करता है । जो अनुभव के सम्भाव्यता की एक अभिवार्य अवस्था है, उसे वेतना की एकता का प्रकृति में सक्रिय नियतिवादी गतिवाद के शिक्षण से उद्धार करना है । यह नियतिवादी गतिवाद प्रत्येक वस्तु की अनुबद्ध करता है इसलिए यह वेतना की स्वता को भी अनुबद्ध करता है । परन्तु इसका उद्धार कैसे हो ? परिणामस्वरूप यह प्रश्न उठता है कि वह 'एकता' क्या है जो गति प्रकृति के हरे क्रियात्मक गतिवाद से पूर्णतया युक्त है ? अन्य शब्दों में मुक्तात्मा क्या है, इस प्रश्न का सीधे ही उत्तर देने के लिए हम इसकी एक तात्त्विक प्रतिमूर्ति को प्रस्तुत करेंगे । वेतना के

१. टी० नारणी० मूर्ति, पि रैसल बैसिस ऑफ अद्वैतिज्म, पि इण्डियन फिलोसफ़ीकल क्वार्टर्ली, १९३०, वॉल्यूम-६ नं० १, पृ० ८९

अनुभवातीत एकता की जानकारीमाँसा इस तार्किक प्रतिमूर्ति से साक्षात्कार करती है। यह प्रश्न आत्मा की अस्तित्ववक्ता की अनिवार्य एवं अपरिहार्य बनाते हुए यह सूचित करता है कि वस्तुतः स्वातंत्र्य ही आत्मा है अर्थात् एक आत्मा है जो पारस्त्विक रूप से स्वतंत्र है और यह जाना भी जा सकता है, यदि यह नहीं जाना जाता तो यह आत्मन् का दोष नहीं है बल्कि हमारी समझ अथवा बुद्धि का दोष है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि हम आत्मा को नहीं जान पाते तो यह हमारी जानने की विधि का दोष है, न कि आत्मा का दोष है। इस आत्मन् का ज्ञान अपने ज्ञान की असम्भाव्यता से जुड़ नहीं होता है, कान्ट ने इस प्रकार प्रश्न का उत्तर ^{नहीं} दिया है। यह आत्मा के उस प्रत्यय से अत्यन्त गूँसित तथा अभिभूत है जिसे प्रकृति के एक अंश के रूप में समझा व अपनाया गया है अर्थात् जो एक प्राकृतिक सत्ता है, इससे अधिक कुछ नहीं है। कान्ट के अनुसार वह सुख तथा तैय आत्मन आवश्यक रूप से एक प्राकृतिक आत्मन है और निःसन्देह वह प्रकृति में ही स्थित है तथा जिसमें प्रत्येक विषय अनुबद्ध है। अतः कान्ट का कथन है कि कोई ऐसा आत्मन् नहीं है जो स्वतंत्र हो अथवा स्वयं ही स्वातंत्र्य हो। आत्मा को अनिवार्य रूप से प्रमित एवं बाध करने वाले सभी बन्धनों से स्वतंत्र अथवा मुक्त होना है, और इस मुक्त होने के संघर्ष में अत्यन्त अपेक्षित रूप से हमें एक 'नैतिक प्रयत्न' के जेतना की अनुमति प्राप्त होती है। एक ऐसा इच्छात्मक या संकल्पात्मक प्रयत्न, एक ऐसा संघर्ष व प्रयास जो आत्मा को इसके बद्ध अस्तित्व से परे पहुँचा कर एक अनुभवातीत स्थिति पर प्रतिष्ठित कर देता है। परन्तु कैसे? कान्ट कहते हैं कि स्वयं आत्मा की अनुमति या इच्छा द्वारा ही ऐसा संभव है। यह इसी प्रकार का विश्वास है कि एक व्यक्ति यहाँ-वहाँ स्थित किसी स्थान में न जा कर अपने आप में ही समाहित हो सकता है। परन्तु समस्या यह है कि कर्ता स्वयं कृतकार्य भी कैसे हो सकता है? एक अत्र स्वयं को नहीं देव सकता, एक सर्व स्वयं अपने आपको नहीं निमल सकता तथा एक नट स्वयं

१. जेन वाटसन, डि फिलोसफी ऑफ कान्ट एक्स्प्लेण्ड, पृ० ३३२, तथा

ए००८बल्डू० कैसरर, ए कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटिक ऑफ जजमेंट, पृ० ६७

अपने कर्मों पर नहीं बढ़ सकता । तब: केवल यही कह कर पर्याप्त रूप से कुछ भी नहीं प्राप्त किया जा सकता कि मानव की स्वतंत्रता विशुद्ध इच्छा-शक्ति की इच्छा करने में ही निहित है तथा यह इच्छा-शक्ति प्रज्ञा है, अतीन्द्रिय है और यह ज्ञान में क्रियान्वित नहीं होती वरन् कर्म में ही क्रियान्वित होती है । इस प्रकार 'नैतिक कर्म' विशुद्ध कर्म है, और बुद्ध-बुद्धि भीमांश इस तत्त्व को उत्पत्तिक मशवा प्रदान करती है कि केवल एक अज्ञात तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए स्वतंत्रता एक सम्पादित तत्त्व के रूप में अवस्थित वस्तुओं की कोई अवस्था नहीं है । दूसरी ओर यह एक नैतिक आदर्श है, एक विधिप्राप्त उपरम्भ है, जो किसी की अपूर्णता में हो अन्तर्निहित है । नैतिकता पूर्णता की मार्ग है, यह कर्म में ही अपेक्षित एवं कल्पित है अथवा जिसे कर्म द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है तथा जो सार्वभौमिक कर्म या विशुद्ध इच्छा-शक्ति की इच्छा करती है^१ । परन्तु नैतिक इच्छा-शक्ति सामान्यनीति वक्तों की सभी वस्तु संरचनाओं के साथ एक दृष्टि में सम्मिश्रित होती है । यह दोष अधिकांश योरोपीय वास्तविक के नैतिक आचार-सिद्धान्त में प्राप्त होता है । नैतिक तात्पर्य किसी स्वीकृत उपरम्भ की मार्ग प्रतीति होता है, जो कर्ता को वास्तव या मूर्त रूप में रहने के लिए बाध्य करता है। कर्ता इसकी सीमा में ही गिरत रहता है और जितना ही अधिक यह इस सीमा में जागे बढ़ता जाता है, उतनी ही गति से यह एक दूरस्थ अव्यक्तमय प्रविष्टि में वापस आ जाता है । काम्न्ट के कथनानुसार सत्य नैतिकता में 'संशुण्ण' को सुत से साधुज्व करना है और जूँकि इस प्रकार से यहाँ एक अवस्था-बोध की संभावना का संकेत प्राप्त होता है इसलिए काम्न्ट नैतिक आदर्श के प्राप्ति की अनिवार्य अवस्था के रूप में 'आत्मा की अपरता' को एक आचार-मूल के रूप में प्रस्तावित करते हैं । नैतिक अपूर्णता, नैतिक साध्य तथा काम्न्ट की विन्तव-

१. जॉन वाटसन, 'वि फिलोसफ़ी ऑफ काम्न्ट एक्स्प्लेण्ड', पृ० ३३१-३२

२. लेमिस, 'व्हाट कै, हमें गुल्ल काम्न्ट क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न', पृ० २२५-२६

प्रक्रिया में सिद्धि की संभाव्यता का सम्पूर्ण विचार-विमर्श इसी तथ्य के कारण वृक्षित हो गया है कि कान्ट ज्ञान की समस्या से ही उत्तरदायित्व हो गये और इसी कारण वह यह भी विचार नहीं कर पाये कि-- 'मानवीय अपूर्णता' का अनुवाद 'मानवीय ज्ञान' के माध्यम में किया जा सकता है। यदि कान्ट ने 'अपूर्णता की समस्या' को 'ज्ञान की समस्या' के रूप में समझा व निरूपित किया होता अथवा उसे 'ज्ञान की समस्या' के समान स्तर वाला ही समझा होता तो निःसन्देह उम्हने 'सत्य' एवं 'वाक्य' के बीच एक संबंधित सार्व का सृजन न किया होता। अतः नैतिकता के स्वरूप के लिए ये दो बातें अपेक्षित हैं--

(१) वाक्य का स्वयं-सिद्ध स्वभाव तथा (२) अनुभव में इसकी प्राप्ति अर्थात् एक उपयुक्त तरीके से इसकी प्राप्ति। जिस स्थिति में कर्ता के लिए 'नैतिक साध्य' को एक वाक्य दूरस्थ वृष्टि के रूप में प्रस्तुत किया तथा जिसकी अनुप्राप्ति एक दीर्घ अवधि वाले, अन्त कर देने वाले अथवा अनन्त मधिम्य में होता है, उस स्थिति के विषय में कान्ट का विश्लेषण ही 'नैतिक वाक्य' को उसके स्वतः सिद्ध स्वरूप से वर्णित कर देता है। आत्मा जिस वाक्य रूप से जानता है, उसी निरपेक्षतया सत्य रूप में स्वीकार भी किया जा सकता है और नहीं भी स्वीकार किया जा सकता। ऐसे स्वरूप में परिलक्षित उपरम्भ ही संभवतः विरोधा की उत्पत्ति का आधार है और इसीलिए यह प्रतिबन्ध है तथा स्वतंत्रता या मुक्ति का व्याघाती है। कान्ट के विचारानुसार यही 'नैतिकता की ज्ञानि' अथवा उसका 'विश्राम' है। इसके अतिरिक्त जो स्वीकृत तथा दूरवर्ती साध्य है, वह अनुप्राप्ति का विषय नहीं है तथा गंतव्य तक पहुंचने की संभाव्यता के अभाव में अनन्त संघर्ष व प्रयास का नियोजन करता है। 'मानवीय अपूर्णता' की समस्या को 'मानवीय ज्ञान' की समस्या में अनुवादित करके हम कान्ट के सपना एक संशय का प्रतीक रखते हैं। 'नैतिक उपरम्भ' के विषय में यही ज्ञान है। यह 'नैतिक उपरम्भ' एक 'सविच्छा' नहीं है जो 'समुच्च' और 'सुख' की स्वता का विश्वास दिलाता है।

'नैतिक उपरम्भ' स्वयं ही मुक्ति है तथा 'मोक्ष' के रूप में इसका निरूपण भी किया गया है। परन्तु यह मोक्ष काल के माध्यम में प्रातिशील एक फल के द्वारा नहीं

१. टी० वार० पी० मूर्ति, वि रैशनल बेसिस ऑफ अद्वैतिज्म को दि इण्डियन

फ़िलॉसॉफिकल क्वार्टर्ली, बॉल्युम-६, नं० १, १९३० ई, पृ० ५७-८१

प्राप्त किया जा सकता है। वह स्वयं हो जाता है। केवल ज्ञान ही ही
 छटाना है। किसी की दृष्टि से केवल ज्ञान के पक्षों को ही छटाना है, और
 जब हम यह अनुमति दोगी कि यह 'विवक्षित उपरम्' हमारी यथार्थ सत्ता से
 अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह यथार्थ सत्ता स्वयं ही हमारा 'विवक्षित उपरम्'
 है, 'आत्मा' है और एक 'तात्त्विक आत्मन्' है, परन्तु फिर भी यह नैतिक वाक्य
 आत्मन् से अभिन्न है अर्थात् नैतिक वाक्य-आत्मन् का ही दूसरा नाम मोक्ष है,
 मुक्ति है। उपनिषद् का मोक्ष भी आत्मा है।

(२) बुद्धि-मुक्त ईश्वर-मीमांसा

विचार के विभिन्न स्तरों पर वास्तविकता द्वारा ईश्वर-विषयक समस्या
 का निरूपण किया गया है। बुद्धि वास्तविक कान्त एक नारितक नहीं है, इसलिए
 वह भी ईश्वर-विषयक समस्या से सम्बन्धित दो विचार-स्तरों का निरूपण करते
 हैं :--(क) विशुद्ध रूप से सैद्धांतिक, और (ख) व्यावहारिक -- इस प्रसंग में व्यवहार
 से तात्पर्य केवल नैतिक व्यवहार से है। जबकि कान्त ईश्वर की सत्ता रसात्मक
 विषयताओं तथा जटिलताओं में बुद्धि-बुद्धि द्वारा निरूपित एक योग्य विषयों
 के रूप में स्वीकार नहीं करते, वही अन्तिम विश्लेषण में हम को हमें तथा
 'बहुम जो अमु' अर्थात् नैतिक नियमों का प्रतिपादन करने के लिए ईश्वरों को
 एक यथार्थ सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः स्पष्ट है कि कान्त ईश्वर-विषयक
 दृष्टिकोणों व विचारों से विमुक्त नहीं है। वह बुद्धि बुद्धि के प्रयोग द्वारा निरूपित
 एक यथार्थ सत्ता के रूप में ईश्वर-विषयक हमारे ज्ञान की रक्षा से विमुक्त है।

१. टी०आर०बी० मुर्ति, वि रैमल वेसि ऑफ़ अद्वैतम्, फ़िलासॉफ़िकल क्वार्टली
 १९३०, बॉल्यून-६ नं० १ पृ० ५७

२. डेविड ह्वार्ट वेन, इमेनुअल कान्त क्रिटिक् ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २३२

३. एन०के० रिमथ, इमेनुअल कान्तस क्रिटिक् ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ५२६, तथा
 डी०पी० द्रायर, कान्तस बॉल्यून ऑफ़ वेरिफ़िकेशन इन मेटाफ़िज़िक्स, पृ० २४

"Kant does not hold that there is no justification for believing in these doctrines. The conclusion which he reaches is rather that these are matters of metaphysical speculation upon which no knowledge is obtainable."

युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा द्वारा वर्णित ईश्वर, सत्य ईश्वर नहीं है। ईश्वर
 बुद्ध-बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण इस अर्थ में करते हैं कि ईश्वर बुद्धि द्वारा
 वस्तुनिष्ठ नहीं किया जा सकता। बुद्धि जिसे भी जानने व वर्णित करने का
 दावा करती उसे ज्ञान के एक वस्तु-विषय के स्वरूप का होना चाहिए, परन्तु
 अर्थात् ईश्वर एक विषयी का विषय नहीं हो सकता या चिन्तन का वस्तु-
 विषय नहीं वह एकलक्षण होता और फिर भी हम उसका प्रत्यक्ष कर सकते हैं,
 तो ऐसा ईश्वर अवश्य ही केवल एक गल्प या काल्पनिक है, जिसे बुद्धि के कार्यों
 के प्रयोग या नियोजन में सावधानी की अपेक्षा के लिए एक तथ्य के रूप में प्रतीत
 होने वाला निर्मित किया गया है। जो कुछ भी एक तथ्य है वह अनुभव की एक
 आधार-सामग्री के रूप में भी प्रदेय है, और यदि यथार्थ वस्तुनिष्ठता तथा तथ्या-
 त्वकता एक ही है तो ईश्वर भी एक तथ्यात्मक सत्ता न होने पर जाना नहीं जा
 सकेगा। इसी प्रसक्त कारण से ही कान्ट ने सिद्धान्त और विचारणीय विषय
 दोनों के दृष्टिकोणों में युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा का सण्डन किया है।
 विचारार्थ विषय में युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा के सण्डन का तात्पर्य है--ईश्वर
 के अस्तित्व की सिद्ध करने के लिए वास्तविकों द्वारा दी गयी युक्तियाँ या तर्कों
 का एक सण्डन। इन तर्कों के नाम हैं --(१) सवामूलक तर्क (२) सृष्टि-विज्ञान-
 मूलक तर्क (३) प्रकृति-प्रयोजनमूलक तर्क। ये युक्तियाँ ही विचारार्थ विषय में
 युक्ति-युक्त ईश्वर-विज्ञान की समीक्षा को निर्मित करती हैं। युक्ति-युक्त ईश्वर-
 मीमांसा के अन्तर्गत एक सिद्धान्त के रूप में यह पूर्वमान्यता निहित है कि ईश्वर
 के प्रत्यक्ष को प्राप्त करने में ही हमने उनके अस्तित्व की स्वीकार कर लिया है।
 ईश्वर की धारणा किसी ऐसी व्युत्पत्ति सत्ता का उल्लेख नहीं करती जो सत्ता
 अस्तित्वयुक्त है, वरन् एक ऐसी सत्ता का उल्लेख करती है जो अवश्य ही अस्तित्वयुक्त
 है। विचारार्थ विषय और सिद्धान्त में निहित भव ही युक्ति-युक्त ईश्वर-
 मीमांसा के प्रति कान्ट के समीक्षा की सम्पूर्ण प्रवृत्ति को समझने के लिए हमें

१. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ रीज़न, पृ० ५००

२. वही, पृ० ५२५

समर्थ बनाती है। उपर्युक्त तीनों तर्कों विचार-विषय में निम्न है परन्तु सिद्धान्त जल्दा सारतत्त्व में एक ही है। इसका व्या तात्पर्य है ? इसका तात्पर्य यह है कि ये तर्क बुद्ध बुद्धि को बढ़ावा देते हैं और फलस्वरूप यह बुद्ध-बुद्धि अपने अस्तित्व को सहायिष्ठ एवं अंगीकार करने वाले ईश्वर के एक प्रत्यय को प्रदान करने की सामर्थ्य रखती है।

जब हम ईश्वर-मीमांसा के सम्बन्ध में कान्ट के दृष्टिकोण का उन तर्कों के स्वरूप में विवेचन करीं जिनका कान्ट ने ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दिये गये उपरोक्त वर्णित तीनों तर्कों का लक्षण करने के लिए प्रस्तुत किया है।

(१) सहायक तर्क :

यह सहायक तर्क सन्त एन्सेल्स का ही मौलिक प्रतिपादित तर्क है। परन्तु कान्ट के पूर्ववर्ती दार्शनिकों में डेकार्ट, रिस्नाइरा तथा लाइब्नीज़् आदि दार्शनिक जिनका द्वारा भी जल्म परिवर्तन के साथ विस्तारपूर्वक इस तर्क को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ हमें कान्ट के पूर्ववर्ती दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित 'सहायक तर्क' पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। बी०वी०सांके ने अपनी पुस्तक 'मीटिंग्स ऑफ़ एकस्ट्रीम इन कॉन्टेम्प्लरी फ़िलासफ़ी' में इस तर्क के विषय पर समुचित प्रकाश डाला है। संभाव गति की मांगि इस तर्क का मूल भाव इस दृष्टिकोण में निहित है कि-ईश्वर का प्रत्यय ही ईश्वर के अस्तित्व को छिपात करता है। अन्य तर्कों में ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य रूप से ईश्वर के प्रत्यय द्वारा ही अनुगमित होता है। इस प्रकार स्पष्ट किया गया कि ईश्वर अस्तित्वयुक्त है या एक अनिवार्य सत्य है। जिस प्रकार एक त्रिभुज का संभाव दो त्रिकोणों के समान तीन कोणों के योग की अपेक्षा रहता है, उसी प्रकार ईश्वर का संभाव स्वयं ही अपने अस्तित्व की अपेक्षा रहता है। सन्त एन्सेल्स

१. जॉन डिकस, क्लैसिकल एण्ड कॉन्टेम्प्लरी रीसिंग्स इन वि फ़िलासफ़ी ऑफ़ रील्लियन, पृ० ४६५, तथा रॉबर्ट फ़िल्लिप्स, बीजम्स, पृ० २७५
२. बी० बी०सांके, दी मीटिंग ऑफ़ एकस्ट्रीम इन कॉन्टेम्प्लरी फ़िलासफ़ी, पृ० ७५-८१
३. रिचार्ड क्रौल्लेन्स, रिचर्ड ऑफ़ मोडर्न फ़िलासफ़ी, पृ० ६३ तथा रॉबर्ट फ़िल्लिप्स, बीजम्स, पृ० २७३-७५

के प्रोसलाक्षितने मैं ईश्वर के का प्रत्यय एक पूर्ण सत्ता का प्रत्यय है । ठेकार्ट की धर्मेन व्यसरथा मैं ईश्वर के सत्ता एक अत्यन्त अनिवार्य सत्ता है तथा सब सोमावर्ज और न्यूनतावर्ज से रहित है अर्थात् यह स्वयं-प्रमाणित सत्ता है, स्व-निर्धारित सत्ता है । ठेकार्ट द्वारा प्रस्तुत ईश्वर की परिभाषा मैं इस धारणा का परिधय प्राप्त होता है कि ईश्वर अनिवार्य रूप से है अर्थात् यह एक ऐसा तत्त्व है जो स्वयं अस्तित्ववान् है । एक अनिवारित सत्ता, एक अनिवार्य-सत्ता है, क्योंकि एक अनिवार्य सत्ता ही केवल परिपूर्ण एवं परिद्ध है यामि व्याप्यता सत्ता की पूर्णता है, इसका वर्णन ठेकार्ट मैं पूर्ण सत्ता के रूप में किया है । पूर्ण सत्ता के रूप में वर्णित ईश्वर की यह धारणा समस्त एम्पिरिक की 'सर्वोच्च पूर्णता' की धारणा के समान है । इन दोनों में अन्तिमंततया अन्तर का ही भेद है । इसके पश्चात् रिस्फोज़ा के धर्मेन मैं सत्तामूलक तर्क एक अन्य स्वरूप में प्राप्त होता है । यहाँ ईश्वर की धारणा को सर्वोच्च सामान्यता के रूप में वस्तु-तन्त्रित किया गया है अर्थात् यह एक अत्यन्त-सामान्य सत्ता है । लाइब्नीज़ मैं एक-संभव सत्ता के संभाव के रूप में ईश्वर के संभाव की सधीय कल्पना की गयी है । लाइब्नीज़ 'संभव,' 'असंभव' तथा 'सह-सम्भव' में भेद करते हैं । एक सत्ता जो सब सीमावर्ज से रहित है वह संभव सत्ता है तथा एक ऐसी सीमा है जो सीमित बिद्विन्मुर्ज की धारिष्टिक विशेषता को कताती है तथा कसीमित बिद्विन्मुर्ज का संकेत कताती है और इस प्रकार कसीमित बिद्विन्मुर्ज का ही अस्तित्व है । लाइब्नीज़ के धर्मेन मैं तर्क की दिशा सम्भव से धारतविक के की और है ।

इन विभिन्न धार्मिक प्रतिपादनों के साथ सत्तामूलक तर्क सिद्धान्त की दृष्टि से निम्नतम एवं अत्यन्त कोटि पर प्रतिष्ठित हो गया जिस समकाल के लिए ये दो धार्मिक अनिवार्य हैं--(१) पूर्णता का प्रत्यय और (२) अनिवार्यता का प्रत्यय, क्योंकि वैचारिक रूप से ईश्वर का, पूर्ण सत्ता या अनिवार्य सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है । कान्ट पूर्वांक प्रकार से समझे गये इस दृष्टिकोण पर प्रहार

१. जोन डिक्स, क्लासिकल एण्ड कान्टेम्परेरी रीडिंग्स इन दि फ़िलासफ़ी ऑफ रीलियन, पृ० २६, ४६५
२. वही, पृ० ४६५ तथा रिचर्ड फाल्सेनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ़ माडर्न फ़िलासफ़ी, पृ० ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००
३. रिचर्ड फाल्सेनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ़ माडर्न फ़िलासफ़ी, पृ० १२५
४. एन०के० रिमि, कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ प्र्योर रीज़न, पृ० ५०३, जहाँ कान्ट अपने फूटनोट में सत्तामूलक तर्क की इस स्थिति के प्रति अपनी अस्वीकृति अभिव्यक्त करते हैं जोन वाटसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट्स एक्सप्लेण्ड, पृ० २६७

करने की चेष्टा करते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व ईश्वर के प्रत्यक्ष से ही अनुगमित होता है, जिसमें अस्तित्व का केवल अस्तित्व के संघात के रूप में ही नहीं बल्कि एक यथार्थ अस्तित्व के रूप में समझा गया है। यदि डेकार्ट यह विचार रखते हैं कि जिस प्रकार यह तर्कयुक्त कथन एक त्रिभुज वा समकोण के योग के बराबर तीन कोणों से युक्त है; अनिवार्य रूप से सत्य है, उसी प्रकार ईश्वर अस्तित्वयुक्त है यह कथन भी अनिवार्यतया सत्य है। त्रिभुज से सम्बन्धित कथन एक अनिवार्य सत्य इस अर्थ में है कि इसके विपरीत की कल्पना में व्याघात निहित है। यदि त्रिभुज है तो उसके तीनों कोणों का योग अवश्य ही दो समकोणों के बराबर होगा। एक त्रिभुज का संघात इस विषय की अपरिहार्यता से युक्त है और यदि यह विषय इस विश्लेषण से अनुगमित नहीं होता तो आकृति के त्रिभुज होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हम त्रिभुज का विचार इसमें निहित ऐसे तीन कोणों से ही कर सकते हैं जिसका योग दो समकोण के योग के समान होगा, अन्यथा त्रिभुज का विचार असम्भव है। परन्तु इस विचार पर यह तर्क करना निश्चय ही प्रामाणिक है कि ईश्वर का संघात कथन पूर्ण सत्य का संघात अस्तित्व की अपरिहार्य अनिवार्यता से युक्त है क्योंकि एक वैचारिक अन्तर्वस्तु के रूप में एक पूर्ण सत्य का अस्तित्व अनिवार्यतया व्याघात की अपेक्षा रहता है। सामान्यतः तर्क के प्रतिपादक यह विस्मृत कर जाते हैं कि ईश्वर-विषयक कथन और त्रिभुज विषयक कथन के बीच की समानान्तरता का दोषपूर्ण विचार किया गया है। यदि एक त्रिभुज स्वीकृत किया जाता है तो इसकी शेष बातें भी अवश्य ही स्वीकृत की जाएंगी, परन्तु यह भी संभव हो सकता है कि कोई त्रिभुज की बात ही न बलाय। यद्यपि विश्लेषणात्मक होते हुए भी यह तर्क-कथन आवश्यक रूप से सत्य है किन्तु इससे उपलब्धित तर्क सापेक्ष अथवा परिकल्पित है। यदि त्रिभुज को पीठे प्रतीक द्वारा तथा उसके तीनों कोणों के गुण को नीचे प्रतीक द्वारा प्रदर्शित किया जाय तो इस कथन को इस स्वरूप में प्रस्तुत किया जा सकता--

१. एन.जे. स्मिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ रीज़न, पृ. ५०३

२. वही, पृ. ५०२

३. जॉन वाटसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृ. २४५

'पी = क्यू,' जिसका अर्थ है--पी और क्यू के विवेक के संयोग का विवेक, और
 इसे इस रूप में रखा जा सकता है : --(पी--क्यू) । जो कुछ संभवतः स्वव्याघातक
 या असत्य है वह उपरोक्त दिये हुए तर्कवाक्य में कथित गुणों के अभाव से युक्त
 एक त्रिगुण प्रत्यय की रचीकृति है । अन्य शब्दों में पी और--क्यू का संयोग ही
 आत्मघाती रूप में प्रदर्शित किया गया है । परन्तु यदि हम पी का विचार ही
 नहीं करते तो इसका 'क्यू' को अनुकूलित करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।
 यदि कोई 'पी' है तो यह एक वृक्ष संभावनामात्र ही है । अब यदि इस प्रकार
 के तर्कों का प्रयोग यह दिग्दर्शित करने के लिए किया गया कि अस्तित्व की
 अस्वीकृति एक पूर्ण सत्ता के प्रत्यय के अनुकूल नहीं है तो यह तर्क एक पूर्णसत्ता के
 अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता । ऐसा क्यों ? क्योंकि तर्कों का स्वरूप हम शब्दों
 द्वारा युक्ति के आरोप होने की आवश्यकता रखता है --कि यदि एक पूर्ण सत्ता
 है तो एक पूर्ण सत्ता की धारणा एक पूर्ण सत्ता के अस्तित्व को अनिवार्य रूप से
 अनुकूलित करता है । इसीलिए एक पूर्ण सत्ता के वास्तविक अस्तित्व के सम्बन्ध
 में निश्चित रूप से कुछ भी स्थापित नहीं होता । यदि एक पूर्ण सत्ता है, परन्तु
 कोई जानता नहीं कि यह वस्तुतः क्या है, यह कहने से एक पूर्ण सत्ता के अस्तित्व
 पर संदेह करने की या उसे अस्वीकार करने की संभावना खदैव रहती है । परन्तु
 कान्ट का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना नहीं है कि ईश्वर अस्तित्वयुक्त नहीं है ।
 वह केवल यही पताना चाहते हैं कि यदि वह अस्तित्वयुक्त है तो हम नहीं जानते
 कि वह ऐसा है या असुख प्रकार का है । सचमुक्त तर्कों के प्रतिपादक यह दुस्साहस-
 पूर्ण तथा अज्ञात दावा करते हैं कि यह जानना संभव है कि ईश्वर अस्तित्वयुक्त
 है; कैसे--तर्कों द्वारा जो एक पूर्ण सत्ता के प्रत्यय में व्याप्त है -- ईश्वर-
 अस्तित्वयुक्त है = एक पूर्ण सत्ता । एक अनिवार्य सत्ता अस्तित्वयुक्त है; यह
 तर्कवाक्य या तो एक विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है या यह एक संश्लेषणात्मक
 तर्कवाक्य है । यदि यह एक विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है तो इसे प्रतिस्वरूप में इस
 प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-- पी = क्यू । यदि यह एक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य

१. राक्षसिहारीवास, कान्टस किटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० १८२

२. एन०के० स्मिथ, डेमोक्रेटिक कान्टस किटीक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ५०४, तथा

जोन वाटसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट्स एक्सप्लेण्ड, पृ० २६५

है तो क्यूँ अनिवार्यता भी से अङ्गुलि नहीं होता । परन्तु जैसा कि कान्ट ने संकेत किया है प्रत्येक स्थिति में कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी और सत्तामूलक तर्कों के प्रतिपादकों के प्रतिज्ञा की छानि होगी । यदि तर्कवाक्य विश्लेषणात्मक है तो समय भी को ही हम अस्वीकार करेंगे, क्योंकि अभाव या निषेध के साथ भी के संयोग की अस्वीकृति की असत्यता केवल हमारे भी की धारणा के विचार करने पर ही निर्भर है, और यह भी द्वारा उल्लिखित किसी संविषय वस्तु के यथार्थ अस्तित्व को निर्मित करता है । 'ईश्वर अस्तित्वयुक्त' है यदि इस तर्कवाक्य की विश्लेषणात्मक समझा जाय तो ईश्वर के विषय में भी यही बात चरितार्थ होगी । 'ईश्वर अस्तित्ववान है' यदि यह एक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है तभी 'अस्तित्ववान है' यह विषय ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व का प्रतीक होता, परन्तु यदि ऐसा है तो ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता के रूप में अङ्गुलि हो जाएगा और तब हम यह भी नहीं कह सकेंगे कि अस्तित्व के निषेध के साथ ईश्वर-धारणा के संयोग की अस्वीकृति व्याघात से युक्त है । एक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य की स्थिति में अनिवार्य ज्ञेय का सम्बन्ध दोषपूर्ण एवं अङ्गुलि सिद्ध हो जाता है ।

स्थिति इस प्रकार है--एक अभिन्न कथन में विषय की अस्वीकार करना व्याघातपूर्ण होता है जबकि उद्देश्य को धारण करना व्याघातपूर्ण होता है, परन्तु बिना संज्ञा के उद्देश्य और विषय को समानरूप से अस्वीकार करने में कोई व्याघात नहीं है, क्योंकि यदि हम दोनों को ही अस्वीकार कर देंगे तो व्याघातपूर्ण होने के लिए कुछ भी शेष नहीं बचता । इसी प्रसृत विषय को ही हमें कान्ट के तरीके से स्पष्ट करना है ।

कान्ट के तर्कों का मूल आधार इस पर आधारित है कि यदि आन्तरिक विरोध के अभाव को मान लिया जाय तब भी तर्कसंगत रूप में यही स्वीकार किया जा सकता है कि केवल शून्य से कुछ होकर ही 'सर्वोच्च सत्ता' उद्दिष्ट्योत्पन्नता किन्तया एक 'सम्बन्ध प्रत्यय' है । यह किसी प्रकार से भी प्रत्यय के वस्तु-विषय

१. एन०के० रिचमंड, हमें तुल्य कान्ट्स क्रिटिक ऑफ प्र्योरिज़न, पृ० ५०४, तथा
 जोन वाट्सन, दि क्रिटिसिज़्म ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० २६५

की संभाव्यता को स्थापित नहीं करता । इस तर्क का सण्डन किया जाता है कि जो सत्ता अस्तित्व को समझती है, वह अस्तित्व 'सर्वोच्च सत्ता' के प्रत्यय में निहित है और इसकी आन्तरिक सम्भाव्यता को निकाले बिना इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । तर्क का प्रमुख पक्ष है यह है कि अस्तित्व संभावित सत्ता के प्रत्यय में अन्तर्विष्ट होने की क्षमता रखता है । यदि यही बात है तो इस अस्तित्व से सम्बन्धित कम एक विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य होगा और इसके प्रमाण पर भी आपत्ति नहीं की जा सकती । इस प्रकार, जैसा कि उपर्युक्त मान्यता सम्पूर्ण विषय को निर्धारित करती है, कान्ट अपने आपको इसके प्रत्यक्ष विरोध में तैयार करते हैं । यह विषय, जो प्रत्येक तर्क कम में अस्तित्व को विधेयित करता है, संश्लेषणात्मक है, जैसा होने पर इसकी अस्वीकृति विरोध या व्याघात से युक्त कभी नहीं हो सकती । अभित्व एक धारणा के अन्तर्वस्तु के वंश को कभी निर्मित नहीं कर सकता इसलिए इसे एक संभावित विधेय के रूप में भी नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए । तर्क में जो कुछ भी तार्किक रूप से इसके अनुपपन्न होता है, वह एक शुद्ध आकारिक संघटक तत्त्व है जैसे--संयोजक । 'ईश्वर सर्व-शक्तिमान है' यह तर्कवाक्य दो धारणाओं से युक्त है तथा इनमेंसे प्रत्येक अपने वस्तु-विषय 'ईश्वर' और 'सर्वशक्तिमत्ता' का भी रखता है । 'है' शब्द किसी नवीन विधेय की वृद्धि नहीं करता परन्तु अपने उद्देश्य के सम्बन्ध में विधेय को स्थित करने में सहायता करता है । इसी प्रकार जब हम उद्देश्य को इसके सभी विधेयों सहित जिसमें 'सर्वशक्तिमत्ता' भी सम्मिलित है, गुणन करते हैं और कहते हैं कि 'ईश्वर है' या 'ईश्वर का अस्तित्व है', तब हम ईश्वर प्रत्यय को किसी नवीन विधेय से संलग्न नहीं करते बल्कि स्वयं उद्देश्य या विषयों को इसके सभी विधेयों के साथ एक ही विषय के रूप में केवल स्थापित करते हैं, जो 'मारी धारणा' के सम्बन्ध में स्थित

१, एन०के० रिमथ, इमेनुएल कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० १०४, अन्तिम पैराग्राफ़ ।

रहता है। अतः तर्कवाक्य में विषय के अन्तर्वस्तु और विषयी के अन्तर्वस्तु का समान ही होना चाहिए ताकि तर्कवाक्य सत्य हो। यदि विषय-अन्तर्वस्तु धारणा अथवा प्रत्यय की अपेक्षा अधिक है तो प्रत्यय विषय को अभिव्यक्त नहीं करेगा और तर्कवाक्य एक ऐसे सम्बन्ध को प्रस्तुत करेगा जो स्थायी नहीं रहता। यथार्थ संभव के अन्तर्वस्तु की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं रहता अन्यथा यह संभव नहीं होगा वस्तु संभव से पृथक् कुछ होगा, जिसे 'अस्तित्ववान्' रूप में गृहण किया जा सकेगा। यद्यपि एक ही थैलरों में एक ही थैलरों से एक सिक्का भी अधिक नहीं है तब भी मेरी वित्तीय स्थिति उस समय बहुत ही भिन्न होगी जबकि एक ही भारतवर्ष थैलरों के स्थान पर मेरे पास केवल एक ही थैलरों के प्रत्यय को ड्राइ कर और कुछ नहीं है। अतः यदि मेरे प्रत्ययों के बाहर अस्तित्व जैसी कोई संज्ञा ही तो ही थैलरों के प्रत्यय से उनकी वास्तविकता को प्राप्त करना नितान्त ही एक अवगल बात होगी।

इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि कान्ट ऐसे 'युडि-युड'-इंश्वर-विज्ञान पर अपनी भीमांसा प्रस्तुत कर रहे हैं जो विचारों को इतना प्रत्ययाश्रित बना देता है कि वे विचार स्वयं अपने आप में ही अस्तित्व को उत्पन्न करते हैं। प्रश्न यह नहीं है कि एक अनिवार्य सत्ता या एक पूर्ण सत्ता की धारणा की संभाव्यता को स्वीकार करने के पश्चात् एक पूर्ण सत्ता का अस्तित्व अनुगमित होगा या नहीं वरन् प्रश्न यह है कि क्या एक पूर्ण सत्ता के धारणा की संभाव्यता से एक पूर्ण सत्ता के यथार्थ अस्तित्व की अवधारणा तार्किकतया प्रमाणित है? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि यह तभी संभव हो सकता है जबकि निर्णय केवल विश्लेषणात्मक हो। परन्तु यह निश्चित है कि अस्तित्व से सम्बन्धित निर्णय विश्लेषणात्मक नहीं होते हैं वरन् संश्लेषणात्मक होते हैं।

१. जॉन वाटसन, दि फिलोसफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्स्प्लेण्ड, पृ० २६४

२. एन०६० रिफ़रेंस, एमैनुअल कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ रीज़न, पृ० ५०५

एक पूर्णसत्ता के अस्तित्व के विषय में अनुभव के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से भी हम ज्ञान नहीं रख सकते, और यह अनुभव भी एक विश्लेषणात्मक प्रक्रिया से नहीं बल्कि एक संश्लेषणात्मक प्रक्रिया से ही संभव हो सकता है। परन्तु 'सत्तामूलक तर्क' के प्रतिपादक इस भेद की पूर्णतया उपेक्षा करते हैं और एक पूर्ण-सत्ता के अस्तित्व की मान्यतावादी में प्रवेश कर जाते हैं, जिसकी धारणा अनुकूलित विषय या वस्तु की सापेक्षता के बिना ही विचारणीय है।

सत्तामूलक तर्क की अंगतता से सम्बन्धित कान्ट के दृष्टिकोणों का हम निम्नलिखित प्रकार से संक्षिप्तीकरण कर सकते हैं --

(१) सत्तामूलक तर्क की प्रामाणिकता आपत्तिपूर्ण है क्योंकि यह तार्किक विषय और यथार्थ विषय के बीच प्राम्ति उत्पन्न कर देता है।

(२) यह एक वास्तविक तर्कवाक्य और शाब्दिक तर्कवाक्य में अन्तर संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों में भेद करने में असमर्थ है।

(३) एक संयोजक विषय के साथ कभी समरूपित नहीं किया जा सकता है। 'ईश्वर है' या 'ईश्वर सर्वशक्तिमान है' हममें 'है' केवल एक संयोजक है, एक विषय नहीं है।

(४) इस तर्क में एक पूर्ण वाच, जिसका कान्ट ने खण्डन किया है, इस पूर्वमान्यता से उत्पन्न होता है कि 'अस्तित्व एक विषय है', जबकि यह ऐसा नहीं है।

यहाँ हम ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दिये गये अन्य दो तर्कों पर भी विचार करेंगे जिनके नाम (१) सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क तथा (२) प्रयोजनमूलक तर्क हैं, और हम यह दिखाने का भी प्रयत्न करेंगे कि यद्यपि ये तर्क स्वतंत्रतापूर्वक प्रतिपादित किये गये हैं परन्तु वे सत्तामूलक तर्क के प्रमुख टुक की ही पुनरावृत्ति करते हैं।

२. दृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क

सधामूलक तर्क के निष्कल स्वरूप की, इसके सभी संभव स्वरूपों में विशेष-
कर धर्म ईश्वर के ज्ञान से अवगत कराने के सम्बन्ध में समीक्षा समाप्त करने के
पश्चात् कान्ट दृष्टि-मूलक विज्ञानमूलक तर्क पर विचार करने के लिए उद्यत होते
हैं। यह तर्क ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञानमीमांसा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दार्शन-
निकों द्वारा प्रथम तर्कों में एक प्रमुख तर्क है। प्रथम तर्क में कान्ट ने, एक पूर्णसत्ता
के प्रत्यय से एक पूर्णसत्ता ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है; इस प्रकार से तर्क
करने की निरर्थकता या तत्पक्षीयता को दिखाया है। इस तर्क में कान्ट अनुबद्ध तथा
वापातिक अनुमयिक तर्कों से एक अप्रतिबद्ध सत्ता के अस्तित्व की ओर गमन करते
हैं। इन सभी अनुबद्ध अस्तित्वों का कारणता के पक्ष में विवरण देने के लिए
भी यह अप्रतिबद्ध अनिवार्य है। यदि अनुबद्ध अस्तित्व के स्पष्टीकरण के लिए
अनिवार्य रूप से कार्य-कारणमूलक व्याख्या की अपेक्षा होती है तो कारणतात्मक
सम्बन्ध एक अनन्त श्रृंखला बन जाता है और तब धर्म एक ऐसे 'वापि कारण' के
स्वरूप में कुछ भी प्राप्त नहीं होता जो 'कारण मुक्त' है। कारण से विहीन
एक कारण इसी 'वापि कारण' के अंश में अनिवार्यतया अन्तर्निहित होता है और
निरपेक्ष रूप से एक स्वतंत्र कारणता को सूचित करता है क्योंकि एक ऐसा कारण है
जो सब वापार्ता या सापेक्षताओं से मुक्त है। इसका तात्पर्य यह है कि इस
'वापि कारण' को अद्विग्न, वापात्तरहित अथवा अनिवार्य होना चाहिए। यह
अनिवार्य सत्ता का प्रत्यय है और सभी कारण अनिवार्य रूप से अस्तित्वमुक्त सत्तारं
हैं। केवल अस्तित्वमुक्त होकर ही यह वापि कारण भी एक कारण के कार्य को
पूर्ण कर सकता है। अनुबद्ध कारण-सत्ताओं की श्रृंखला में वापि कारण और अन्य
कारणों में केवल यही अन्तर है कि स्वयं श्रृंखला में किसी भी कारण से यह निताम्न

१. राखविहारीदास, कान्ट्स क्रिटिक् वोफ़ प्यार रीज़न, पृ० १८२, तथा

एन०के० रिमथ, समैतुल कान्ट्स क्रिटिक् वोफ़ प्यार रीज़न, पृ० ५०८

२. एन०के० रिमथ, समैतुल कान्ट्स क्रिटिक् वोफ़ प्यार रीज़न, पृ० ५११

हो असमान है । यह केवल एक कारण के लिए अपेक्षित कारण-तत्त्व सामता से ही युक्त नहीं है बल्कि यह सभी संभावित संकल्पों, अर्थात् तथा सीमावर्ती से परे है । इसी कारण 'अनिवार्य सत्ता' को एक अप्रतिबद्ध सत्ता होना चाहिए तथा अपने स्वरूप में असीमित होना चाहिए परन्तु इसे अस्तित्वविहीन नहीं होना चाहिए ।

इसी प्रकार की सुद्धि के प्रति कान्ट की आपत्तियाँ अपने-अपने स्थान पर पूर्णतया विचारणीय एवं महत्वपूर्ण तो हैं ही, परन्तु कान्ट वस्तुतः जो कुछ भी विताने की चेष्टा करते हैं, वह इस प्रकार एक बहुत ही सामान्य स्वरूप का है कि सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क भी 'विचार' में अधिष्ठित होने के कारण ईश्वर का केवल एक संकेतक ही हो सका, यद्यपि असमर्थ होते हुए भी यह दावा करता है कि यह सर्व यथार्थः एक अस्तित्वयुक्त सत्ता के रूप में ईश्वर का ज्ञान देता है । विचार के स्वरूप के इस सामान्य दोष के अतिरिक्त भी सर्व यथार्थता का ज्ञान देने में सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क विशेष रूप से निम्न दोषों से युक्त है — (१) वह सब, जिसका हम साक्षात्कार करते हैं व जानते हैं, अनुभव में ही प्रवृत्त है इसलिए वह स्वरूप में गौबर है । इस विवाद का सामान्य अर्थ यह है कि गौबरता स्वरूप में अनुबद्ध एवं सापेक्ष है । यह सत्य है कि वह सब जो गौबर के क्षेत्र के अन्तर्गत है, अपने स्पष्टीकरण के द्वैत कारणता के विषय की अपेक्षा रखता है और यह कारणता अनुभव के किसी वस्तु-विषय के बोधगम्यता की अनुभव-निरपेक्ष शक्ति है, परन्तु इस गौबर से एक कारण की पूर्वमान्यताओं अर्थात् निरपेक्ष रूप से अनिवार्य और अप्रतिबद्ध की ओर कूट जाना असंगत एवं अनैतिकपूर्ण है । कुछ भी आवश्यक या अन्य रूप में एक अनिवार्य सत्ता हो सकता है, परन्तु एक बात निश्चित है कि 'अनिवार्य सत्ता' का यह प्रमुख संबंध एक अनुभवातीत संबंध है । तत्त्ववादीनिक रूप से इसका अतीन्द्रिय स्वरूप पूर्णतया उपलब्धित होता है । इसका अर्थ यह है कि यदि अनिवार्य सत्ता अप्रतिबद्ध है तो इसका अप्रतिबद्ध स्वरूप दो बातों की पूर्ण रूप से

१. सन १८०१ ई. में, हमें कुछ कान्ट्स क्लिंटिक ऑफ़ थ्योरि रीज़न, पृष्ठ ५१९, तथा जॉन वाटसन, दि फ़िलोसफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेण्ड, पृष्ठ ३००

उपलब्ध करता है--(अ) यह एक विषयी से सम्बन्धित एक विषय नहीं है, और अतीन्द्रिय सम्बन्धी अर्थात् कोटियों के जन्मति किसी कोटि द्वारा निर्धारित या विमर्शित प्रत्यक्ष-अनुभूति नहीं है। अनुबद्ध या प्रतिबद्ध होने का अर्थ है कोटि-विमर्शणीय होना। (ब) इसका अर्थ यह भी होना चाहिए कि जो इन्द्रियमय नहीं है उसके लिए यह इन्द्रियमय या संबंध है और यह बुद्धिकोटियों में से किसी एक के जन्मति सम्बन्धित नहीं हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क' के प्रतिपादकों के लिए दो तर्कों को अवश्य ही पूरा होना चाहिए। अप्रतिबद्ध को प्रतिपादित होना चाहिए परन्तु एक गौवर या संवृत्ति के रूप में नहीं। परन्तु यहां एक स्पष्ट विरोध है क्योंकि कुछ भी 'गौवर' और 'काँवर' दोनों नहीं हो सकता है। जो कुछ एक गौवर या आभास है उसके निर्धारण की और विचार का प्रसार' ऐसा दृष्टिगत होता है जैसे कि विचार की व्यवस्था का ही प्रत्याख्याम किया जा रहा हो। कारणता की बुद्धि-कोटि स्वयं विचार की ही एक कोटि है और यह केवल सीमित तथा प्रतिबद्ध अर्थात् गौवर के क्षेत्र में ही प्रामाणिक विनियोग रखता है। कान्ट सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क के प्रतिपादकों के इस अनिश्चित्यपूर्ण फलन के प्रति सज्ज है कि उन्होंने कारणता की बुद्धि-कोटि को एक स्वतंत्रता के साथ प्रतिष्ठित किया है, जबकि वस्तुतः यह स्वतंत्रता से छुट नहीं है। हम जानते हैं कि किसी भी वस्तु से सम्बद्ध रूप में समझा गया एक स्वतंत्र कारण एक व्याघातपूर्ण धारणा है। यद्यपि सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क के प्रतिपादक कारणों की गौवर या व्यावहारिक श्रृंखला में अनुस्यूत एक अवस्था दाँच से मयोजित रूप से उक्ता है, परन्तु एक अनिवार्य सत्ता के रूप में आदि कारण की केवल स्थापना ही यहां निर्दिष्ट अवस्था-दाँच के अनिवार्य तथा अप्रतिरोध्य स्वरूप की स्वीकृति है इस तर्क की प्रवृत्ति को छुटकारा नहीं मिलती है। इसलिए आपवि का निष्कर्ष यह है

कि जब भी जनवस्था-दीर्घ की स्थिति किसी स्थान पर भ्रूललावों के विराम या अवरोध को अपेक्षा करती है तब यह सिद्ध होता है कि यथातः अस्तित्वपुरुष रूप में सम्पत्ति जाने वाली अनिवार्य सत्ता के प्रत्यय पर विराम करना कालौचित नहीं होता है । ऐसा इसलिए है क्योंकि किसी वस्तु के कारण के रूप में हम इस प्रकार की एक अनिवार्य सत्ता की माँग नहीं कर सकते । अनिवार्य सत्ता का प्रत्यय ही स्वयं कारणता के विनाश का कारण है । यदि एक अनिवार्य सत्ता एक यथार्थ सत्ता है, जैसा कि इसे होना चाहिए तब वह सब ची अनिवार्य नहीं है केवल आभास या प्रतीति मात्र होगा । एक अनिवार्य सत्ता आपात्किता से विशिष्ट एवं स्वरूपित सभी गौण विभिन्नताओं का अधिष्ठान होगी, परन्तु अधिष्ठान वही वस्तु नहीं है जिसे सुष्टि-विज्ञानमूलक तर्क के प्रतिपादक कारण के रूप में सम्पन्न है ।

(२) यह मान्यता अपने स्थान पर अंततः पूर्ण एवं उचित हो सकती है कि गौण क्षेत्र में प्रत्येक वस्तु की व्याख्या के लिए कारण की अपेक्षा होती है, परन्तु कारणता की समस्या एक जनवस्था-दीर्घ को क्या उपलब्ध करती है ? गौण के क्षेत्र में एक प्रतिबद्ध कारण ही यथेष्ट एवं समुचित व्याख्या है और यदि स्व-निर्धारित एवं स्व-अपेक्षित तथ्य में अप्रतिबद्ध तथा निरपेक्षतया अनिवार्य होकर ईश्वर सभी आवश्यकता से परे है तो कोई भी व्यक्ति यह सम्पत्ति में पूर्णतया असफल हो जाता है कि इस प्रकार को कोई वस्तु कैसे एक कारण भी हो सकती है । हम यह कहने में बहुत ही अविश्वसनीय होने कि इस प्रकार का एक अप्रतिबद्ध कारण एक यथार्थ कारण नहीं हो सकता । यह एक कारण के रूप में केवल आभासित हो जाता है ।

(३) उपरोक्त विवरण के परवात् यह स्पष्ट करने पर भी कि अप्रतिबद्ध अस्तित्व अप्रतिबद्ध को सूचित करता है ज्यथा प्रतिबद्ध-सत्ता अनिवार्य सत्ता को

१. जॉन वाटसन, दि फिलोसफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृष्ठ ३००, तथा
रासविहारीदास, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्योर रीजन, पृष्ठ १८८

सूचित करती है, कारणता प्रमाणित नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः एक अस्तित्वयुक्त कारण के रूप में अनिवार्य सत्ता सिद्ध नहीं की गयी है। इस प्रकार हमारे समक्ष केवल एक अनिवार्य सत्ता का प्रत्यक्ष ही श्रेष्ठ रस जाता है और यदि यह स्वीकार किया जाता है कि इस प्रकार की एक अनिवार्य सत्ता अवश्य ही अस्तित्ववादी है तो हम पुनः एक बार सत्तामूलक तर्क की आवृत्ति करते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि हमने सत्तामूलक तर्क की ही सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क के रूप में एक बूझा नाम प्रदान कर दिया है। परिणामस्वरूप हम यही कहना चाहेंगे कि सृष्टि-विज्ञानमूलक तर्क भी अपनी रचना में सत्तामूलक तर्क के सभी दोषों को प्रकटित या समाहित किये हुए है।

प्रकृति-प्रयोजनमूलक तर्क *****

यह एक ऐसा तर्क है जिसे सामान्यतया प्रकृति के क्रम में प्राप्त प्रयोजन अथवा रचना से प्राप्त तर्क के रूप में जाना जाता है। इस तर्क में सृष्टि में विद्यमान परिकल्पना एवं प्रयोजन के आधार पर एक रचयिता ईश्वर का अनुमान लगाया जाता है। इस तर्क के प्रमुख उद्देश्य विषय यथोक्तित्त हैं --

(१) विश्व में प्रत्येक स्थान पर एक उद्देश्यपूर्ण व्यवस्था के स्पष्ट चिह्न एवं लक्षण प्राप्त होते हैं, जिसे वस्तुवैज्ञानिक दृष्टिगत से कार्यान्वित किया गया है, और एक समष्टि की रचना अपने अन्तर्वस्तुओं में अनिवार्य रूप से विन्म है तथा विस्तार में असीमित है।

(२) यह व्यवस्था, उपयुक्तता या ज्ञानता किसी तरह से भी विश्व में अस्तित्व रखने वाली वस्तुओं की प्रकृति में सम्मिलित नहीं है बल्कि यह एक वास्तव गुण है जो बाहर से ही आकस्मिक रूप से उन वस्तुओं से संलग्न है। अन्य शब्दों

१. वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३००

२. एन०के० रिमथ, इमेजल कान्टस फ़िटीक् ऑफ़ प्यारि रिज़न, पृ० ५१२, तथा रासबिहारीवास, कान्टस फ़िटीक् ऑफ़ प्यारि रिज़न, पृ० १८३-८४

३. एन०के० रिमथ, इमेजल कान्टस फ़िटीक् ऑफ़ प्यारि रिज़न, पृ० ५१६ तथा ५१९

में भी स्पष्ट है कि प्रकृति में विभिन्न वस्तुएं निश्चित उद्देश्यों की और स्वेच्छा से कभी सहयोगपूर्वक कार्य नहीं करती, और निश्चित मौलिक प्रत्ययों के अनुसार एक बौद्धिक सुव्यवस्थित शक्ति के द्वारा उनका उद्देश्ययुक्त रूप में गुणाव नहीं किया गया है और न उन्हें क्रमबद्ध किया गया है।

(३) अतः एक महान उदात्त और बुद्धिमान कारण का अस्तित्व है, जिसे विवेकशून्य होकर कार्य करने वाली सर्वशक्ति-सम्पन्न प्रकृति के उत्पादन-शक्ति में नहीं प्राप्त करना है बल्कि जिसे एक विवेकयुक्त कारक या कर्ता की स्वतंत्रता में प्राप्त करना है।

(४) इस कारण की एकता का अनुमान एक कौशलपूर्ण भवन के भागी की भांति विश्व के विभिन्न भागों के परस्परश्रित सम्बन्ध की एकता से ही सकता है।

वार्त्तिक विन्तक कान्ट इस तर्क की निरर्थकता एवं सारहीनता को इसी में निहित दोषों की व्याख्या द्वारा सिद्ध करते हैं। ये दोष निम्नप्रकार के हैं :—

प्रथम तो यह तर्क ईश्वर और विश्व के बीच निहित सम्बन्ध में मानव कौशल एवं कारीगरी से प्राप्त प्रत्ययों के संक्रमण को समाहित करता है। अन्य शब्दों में यह कहा जाता है कि इस तर्क में ईश्वर और विश्व के सम्बन्ध का विचार, वास्तुकार और उसके द्वारा निर्मित भवन के बीच के सम्बन्ध की सावृक्ष्यरचना या स्वरूपता के पश्चात् किया जाता है। जिस प्रकार से एक कृत्रिम स्थिति या वास्तुकार उपादान पदार्थों पर स्वयं अपने ही लक्षण को आरोपित करके कच्चे और अव्यवस्थित उपादानों या पदार्थों को एक सुव्यवस्थित, संगतिपूर्ण एवं सामंजस्यपूर्ण कृति में रूपान्तरित करता है उसी प्रकार ईश्वर भी अव्यवस्थित, असम्बद्ध उपादानों अथवा पदार्थों को एक वृक्ष राशि को सामंजस्ययुक्त और सामंजस्यपूर्ण या संगतिपूर्ण दृष्टि में रूपान्तरित करते हैं।

१. एम०के० स्मिथ, हमैसुल कान्टस क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीजण, पृ० ५२९

२. वही, पृ० ५२९

३. रासबिलारी दास, कान्टस क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीजण, पृ० १८६

परन्तु इस प्रकार से यह तर्क हमें ईश्वर का ज्ञान इसके विषय के या 'ईश्वर' पद के सही अर्थ में नहीं प्रदान करता । यहाँ तो 'ईश्वर' को 'विश्वकर्मा' के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है । यह ऐसा 'विश्वकर्मा' है जो अपनी व्यवस्था में उपादान पदार्थों के अस्तित्व द्वारा साक्षित है । एक विश्वकर्मा ईश्वर नहीं है जो इसके उद्देश्यों और रचनाओं का कुल निमाता न हो कर विश्व का प्राण और उसकी आत्मा है ।

पुनः यह स्पष्ट होता है कि इस तर्क द्वारा सीमित रूप से बुद्धिमत्ता, कुमत्स्य तथा सीमित शक्तियों से युक्त एक असोम सत्ता की 'और संक्रमण' करना उचित एवं न्यायसंगत नहीं हो सकता है । क्योंकि सीमित विश्व के सीमित अभिकर्त्ता से यह अनुमित करना अस्मय है कि इसके रचयिता को एक पूर्णतम सत्ता अवश्य होना चाहिये । प्रकृति प्रयोजनमूलक तर्क के अनुसार यदि एक सीमित व अनिश्चित या आपात्तिक विश्व से इसके सृष्टिकर्त्ता के रूप में एक अतिपूर्णतम सत्ता की 'और संक्रमण' सम्भव बनाया जा सकता है तो हम अवश्य यह कह सकते हैं कि सीमित विश्व एक निरपेक्ष अप्रतिबद्ध और इष्टीलिष्ट एक पूर्णतम सत्ता का संकेत करता है और इस प्रकार की एक सत्ता अपने अस्तित्व की अपरिहार्यता से युक्त है । परन्तु ऐसा कहना तो सृष्टि विज्ञानमूलक और सवामूलक तर्कों पर पहुँच जाता है । अतः यह प्रकृति प्रयोजनमूलक तर्क अपने दोषों के अतिरिक्त उपरोक्त दोषों तर्कों के दोषों से भी युक्त है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए युक्ति-युक्त ईश्वर-मीमांसा द्वारा प्रतिपादित किये गये सभी तर्क दोषपूर्ण हैं और इसलिये युक्ति-युक्त ईश्वरमीमांसा स्वयं ही सारहीन एवं न्याय-असंगत है । बहुत प्रयत्न के बावजूद भी यह हमें ईश्वर का यथार्थ ज्ञान नहीं प्रदान कर सकता ।

१. जॉन वाटसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३०४-३०५

२. एन०के० रिमथ, हर्मेनुटिक कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ५२३-५२४

३. वही, पृ० ५२८

ध्वारे इस कथन में किसी प्रकार के जाँचित्र्य की छानि न होगी कि युक्ति-युक्त मनोविज्ञान की भाँति ईश्वरमीमांसा की तत्त्ववार्त्तिक व्यवस्था भी हमें अपने विचार-विषयों का उत्पन्न संभव ज्ञान प्रदान करने में असमर्थ है ।

(३) युक्ति-युक्त सृष्टि-विज्ञान

द्वन्द्व-बुद्धि के विप्रतिषेध

‘रेफ्लेक्शन’ में स्पष्ट होता है कि स्वयं प्रज्ञा में निहित एक तात्त्विक-जात्य-विरोध की प्रतीति ने कान्ट के ध्यान को वाकर्षित किया था । अतः इसका उनके आलोचनात्मक चर्च पर गहरा प्रभाव पड़ा । युक्ति-युक्त सृष्टि-विज्ञान मूलतः सम्पूर्ण द्वन्द्वन्याय का जात्यसात करने के लिए विवक्षित था । फिर भी बाद में अनुमवातीत तर्कशास्त्र की परीक्षा ने अपने आपकी कान्ट के समस्त प्रस्तावित किया । परिणामस्वरूप इस व्यवस्था में विप्रतिषेधों को सम्मिलित करना अनिवार्य हो गया । यदि द्वन्द्वन्याय सम्पूर्ण रूप से न्यायवाक्य के अनुरूप है तो विप्रतिषेध भी हेतुफलाश्रित न्यायवाक्य से अनुस्यूता रहते हैं और इसलिए उनको अपने वस्तुवस्तुओं के एक अंश को निरुपाधिक और विरोधक न्याय-वाक्य के साधन हेतु वर्णित कर देना चाहिये । इस प्रकार युक्ति-युक्त सृष्टिविज्ञान को (१) सृष्टि (२) अमरता (३) स्वार्तक्षेप तथा (४) ईश्वर-इन चार दृष्टि विप्रतिषेधों में से प्रथम तथा तृतीय का ही विचार करना चाहिये । द्वितीय अर्थात् अमरत्व को युक्ति-युक्त मनोविज्ञान और चतुर्थ अर्थात् ईश्वर को युक्ति-युक्त ईश्वर-विज्ञान के साथ छोड़ देना चाहिये ।

विप्रतिषेध प्रज्ञा और बुद्धि के द्वन्द्व से उत्पन्न होता है । प्रज्ञा अथवा तर्कबुद्धि अपने आपकी किसी अपूर्ण वस्तु से सन्तुष्ट नहीं कर सकती, इसीलिए वह एक पूर्ण वस्तु की अनर्धित मार्ग करती है, परन्तु बुद्धि भी उसकी इस मार्ग पूर्ति के लिए उसे पूर्णता नहीं प्रदान करती । जो केवल तार्किक मूल का ही एक विषय है, उसे तकमिास से विन्म यह द्वन्द्व कि ककह इस प्रकार की मूल से उत्पन्न नहीं है

१. एन०के० स्मिथ, ए कर्मट्री टु कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ४४८-४९, जहाँ कान्ट के ‘रेफ्लेक्शन’ में प्राप्त विचार उद्धृत किये गये हैं ।

यह द्रष्टु या विरोध स्वयं प्रज्ञा के स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, इस कारण यह अपरिहार्य एवं अनिवार्य है। यह एकवैश्व य एककाल में गीतर के एक पूर्ण समष्टि के रूप में विश्व से सम्बन्ध रखता है। विश्व के प्रत्यय के बारे में विशेषता यह है कि प्रज्ञा दो ऐसे तत्त्वों के बीच एक द्रष्टु या वैश्वता के उभयतः पाश के स्वरूप को अपनाती है, जिनमें से प्रत्येक कथक समानरूप से सत्य प्रतीत होते हैं। उपतिबद्ध की मांग के अनुरूप परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकारता से सम्बन्धित चार विप्रतिषेध उत्पन्न होते हैं, जो संसृति, विभाजन, प्रारम्भण और गीतर की निर्मरता में पूर्णता की मांग करते हैं।

चार विप्रतिषेधों को निम्नस्वरूप के उभयतः पाशों के रूप में रखा जा सकता है :—

- (१) सीमा और अप्रतिबद्ध का उभयतः पाश
- (२) सरल और संसृत् का उभयतः पाश
- (३) स्वातंत्र्य और कारणता का उभयतः पाश
- (४) अपरिहार्यता और आपात का उभयतः पाश

(१) सीमा और अप्रतिबद्ध का उभयतः पाश^३

यहां निर्दिष्ट प्रथम उभयतः पाश हमें सीमा से असीम के विप्रतिषेधों की ओर ले जाता है। सीमाता और असीमता का उभयतः पाश इस विप्रतिषेध का विचार करता है। विवाद है कि वेत और काल के पक्ष से विश्व सीमित है। परन्तु इसका व्यापारिता दृष्टिकोण भी उही प्रकार संभव है कि वेत और काल के पक्ष से विश्व असीमित है।

१. जे०पी० मक्फ़ी, डी०डी०, सी०बी०वाई० और जे०एच० कर्नल, डी०डी०, डी०सी०एल० कान्दस क्रिटिकल फ़िलासफी।, यहाँ एडीशन, बाल्युम-२, पृ० १०३

२. एन०के० स्मिथ, हमेंतुल कान्दस क्रिटिक् बॉफ़ प्यार रीज़न, पृ० ३६०

३. वही, पृ० ३६२

(२) सरल और संक्षेप का उभयतः पात्र -- यह वस्तु-विषयों के अभिन्नता तथा मिश्रितता का उभयतः पात्र है। यह न्यूनतम विस्तार-सम्बन्धी उभयतः पात्र है। वस्तुओं के अन्तिम भाग समुचित रूप से अभिन्न या सरल होते हैं और विभाजित किये जाते हैं, इसलिए इनकी विभाज्यता की एक सीमा है। इसके विपरीत विषय यह है कि वस्तुओं के अन्तिम भाग अपने आप में मिश्रित हैं इसलिए उनकी विभाज्यता की कोई सीमा नहीं है।

(३) स्वार्थ्य और कारणता का उभयतः पात्र -- प्रश्न यह है कि कारणता स्वार्थ्य है या यात्निक रूप से बद्ध है। उभयतः पात्र कारणों की श्रृंखला से सम्बन्धित है। विषय के स्वरूप का एक पक्ष यह है कि स्वार्थ्य का अस्तित्व है, प्रकृति के नियमों के अनुसार कारणता केवल कारणता नहीं है, एक स्वार्थ्य कारणता है। विषय का दूसरा पक्ष यह प्रदर्शित करता है कि कठोर स्वार्थ्य नहीं है, प्रकृति के नियमों के अनुसार कारणता ही केवल कारणता है, कोई भी कुछ कारणता नहीं है।

(४) अपरिहार्यता और आपात का उभयतः पात्र -- इस उभयतः पात्र में विचार-णीय विषय यह है कि विश्व, सत्ता की अपरिहार्यता से सम्बन्धित है या आपात से। विश्व के सम्बन्धों में एक आत्यन्तिक अनिवार्य सत्ता पायी जाती है, इसके विपरीत कोई भी आत्यन्तिक अनिवार्य सत्ता नहीं है वरन् केवल आपातिक सत्ता है।

इनके पक्ष तर्कविवादी, मतानुसारी तथा आध्यात्मिक वर्णन की निर्मित करते हैं और इसके विपरीत प्रतिपक्ष इन्द्रियानुभववादी संवेदवादी तथा मौक्तिकादी वर्णन की निर्मित करते हैं। धर्म-मीमांसा का शक्य विज्ञान से विरोध रहा है। उदाहरण के रूप में एक विरोध भी उसी प्रकार का विरोध है जिसमें धर्म-मीमांसा की ओर 'प्लेटो', 'बर्न' और 'लाइबनीज़' जाँकी तथा विज्ञान के पक्ष की ओर 'एपिक्कुरस', 'ड्यूम' जाँकी तथा स्वयं विज्ञान भी जाँका। परन्तु कान्ट उन दोनों

के बीच एक मध्यस्थ अवस्था मिणाधिक का कार्य करते हैं। प्रत्येक वादी, प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हैं परन्तु दार्शनिक कान्ट इस सत्यता से पूर्णतया अवगत हैं कि उनमें से कोई भी अपने पक्ष की रक्षा नहीं कर पाते।

बालीकनात्मक बाध्यात्मवाद के अतिरिक्त तर्कबुद्धिवाद और अनुभववाद के विप्रतिषेध का कोई भी समाधान नहीं है। यह बालीकनात्मक बाध्यात्मवाद इस समस्या को गौबर का एक ऐसा घन प्रदान करता है जिस पर वैज्ञानिक, काल व बुद्धि-कोटियाँ का नियन्त्रण है। इतना ही नहीं यह बालीकनात्मक बाध्यात्मवाद गौबर से पृथक् एक ऐसे परमार्थ को भी निर्धारित करता है जो वैज्ञानीय, कालातीत व अविनश्य है। प्रथम दोनो गणितीय विप्रतिषेध हैं तथा अन्तिम दोनो गतिशील विप्रतिषेध हैं। प्रथम दो विप्रतिषेधों के समाधान को 'अस्तित्व नास्तित्व' के रूप में वर्णित किया जा सकता है तथा अन्तिम दो के समाधान को 'अस्तित्ववाक्य' रूप में अर्थात् स्वीकारात्मक रूप में ही वर्णित किया जा सकता है। अतः प्रथम दो विप्रतिषेधों में पक्ष तथा विपक्ष--दोनों ही समान रूप से असत्य हो जाते हैं तथा वाद के दो विप्रतिषेधों में पक्ष तथा विपक्ष दोनों ही सत्य हो सकते हैं।

सबसे विप्रतिषेधों में पूर्ण रूप से प्रज्ञा वी रूपों में विभक्त हो जाती है क्योंकि यह सहीम में स्थित होने का प्रयास करती है ताँ विचार किली भी विवेकाधीन सीमा से परे पहुँचने के कारण इसका विरोध करता है और यदि यह अपने आपको सीम के स्थान-विन्दु पर स्थित करती है तो वहाँ पहुँचने में असमर्थ होने के कारण प्रत्यक्षीकरण इसका विरोध करता है।

यहाँ हम निम्न प्रकार से परिमाण, गुण, सम्बन्ध तथा प्रकारता--वार शीर्षकों के अन्तर्गत विप्रतिषेधों की कान्ट द्वारा दी गयी रूपरेखा की संक्षिप्त में यथार्थतः प्रस्तुत करेंगे, जिनमें से प्रथम दो गणितीय तथा वाद के दो गतिशील विप्रतिषेधों को निर्मित करते हैं।

१. एन००० रिमथ, डीमुक्कल कान्ट्स क्रिटिकल रॉफ़ प्योर रीज़न, पृ० ३६३

२. डे०पी० मसफ़ी, डी०डी०, पी०डी००जी तथा डे०एव० कान्टि, डी०डी०, डी०पी००,

एल०, कान्ट्स क्रिटिकल फ़िलासफ़ी, थर्ड एडिशन बोल्डू-२, पृ० १०४

(अ) पदः:-विश्व का प्रारम्भ काल के अन्तर्गत होता है, और वैश्व की दृष्टि से यह सीमाबद्ध है ।

यदि इसका प्रारम्भ कालान्तर्गत नहीं है तो हमें यह कहना पड़ेगा कि काल के प्रत्येक क्षण के अन्तर्गत समस्त समय के दिये हुए बिन्दु पर अनन्त काल व्यतीत हुआ है और इस प्रकार इस अनन्तता को एक समाप्ति पर आना होगा । यह समाप्ति भी एक दिये हुए क्षण में ही होगी, जो कि असम्भव है । यदि वैश्व की दृष्टि से विश्व में कोई सीमायें नहीं हैं, तब हमें यह मानना पड़ेगा कि विश्व असीमित रूप से विस्तृत परिमाण में ही जिसे निर्मित करने के क्रम में इसके लण्डों या अवयवों को काल की एक अनन्त अथवा असीम मात्रा को स्वीकार करना पड़ेगा अर्थात् काल की अनन्तता व्यतीत हो जावेगी, परन्तु ऐसा असम्भव वशिया या बुका है । इस प्रकार पद में प्रत्येक तर्क-कथन की अवकीकृति न्याय-असंगतता तथा तार्किक अनैवस्थ को समाहित करती है ।

(ब) प्रतिपक्ष :- विश्व का प्रारम्भ कालान्तर्गत नहीं होता है और वैश्व की दृष्टि से यह सीमाबद्ध नहीं है अथवा असीमित है ।

यदि विश्व का प्रारम्भ काल में हुआ है तो एक ऐसा समय भी अवश्य रहा होगा जिसमें विश्व नहीं था और एक रिक्त काल या समय रहा होगा । परन्तु एक हीते समय में किसी भी वस्तु का उद्भव नहीं हो सकता । इसी प्रकार से यदि विश्व वैश्वान्तर्गत सीमित है, तब हमें अनिवार्य रूप से यह मानना पड़ेगा कि इसके परे अवश्य ही एक रिक्त वैश्व होगा जिसके द्वारा इसकी सीमा निर्धारित थी । परन्तु रिक्ता वैश्व निरर्थक अर्थात् असंभव है । संबैवन्शास्त्र में कान्ट द्वारा इसका यथेष्ट रूप से ठोठ स्पष्टीकरण हो चुका है, जिसमें उन्होंने यह वशिया है कि वैश्व स्वयं एक वस्तु-विषय नहीं है बल्कि सम्बन्धित वस्तु-विषयों की केवल एक संभावना मात्र है । यहाँ भी हम एक ऐसी परिस्थिति का सामना करते हैं,

१. एन०के० स्मिथ, क्रिटिकल अंश और रीजन, पृ० ३६६

२. वही, पृ० ३६६

३. अन्तिम पृ० १००

जिसमें प्रतिपक्षा के प्रत्येक वादी का बरवीकृति तार्किक अनौचित्य को समाहित करती है ।

यहां दोनों पक्षों पर तार्किक बहिष्कृता से एक वास्तविक विप्रतिपक्ष की आन्वीक्ष्यात्मक रूप में प्रदर्शित किया गया है ।

(२) गुण -- अर्थात् सरल और संक्षेप का विप्रतिपक्ष ।

(अ) पक्ष -- विश्व में प्रत्येक संक्षेप पदार्थ सरल मार्ग से संगठित होता है । इसका तात्पर्य यह है कि विभाजनीयता की एक सीमा है ।

यदि मान लें कि विभाजनीयता की कोई सीमा नहीं है तो पदार्थ का अवश्य ही सदैव अनन्त रूप से विभाज्य होना चाहिए, इसलिए एक यथार्थ द्रव्य जैसी भी कोई वस्तु नहीं होनी चाहिए । 'अनन्त विभाजनीयता' और द्रव्य परस्पर विरोधी हैं । अतः कोई भी अनन्त विभाजनीयता का संगतपूर्ण प्रतिपादन नहीं कर सकता, यदि यह वस्तुओं में एक भौतिक या वास्तविक यथार्थता की रवीकार करता है । इस युक्ति से सम्बन्धित कान्ट का कथन मूल रूप में बहुत स्पष्ट तो नहीं है, फिर भी हागल यह सुझाव देते हैं कि यहां संक्षेप के प्रधान पर विभिन्न शब्द अधिक उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण होंगे । यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि पक्ष के हेतु युक्ति लाइब्निज़ के व्यक्तिगत द्रव्य या निविन्दु की धारणा से प्राप्त की गयी है । इसी कान्ट ने भी आनुवंशिक रूप से ग्रहण किया है ।

इस प्रकार पक्ष की बरवीकृति न्याय-असंगतता एवं अनौचित्यता से युक्त है ।

(ब) प्रतिपक्ष -- विश्व में कोई भी संक्षेप वस्तु असंगत मार्ग से संगठित नहीं होता अर्थात् विभाजनीयता की कोई सीमा नहीं है ।

१. एन०के० सिन्धु, क्रिटिक ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ४०२

२. जी०आर०जी० म्यूर, ए स्टडी ऑफ़ हागलस लैजिक्, पृ० ६१-६२

३. एन०के० सिन्धु, इमेजुल ऑफ़ कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ४०६

४. वही, पृ० ४०२

यदि मान लिया जाय कि विभाज्यता की एक सीमा है अर्थात् पदार्थ अंशतः लण्डन से निर्मित होता है तो यह पदार्थ पूर्णतया वैश में अवस्थित नहीं हो सकेगा, क्योंकि जब पदार्थ केवल सामान्य रूप से विभाज्य है तब वैश अनन्त रूप से विभाज्य है । वैश में अवस्थित रहने के लिए एक पदार्थ को उसी विशेष से युक्त होना पड़ेगा जो स्वयं वैश में ही, और न तो यह परतु-विषय काल के सम्पर्क से अवस्थित रह सकता है, भले ही इसे एक 'आन्तरिक गीवर' के रूप में समझा जाय । क्योंकि वैश अपना काल, किसी के द्वारा भी प्रस्तुत करने से इससे नामत्व का आभास हो जायेगा ।

अतः प्रतिपदा की अवचीकृति भी एक असंगति से युक्त है ।

(३) सम्बन्ध -- एक स्वतंत्र कारणता तथा यान्त्रिक कारणता का विप्रतिषेध ।

'वैलैन्स' के अनुसार कान्ट के विमर्श में कारणता का विभाजक रखा है जिससे प्रवाह विरोधी घाटियाँ की ओर अवरोधित होने हैं ।

पदा :-- 'यान्त्रिक कारणता' ही 'कारणता' का केवल प्रकार नहीं है, इसका अर्थ यह है कि स्वतंत्र कारणता को मानना भी अनिवार्य है ।

यदि मान लें कि कोई स्वतंत्र कारण नहीं है तब ऐसी स्थिति में भी प्रत्येक उत्पत्ती कार्य का सबैव एक पूर्ववर्ती कारण तो अवश्य ही होता है । स्वतंत्र कारण को न मानने से एक पूर्ण कारण का भी अवस्थित कदापि नहीं हो सकता है और परिणामस्वरूप 'अवस्था दोष' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । इससे यह भी उपलब्ध होता है कि घटित होने वाले गीवर के लिये एक पर्याप्त कारण भी नहीं हो सकता । इसी कारणता के नियम को भी बाधित हो जाना चाहिए ।

इस प्रकार यहाँ भी पदा की अवचीकृति एक असंगतता तथा अनिश्चित्य को प्रदर्शित करती है ।

प्रतिपदा :-- यान्त्रिक कारणता ही कारणता का केवल प्रकार है, इसका तात्पर्य है कि कोई भी स्वतंत्र कारण नहीं है ।

१. वैलैन्स, दि लॉजिक ऑफ् हीगल, पृ. १००

२. एम०के० स्मिथ, इमेजुअल कान्ट्स क्रिटिक ऑफ् प्यारिज़न, पृ० ४०६

३. वही, पृ० ४०६

यदि हम किसी स्वतंत्र कारण की स्वीकार करते हैं तो यह कारण केवल कारण-कार्यों की श्रृंखला को प्रारम्भ ही नहीं करता प्रत्युत उस श्रृंखला को प्रारम्भ करने के लिए स्वयं को नियत करता है। परन्तु ऐसा कि कारण स्वयं को नियत करता है तब इसका पूर्ववर्ती तो कुछ भी नहीं है, जो इसे निर्धारित करता हो। परन्तु यह बात तो कारणत्ता या कारणभाव की धारणा में निहित है, इसलिए ये जो एक 'विरपक्षा' बाधों को निर्मित करने वाला माना गया है, ऐसा स्वतंत्र कारण, कारणत्ता के नियम की ही लक्षित एवं बाधित करता है। अतः इस प्रतिपक्षा की अस्वीकृति भी न्याय-असंगतता को प्रदर्शित करती है।

(४) निश्चय-मात्रा--अपरिहार्यता तथा आपात का विप्रतिषेध।

पक्षा :--विश्व में एक नितान्त अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व है, या तो इस विश्व के अस्तित्व के रूप में है अथवा इसके कारण के रूप में है।

इसको सिद्ध करने के लिए कान्ट अपनी पक्षति को थोड़ा-सा परिचित कर देते हैं। अन्य विषयों में जिस कान्ट ने प्रत्यक्ष पक्षा, विपक्षा के विपरीत पक्षा को स्वीकार करके विप्रतिषेधों को सिद्ध किया है, परन्तु इस विषय की सिद्धि की कान्ट इसके विपरीत विषय की स्वीकृति द्वारा प्रारम्भ नहीं करते। प्रथम तो वह एक 'अनिवार्य सत्ता' को सिद्ध एवं प्रमाणित करे करते हैं तत्पश्चात् वह इसके विपरीत पक्षा को स्वीकार करते हैं कि यह अनिवार्य सत्ता विश्व से बाहर है और तब प्रदर्शित करते हैं कि इस प्रकार की स्थिति एक न्याय-असंगतता को समाहित करती है।

कान्ट का कथन है कि अनुभव-जगत काल के अन्तर्गत एक जगत है और इसी कारण यह अनुभव-जगत परिवर्तनों की श्रृंखलाओं को अन्तर्निहित करता है जिनमें से प्रत्येक श्रृंखला अनुबद्ध होती है। अतः यह 'अनुबद्ध श्रृंखला' अपने अस्तित्व के लिए कुछ अप्रतिबद्ध या विरपक्षातया नितान्त अनिवार्य वस्तु की पूर्ण अपेक्षा रखती है।

१. एन०के० स्मिथ, समैनुअल कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ४१५

२. वही, पृ० ४१७

अब पता में प्रतिपादित यह नितान्त अनिवार्य सत्ता ऐच्छिय ज्ञात में अन्तर्निहित है । इसके विपरीत यदि यह मान लें कि विश्व से बाहर इसका अस्तित्व है तब इस विषय में हम विरोधों में फँस जाते हैं । जबकि ऐच्छिय ज्ञात में परिवर्तन की श्रृंखलाएं अपना उद्गम इसी से प्राप्त करती हैं तो अनिवार्य कारण भी इसी ऐच्छिय ज्ञात से सम्बन्धित होगा । यदि एक अनिवार्य सत्ता विश्व से बाहर या परे अस्तित्व रखती है तो यह विश्व में ही उत्पन्न या प्रारम्भ नहीं हो सकती । अतः इस पक्ष की अवधारणा भी अशुद्धि से परिपूर्ण है ।

प्रतिपक्ष :- विश्व के बाहर या विश्व के अन्तर्गत एक कारण के रूप में एक नितान्त अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है ।

यदि हम मान लें कि विश्व में एक अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व है स्वयं विश्व ही एक अनिवार्य सत्ता है तब ऐसी स्थिति में जबकि यह सत्ता अनिवार्य है, हम दो वस्तुओं में से एक अवश्य घटित होगी :- (१) निरपेक्ष रूप से एक अनिवार्य सत्ता होगी जिसका तात्पर्य है कि यह सत्ता एक कारण के अभाव में होगी अतः एक कारण द्वारा कालान्तरित सभी विधारण के गतिशील नियम का यह विरोध करता है । (२) या यह मानें कि विश्व स्वयं ही एक अनिवार्य सत्ता है तब परिवर्तन की अनन्त श्रृंखला एक सम्पूर्ण रूप में नितान्त अनिवार्य होगी जबकि हमें से प्रत्येक आपात्कि है । यह स्वयं ही अपना विरोध करती है क्योंकि प्रथम-प्रथम आपात्कि वस्तुओं की बहुसंख्यक राशि एक समष्टि के रूप में अनिवार्य अथवा अपरिहार्य नहीं हो सकती ।

यदि हम यह मान लें कि विश्व से बाहर एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व है और यह सत्ता गाँवर की ^{परिवर्तन} प्रारम्भ करती है तो इसकी कारणता का काल में साथ ही जाना बाधित । परन्तु यदि ऐसा है तो यह स्वयं ही अनुभव के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है ।

अतः सभी प्रकार से प्रतिपक्ष की अवधीकृति अनैतिक है और रक्षित करती है ।

हमने वार्ता प्रतिपक्षियों का समाधान प्रस्तुत किया है परन्तु उनके समाधान से पूर्व हम निम्नलिखित बातों का ध्यान में रख सकते हैं :-

(१) बुद्धिवाद के दर्शन से संगृहीत पक्ष तथा अनुभववाद के दर्शन से संगृहीत प्रतिपक्ष दोनों ही अलग-ही दर्शन की शाखाएं हैं ।

(२) यह सम्भव है कि मतागुलिता प्रतिपक्षियों का समाधान कर सकती है । दर्शन की दोनों ही विरोधी अवस्थाएं, जो विरोध और गौहर की एक समष्टि का अनुमान लगाने का प्रयास करती हैं, गौहर तथा आनुभविक सत्ता को 'वस्तु-स्वच्छा' के रूप में अपनाती हैं । दोनों का ही ऐसा विचार है कि प्रवृत्ति प्रतिपक्षों या शर्तों के साथ ही साथ अप्रतिपक्ष भी प्रवृत्ति है । वास्तव में प्रवृत्ति से वृत्ति तथा प्रवृत्ति और अप्रतिपक्ष छल किये जाने के लिए हमारे समक्ष एक समस्या के रूप में प्रस्तुत हो जाता है । यह सत्य है कि प्रतिपक्ष तथा अप्रतिपक्ष दोनों ही एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, परन्तु इसी परिणामतः यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रतिपक्ष प्रवृत्ति है और इसकी अवस्थाओं को समग्र श्रृंखला को हम क्षीण ही मानते हैं । अतः इसलिए अप्रतिपक्ष को भी जाना जा सकता है । वस्तुतः वास्तविकता के दोनों वर्गों में से एक वर्ग का विश्व-विज्ञान एक अस्पष्ट या अकार्यक ढंग पर निर्भर है । यह निम्नलिखित व्याख्याओं से स्पष्ट है --

प्रतिपक्ष (पारणा) अप्रतिपक्ष को उपलक्षित करता है ।

यह गौहर प्रतिपक्ष (अनुभव) है ।

∴ गौहर अप्रतिपक्ष को उपलक्षित करता है ।

यहां साध्य आधार वाक्य में प्रतिपक्ष का प्रयोग पारणा या संप्रत्यय के अर्थ में किया गया है तथा पक्ष आधार वाक्य में इसको अनुभव के वस्तु-विषय के रूप में समझा गया है । ऐसा होने से यहां अनुपस्थिति दोष उत्पन्न हो जाता है ।

(३) संश्लेषवाद भी विप्रतिषेधों का हल नहीं कर सकता है। यह तर्कबुद्धि या प्रज्ञा को अज्ञान एवं अयोग्य समझता है। यह केवल अपने स्व-व्याघात को ही दितलाता है परन्तु स्व-व्याघात के अर्थ की व्याख्या नहीं करता। इसके प्रति उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि तर्क-बुद्धि अयोग्य व अज्ञान है तो यह कैसे जान सके कि यह अज्ञान भी।

समालोचक वार्षिक प्रज्ञा की विश्वसनीयता तथा यथार्थता एवं क्षमता को स्पष्ट करते हैं तथा उसी समय इसे सीमाबद्ध कर देते हैं। वे भावों की विषयगत या आत्मगत प्रामाणिकता को तो सिद्ध करते हैं परन्तु उनकी विषयगत या वस्तुगत प्रामाणिकता को अस्वीकार करते हैं। वे द्रष्टव्यता की तीन समस्याओं का सन्तोषजनक उत्तर संतोषप्रद तरीके से देते हैं--(क) भावों का उद्गम--ये प्रज्ञा के स्वभाव से ही व्युत्पन्न हैं। (ख) भावों का स्वरूप-- ये विषयगत अथवा आत्मगत प्रामाणिकता रखते हैं, परन्तु वस्तुगत अस्तित्व नहीं रखते क्योंकि उनकी प्रत्यक्षावबुद्धि नहीं हो सकती। (ग) भावों के कार्य--ये श्रुत्य के अथवा वस्तु-स्वल्पाणा के संघटक या विधायक नहीं हैं। वे नियमों के रूप में श्रुत्य की सहायता करते हैं यानि ये नियामक हैं।

विप्रतिषेधों का समाधान :- बुद्धियों का विस्तृत विवेचन--इस सम्बन्ध में
निम्नलिखित बातें लक्षित की जा सकती हैं :-

(१) समस्या का हल प्रथम दो को गणितीय विप्रतिषेधों के रूप में तथा 'लेख' दो को गतिशील विप्रतिषेधों के रूप में स्थापित करके उनकी पृथक् करता है -- गणितीय व गतिशील बुद्धि-कोटियों; और गणितीय एवं गतिशील सिद्धान्त। गणितीय विप्रतिषेध श्रृंखला के विस्तार से सम्बन्ध रखते हैं, गतिशील विप्रतिषेध श्रृंखला को निर्मरता से सम्बन्ध रखते हैं, जिस पर वे इसे उत्पन्न करते हैं। प्रथम तीनों भागों की संरचना पर विचार करते हैं तथा उससे सम्बन्ध रखते हैं द्वितीय विचार उनके अस्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं।

(२) गणितीय संश्लेषण देश के अन्तर्गत अंशों से देश में अंशों की और तथा काल के अन्तर्गत घटनाओं से काल में घटनाओं की और अगुसर होता है। अतः यहां अप्रतिबद्ध-प्रतिबद्ध के साथ स्वरूपित हो जाता है अर्थात् दोनों सजातीय हो जाते हैं। परन्तु गतिशील संश्लेषण सजातीय से सजातीय की और नहीं अगुसर होता, यह विषमसजातीय से विषमसजातीय की और बढ़ता है, उदाहरण स्वरूप कारण व कार्य, अपरिहार्य व आपात सजातीय नहीं होते। अतः यहां अप्रतिबद्ध भी प्रतिबद्ध के समरूप नहीं होता अर्थात् वे समजातीय नहीं होते।

(३) गणितीय और गतिशील विप्रतिषेध में यही, वह गुण है जो प्रथम के पक्ष और विपक्ष को असत्य सिद्ध करने में के लिए उत्तरदायी है, जबकि द्वितीय के पक्ष-विपक्ष दोनों को सत्य सिद्ध करने में, वे समर्थ होते हैं। प्रथम में हम प्रतिबद्ध के क्षेत्र के अन्तर्गत अप्रतिबद्ध को लोपना था और इस कारण हम अपने आप को ही बाधित करने के लिए विवश एवं बाध्य हो गये थे, जबकि द्वितीय में इस अप्रतिबद्ध की लोप के लिए हमें दो विकल्प प्राप्त थे—या तो हम प्रतिबद्ध के क्षेत्र में प्रवेश करें या तो उसके बाहर ही रहें। अतः इस प्रकार के प्रतिपादन से पक्ष और विपक्ष दोनों ही सत्य हो सकते हैं। बसतः कि अप्रतिबद्ध को प्रतिबद्ध के क्षेत्र से परे कल्पित किया जाय एवं समझा जावे। गणितीय विप्रतिषेधों के पक्ष और विपक्ष दोनों ही असत्य हैं क्योंकि वे अनुभव के ज्ञात का उल्लेख नहीं कर सकते, परन्तु करते हैं। यदि गतिशील विप्रतिषेध अनुभव के ज्ञात का उल्लेख करते हुए रवीकार किये जाते हैं तो ठीक उसी प्रकार से उनके भी पक्ष और विपक्ष समान रूप से असत्य हो जाते हैं क्योंकि स्वतंत्र कारण और अनिवार्य सत्ता अनुभव में प्रदत्त नहीं हो सकती। जब पक्ष कमल बोधान्वय ज्ञात का उल्लेख करे और प्रतिपक्ष गौतम ज्ञात का उल्लेख करे, केवल तभी गतिशील विप्रतिषेधों की स्थिति में वे दोनों पक्ष और विपक्ष सत्य होते हैं।

-
१. एन०के० स्मिथ, हमैरुजल कान्दस क्रिटिक ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ४६२ तथा ४८०
 २. पै०पी० महफ़ी, डी०डी०, सी०वी०जी० तथा पै०एच० कर्नार्ड, डी०डी०, डी०सी०
 एस, कान्दस क्रिटिकल फ़िलासफ़ी, पृ० १०७-१०८

प्रथम विप्रतिषेध का समाधान :- विश्व न तो सीमित है, न तो असीमित और न तो सान्त है न अनन्त । पक्ष और वि प्रतिपक्ष दोनों ही समान रूप से असत्य हैं क्योंकि दोनों ही ब्रह्माण्ड को प्रकृत रूप में समझते हैं । वस्तुतः गाँवर की एक पूर्ण ब्रह्मला के रूप में ब्रह्माण्ड केवल एक भाव या प्रत्यय है । विश्व अपने आप में अस्तित्वयुक्त नहीं होता प्रत्युत गाँवर के आनुमयिक प्रतिगमन में अस्तित्व रखता है । असीमित तथा रिक्त देश और अनन्त तथा शून्य काल दोनों ही समान रूप से अग्राह्य और अलक्ष्य हैं । अतः हम यह नहीं कह सकते कि उनसे प्रकृत ब्रह्माण्ड सान्त है या अनन्त है । देश और काल के प्रतिगमन के समक्ष एक आत्म-अस्तित्वयुक्त ब्रह्माण्ड की धारणा व्याघातपूर्ण है । देश और काल के अन्तर्गत विश्व न तो सान्त रूप से विस्तृत है और न अनन्त रूप से विस्तृत है वरन् अनिश्चित रूप से विस्तार्य है ।

द्वितीय विप्रतिषेध का समाधान :- पदार्थ न तो संवत् भागाँ से संगठित है न असंवत् भागाँ से । यहाँ भी पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों समान रूप से असत्य हैं, क्योंकि दोनों ही भौतिकवादी निकायों को एक ऐसे वस्तु-खलकाण के रूप में स्वीकार करते हैं जो सभी अनुभव से पूर्ण ही अपने भागाँ को सीमित-असीमित संख्या संख्या को अन्तर्निष्ठ करता है, जबकि यह असंगत है । देश और काल तथा देश व काल में पदार्थ, न तो सान्त रूप से विभाजित है और न तो अनन्त रूप से, प्रत्युत वे अनिश्चित रूप से विभाज्य हैं । कान्ट प्रथम विप्रतिषेध का समाधान यह कह कर करे हैं कि सान्त विस्तार तथा अनन्त विस्तारिता के बीच कोई व्याघात नहीं है, द्वितीय विप्रतिषेध के समाधान के विषय में उनका कहना है कि सान्त विभाजन और अनन्त विभाज्यता के बीच भी कोई व्याघात नहीं है । कान्ट की समीक्षा करते हुए केई कहते हैं कि हम कान्ट के समाधान को एक अल्प परिवर्तन के

१. रासबिहारीदास, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्याररीज़न, पृ० १६७, तथा २०५० ईपू, एक ए शॉर्ट कमेंट्री ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्याररीज़न, पृ० २२३

२. एन०के० स्मिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्याररीज़न, पृ० ४३७

साथ स्वीकार कर सकते हैं। हम वैश को केवल प्रत्यक्ष के एक आकार के रूप में नहीं स्वीकार करते। कान्ट वैश की इसी प्रकृति में विप्रतिषेध का समाधान प्राप्त करते हैं। और क्योंकि वैश एक अन्तिम एवं मूल कुछ वस्तु नहीं है जैसा कि कान्ट समझते हैं, इसलिए हम स्वयं वैश की प्रकृति में समाधान नहीं प्राप्त करते, वरन् वस्तुओं के ऐसे व्यष्टित्व तथा समुदाय में प्राप्त करते हैं जो साथ-साथ वैश का एक उत्तम संश्लेषण निर्मित करते हैं। इसी प्रकार से हम प्रथम दो विप्रतिषेधों का समाधान स्वयं ऐसी काल की प्रकृति में नहीं प्राप्त कर सकते जो काल प्रत्यक्ष का एक आकार हो तथा एक अन्तिम या मूल वस्तु हो, बल्कि स्वयं काल के दो ऐसे चार्जों के आत्म-तादात्म्य तथा परिवर्तन में प्राप्त कर सकते हैं, जो विप्रतिषेध के लिए उपरवाची हैं। इससे अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि न तो वैश ही अन्तिम वस्तु है और न तो काल। काल ही वैश का प्रथम निषेध है, और एक उत्कृष्ट उर्थ में वैश व काल एक अन्तिम संश्लेषण में व्यतीत होते हैं। यह विवेचन भिक्का उद्गम व्यष्टित्व एवं समुदाय तथा आत्म-तादात्म्य एवं परिवर्तन में है, प्रथम और द्वितीय दोनों विप्रतिषेधों से सम्बन्धित है।

तृतीय विप्रतिषेध का समाधान :-—स्वतंत्र कारणता और यांत्रिक कारणता समाप्य व संगत है।

यहां पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों ही सत्य हो सकते हैं, यदि प्रथम एक बोधाम्य जात का उल्लेख करें और द्वितीय गौवर जात का। यह तथ्य कि बोधाम्य जात में हमारे आनुभविकता अनिवार्य कृत्या के अधिष्ठान के रूप में एक बोधाम्य स्वातंत्र्य अस्तित्व रह सकता है, इस तथ्य के साथ असंगत नहीं है कि गौवर के जात में कारणता सम्बन्ध बिना किसी व्यष्ट व्यवधान के क्रमसर होता है और उस जात में स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान नहीं है। अस्तित्व रह सकता है यह समालोचक-पार्श्विक के लिए एक ज्ञान का प्रश्न नहीं है वरन् अज्ञा-विश्वास का प्रश्न है।

कान्ट मानव के बोधाम्य चरित्र की मूल्योचित अवधारणा का परिचय देकर तृतीय विप्रतिषेध का समाधान करते हैं। मानव दो जात का नागरिक है।

बोध की एक सत्ता के रूप में मनुष्य अपनी कामनाओं का एवं अपने कार्यों में प्राकृतिक आवश्यकता के नियन्त्रण के लिये विषयी है तथा प्रज्ञा आतर्कबुद्धि की सत्ता के रूप में वह अपने नैतिक नियम के संकल्प में पूर्णतया स्वतंत्र है। अनिवार्यता उत्पन्न उसके कृष्णों को विज्ञान ग्रहण करता है। नैतिक निर्णय उसके कार्यों के लिए उसे उत्तरदायी ठहराता है। एक विषय में वह अपने हकिक हन्मियानुमधिक चरित्र को प्रदर्शित करता है और दूसरे विषय में अपने बौधाय चरित्र को।

अतः एक बौधाय कारण के रूप में मानव प्राकृतिक कारणता के प्रतिबन्धों से पूर्णतया मुक्त है, जबकि गौर के ज्ञात में वह परिवर्तन का एक कारण अवश्य हो सकता है। जब एक गौर हन्मियानुमधिक कारणता के अन्य नियम द्वारा निर्धारित हो सकता है तब हन्मियानुमधिक कारणता स्वयं ही एक बौधाय कारण का परिणाम हो सकती है। इस भाँति हम देखते हैं कि किस प्रकार एक बौधाय कारण के परिणाम अपने आप गौर ज्ञात के वन्तर्गत उपस्थित हो सकते हैं। मानव एक आत्म-चेतन प्राणी है, आत्मचेतनता के विश्लेषणात्मक निर्णय में वह अपने ही प्रति चैतन्य है, यद्यपि संश्लेषणात्मक निर्णय से प्रत्यागमन में ही यह उद्भूत होता है तथापि य. इसके साथ एककपित नहीं हो सकता। वह एक प्रज्ञा अथवा तर्क-बुद्धि से युक्त प्राणी है, यद्यपि उसकी सैदान्तिक तर्क-बुद्धि सीमित है, परन्तु यह प्रज्ञा के एक ऐसे प्रयोग की ओर संकेत करती है जो व्यावहारिक सीमा से मुक्त है। अतः यह प्रश्न ही अर्थहीन है कि प्रकृति क्या करना चाहती है। मानव के सम्बन्ध में हम यह प्रश्न कर सकते हैं। उसकी हज्जाओं के विषय में यह अनुक्रम 'प्राकृतिक कारणता' के कारण हो सकता है क्योंकि कामनाओं या हज्जाओं से युक्त वह एक आनुमधिक प्राणी है। परन्तु अपने 'जुनाव' की हज्जा में वह पूर्णतया मुक्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वही कार्य जो कारणता के प्राकृतिक नियमों के वन्तर्गत जाता है, सैदान्तिक प्रज्ञा से नहीं परन्तु 'व्यावहारिक प्रज्ञा' से जागे बढ़ सकता है। बौधाय स्वरूप में प्रज्ञा की कारणता काल के वन्तर्गत वृद्धतापूर्वक नहीं

१. सन०के०स्मिथ, हर्मेनुकल कान्ट्स क्रिटिक् वॉफ़ प्यार रीज़न, पृ० ४६५, तथा
रिवार्ड फ़ैलेनबर्ग, हिस्ट्री वॉफ़ मोडर्न फ़िलासफ़ी पृ० ३७७

व्यक्त होती और इसीलिए यह प्राकृतिक कारणता का विषयी नहीं है, और इसीलिए यह वस्तुतः पूर्ण मुक्त है। एक वास्तविक तथ्य के रूप में सिद्धान्तिक तर्क-बुद्धि या प्रज्ञा स्वातंत्र्य को प्रमाणित करने में असमर्थ है परन्तु व्यावहारिक प्रज्ञा इसे प्रमाणित कर सकती है।

तृतीय विपत्तिविषय के समाधान की समीक्षा :

कान्ट यह स्वीकार करते हैं कि वाकृतिक रूप में कारणता की कोटि केवल गौबर के साथ गौबर का संयुक्त करती है, परन्तु वाकृति से संबंधित करके रिक्त या शून्य कोटि का प्रयोग गौबर और परमार्थ सत् के बीच एक सेतु के रूप में किया जा सकता है। इस प्रकार यहाँ पर वे उसकी वाकृति से संबंधित करके कोटि को एक संश्लेषणात्मक स्वरूप प्रदान करते हैं, जबकि इसके पूर्व प्रत्येक स्थान पर इसे खरीकार करते हैं। यहाँ पर कारणता की कोटि केवल गौबर और गौबर के मध्य नहीं अपितु गौबर और परमार्थ सत् के मध्य एक संश्लेषणा का अभिव्यक्त करती है। अन्य शब्दों में, कान्ट असंगत रूप से अपने सिद्धान्तों के साथ यह स्वीकार करते हैं कि रिक्त कोटि एक संश्लेषणात्मक स्वरूप से युक्त होती है। सत्य यह है कि गौबर ज्ञात परमार्थ ज्ञात से वाक्य कुछ वस्तु नहीं है और यह परमार्थ द्वारा ही निर्धारित है, केवल कि कान्ट का कथन है, परन्तु परमार्थ ज्ञात यथार्थ सत्ता है तथा गौबर ज्ञात हमारे लिए इसी यथार्थ का आभास है।

१. लेथिस व्हाइट के, इमेनुएल कान्ट फिटिक् वर्क प्रैक्टिकल रिज़न, पृष्ठ १०६

२. वही, पृष्ठ १३ तथा ३१

"The solution to the third antinomy, therefore, is achieved through a distinction between the world of appearance and the world of supersensuous reality. This dualism is the necessary presupposition of Kant's ethical theory. Without it science would be the only occupation of reason. With it science is limited in two respects: a boundary is fixed beyond which scientific knowledge cannot aspire and the possibility is established that natural law may not be the only form of causality." p. 13.

तृतीय विप्रतिषेध का समाधान --बौद्धात्म्य ज्ञात में एक अनिवार्य सत्ता है, जबकि गौहरता में प्रत्येक वस्तु आपात्कि है ।

यहां पक्ष और विपक्ष दोनों ही सत्य हो सकती हैं । यदि पक्ष एक बौद्धात्म्य ज्ञात का और विपक्ष गौहर ज्ञात का उल्लेख करे । यह तर्क कि बौद्धात्म्य ज्ञात में सब आनुभविक, अनिवार्य गौहर के अधिष्ठान के रूप में एक अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व है, इस तर्क से असंगत नहीं है कि गौहर के ज्ञात में कारण-कार्य सम्बन्ध सीमाशून्य होकर क्लृप्त होता है और उस ज्ञात में अनिवार्य-सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है । जिस प्रकार तृतीय विप्रतिषेध में यह संभव प्रतीत हुआ था कि एक अप्रतिबद्ध बौद्धात्म्य कारण है उसी प्रकार यहां भी यह संभव प्रतीत होता है कि एक 'अप्रतिबद्ध बौद्धात्म्य सत्ता' का अस्तित्व है । इस कल्पना में कुछ भी असंभव नहीं है कि गौहर के सम्पूर्ण संवेदन या संवित्तियां एक 'अनिवार्य सत्ता' पर आश्रित हैं, जो स्वयं ही सभी गौहर की संभावना की शक्ति है । इस प्रकार गौहर को वस्तु स्वल्पाणां के साथ एकत्रित करने से उत्पन्न होने वाले व्याघातों का हमने समाधान कर दिया है ।

1. "The argument begins with the third antinomy, whose antithetical propositions, we remember, may both be true provided their respective scopes are defined. Thus nature as existing in time is determined under the category of causality. It is however, possible to think (though we can not know) noumena-things-in-themselves- which are not in time and are therefore independent of the law of nature. Hence, if man is not merely a phenomenon but also a noumenon, then he may be free as noumenon (in accordance with the thesis) without ceasing to be mechanically determined in his role as temporal phenomenon (as the antithesis asserts)" p.31

१. रिचार्ड फाल्सेनबर्ग, दि हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, पृ० ३७७

२. जोन वाटसन, दि फिलॉसफी ऑफ कान्ट एकसप्लेन, पृ० २८३

युक्ति-युक्त मनीषिज्ञान में वात्स्य-वैतनता की परिधि या उसके हेतुबोधमान को पूर्ण करने के लिए और वात्स्या को परिपूर्ण संज्ञा के रूप में निर्धारित करने के लिए प्रयास किया गया था । युक्ति-युक्त सृष्टि-विज्ञान में वस्तुगत-वैतनता की परिधि या उसके हेतुबोधमान को पूरा करने के लिए तथा विश्व को एक परिपूर्ण संज्ञा के रूप में निर्धारित करने के लिए सम्पूर्ण प्रयत्न किये गये थे । जब इस प्रकार प्रज्ञा के आवर्त के हेतुबोधमान के साथ उनकी संयुक्त करने का प्रयत्न न किया जा सका तब बुद्ध प्रज्ञा का एक उत्कृष्ट हेतुबोधमान निर्मित कर दिया जाता है । इस सम्बन्ध में हीगल निम्नलिखित बातों को उल्लेख करते हैं कि--

(१) विपक्ष विचार केवल विश्लेषणात्मक या पुनरुक्तिपूर्ण है ।

(२) संघटित के विषय पर प्रयुक्त होने वाला विचार केवल संश्लेषणात्मक है इसलिए यह अपनी ओर वापस नहीं जा सकता । वास्तविक हीगल बारम्बार इस बात की पुनरावृत्ति करते हैं कि युक्ति-युक्त सृष्टि-विज्ञान के बार विपक्षिणत्व में ही व्याघात परिधीय नहीं है बल्कि यह उन प्रत्येक वस्तु-विषय में पाया जाता है जिसका विचार किया जा सकता है । विचार तार्किक रूप में संश्लेषणात्मक है तथापि विरोधात्मक है । यद्यपि हमें यह प्रान्ति हो सकती है कि विवाद-प्रसिद्धता की अग्नि ज्ञान^{ही}प्रदीपिका है और फिर स्थलों पर हम विचारों का संघर्ष हुआ है उन पर हम निर्भय होकर चल सकते हैं, परन्तु यह प्रान्ति केवल प्रान्ति मात्र ही है, क्योंकि विवादप्रसिद्धता के ऊपर हुए अंगारे पुनः धक्का सकते हैं । इसका अर्थ यह है कि विवाद नितान्त ही असन्त है । हमारे प्रत्यक्ष द्विधारी अंगार हैं जो अपने प्रयोग करने वाले हाथों को भी काट देते हैं और साथ ही साथ उस वस्तु को तो काटते ही हैं जिसके लिए उन्हें प्रयुक्त किया जाता है । मैं हूँ जो हमारे दृष्टिकोण से केवल विश्लेषणात्मक है यह भी समाधान में सभी व्याघातों की गहनता को नियन्त्रित करने के लिए प्राप्त होता है । सभी वस्तुएं व्याघात से परिपूर्ण हैं । ऐसा कि सामान्य बुद्धि से विश्वास किया जाता है, विपक्षिणत्व असत्य इन्द्रिय

का केवल आगन्तुक परिणाम नहीं है और न ही यह विनियोग के एक सृष्टि-वैज्ञानिक क्षेत्र में बुद्धि का एक मूलभूत अनिवार्य गतिर हो है अपितु अनिवार्य रूप से यह स्वयं ही विचार का नियम है । अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि वह विचार को अभिन्नता के ऐसे गुण से आरंभित करता है जिसे यह अभिव्यक्त एवं शुद्ध अभिन्नित चेतन्य के लिए रखता है । उनका कहना है कि व्याघात बाह्य रूप से प्रदत्त पदार्थों पर विचार के विनियोग से उत्पन्न होता है । पुनः हीगल प्रत्येक स्थान में ऐसे व्याघात की उपलब्धि पाते हैं जो केवल प्रत्यक्ष पर ही प्रयुक्त होने वाले विचार में नहीं निहित हैं, अपितु स्वयं विद्वत् विचार में भी निहित हैं । वे ऐसे व्याघात को कहीं नवीं प्राप्त करते जो समन्वय या समाधान के लिए अयोग्य हैं, अतः पुनः यहाँ पर वह कान्ट से असहमति रखते हैं । यही हीगल के विधान्त का वह पक्ष है जिसे बहुधा उपेक्षित या गलत समझा जाता है । ठीक इसी रूप में हीगल प्रत्येक स्थान पर व्याघात की उपलब्धि पाते हैं कि एक निरपेक्ष व्याघात का वह कहीं भी नहीं पाते । दूसरी ओर कान्ट विचार के एक विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से प्रारम्भ करके इसी के अन्तर्गत किसी भी ऐसी वस्तु को नवीं प्राप्त करते जो वास्तव-विशिष्टता को दिखाती है, इसी कारण वह संवेदन के विरुद्ध वैज्ञानिक और काल के अपने आकारों के साथ इसे स्थापित करने के लिए बाध्य हो जाते हैं । अतः विचार में बाह्य रूप से सम्बन्धित व्याघात का समाधान करने में कान्ट असमर्थ है ।

इसी प्रकार शुद्ध-बुद्धि मीमांसा में कान्ट ज्ञान के क्षेत्र को विभक्त करके यह विवक्षित करते हैं कि बुद्धि-युक्त मनोविज्ञान ईश्वर विज्ञान तथा सृष्टि-विज्ञान अपने-अपने विचार-विषयों से सम्बन्धित उत्पन्न समस्त ज्ञान प्रदान करने में भी असमर्थ हैं इसलिए इनके विषय में यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि वे स्वयं ही न्याय-अज्ञात हैं । अतः सम्पूर्ण तत्त्व-दर्शन सारहीन है और स्वलक्षण

तथा परमार्थ ज्ञान के विषय के सही अर्थ में ज्ञेय है । कान्ट के अनुसार पारमार्थिक आत्मज्ञान, ईश्वर तथा विश्व से सम्बन्धित तत्त्ववैज्ञानिक सिद्धान्त प्रज्ञा को अनिवार्य प्रवृत्ति से निर्मित हुए हैं । यह प्रज्ञा ही अपने प्रत्यक्षों को वस्तुगत सत्ताओं के साथ प्रमित कर देती है तथा बुद्धिक्रीटियों को परमार्थ पर आरोपित कर देती है । तत्पश्चात् हमें यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि ज्ञान के क्षेत्र में परमार्थ ज्ञेय है, यद्यपि यह ज्ञान के सत्त्वगुणवत्त्व सम्भाव्यता की तार्किक पूर्वमान्यता है । इस प्रकार बुद्धि-बुद्धि मीमांसा में इन्द्रिय के प्रयोग द्वारा ज्ञान का परिशीलन करते हैं तथा व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा में अज्ञा के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं ।

--

१. एन०के० रिम्प, पि क्रिटिक् ऑफ़ प्यार रिज़न, पृ० ४४६

२. लैबिस व्हाइट कैक, इमेनुएल कान्ट, क्रिटिक् ऑफ़ रीज़न, प्रिन्सिपल रिज़न, पृ० १३-१४ ।

अध्याय-३

● 此項研究係由美國國家衛生研究院所資助

2, " In Both its speculative and its practical employment;
pure reason always has its dialectic: " .

पैठिकाक राजन, पृ० २१२, प्रथम अनुच्छेद का प्रथम पंक्ति ।

३. डेविड ह्याइट, मैनुअल कान्ट्रिब्यूट ऑफ प्रेसिडेंस राजन, पृ० २१२

इसलिए इस अप्रतिबद्ध को ज्ञान के एक विषय के रूप में नहीं प्राप्त किया जा सकता है । परन्तु हम देखते हैं कि ऐसा होने पर भी हमारी तर्कबुद्धि प्रज्ञा अप्रतिबद्ध के अनिवार्यता की इसनी कायल है कि अपरिहार्य रूप से यह इस भ्रम में पड़ जाती है कि गौवर के क्षेत्र में अप्रतिबद्ध को पाया जा सकता है । अपने अप्रतिबद्ध के लौच-सम्बन्धी इस रथामाधिक भ्रम के अन्तर्गत यह तब तक प्रवेश करती जाती है जब तक कि इसका साक्षात्कार एक निरपेक्ष आत्यन्तिक विरोध से नहीं हो जाता है । केवल इसी प्रकार के विरोध का साक्षात्कार करने के परिणामस्वरूप ही यह इस बात का संदेह प्रारम्भ करती है कि अप्रतिबद्ध ज्ञान का एक विषय नहीं हो सकता^१ है ।

अपने सिद्धान्तिक प्रयोग में तर्क-बुद्धि प्रज्ञा की संपूर्ण शक्ति क्या है, इससे अवगत होकर तथा इसके सम्पूर्ण शक्ति की समुचित समीक्षा करने के पश्चात् ही उपरोक्त सत्य को दृष्टि में लाया गया है । एक वाक्य अलौकिक से तो ऐसा प्रतीत व दृष्टिगत होता है कि प्रज्ञा अपने अप्रतिबद्ध सम्बन्धी लौच में पूर्णरूपेण धबरा-सी गयी है तथा विरोध में फंस गयी है । परन्तु गहन चिन्तन एवं मनन द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि वह विरोध ही वस्तुओं के उच्च स्वरूप को प्रकाश में लाने का एक उचित साधन है । जब हमें यह पता लग जाता है कि सम्पूर्ण गौवर निरपेक्ष परम सत्ताएं नहीं हैं और अभी तक हम इन्हीं को परम सत्ताओं के रूप में गृहण करते रहे हैं, तब हम इस तथ्य पर दृष्टिपात करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं कि 'परम सत्ता' का, जैसी यह स्वयं अपने आप में है, अवश्य ही इन्द्रियगोचर अनुभव की अपेक्षा एक उच्चतर स्वरूप का होना चाहिये^२ । इस प्रकार जब हम अपने स्वातंत्र्य के विषय में एक बार ऐसी

१, जॉन वाट्सन, दि फिलॉसफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७४

२, लेविस ब्राइट कैस, इमैनुएल कान्ट क्रिटिक ऑफ रीजन प्रिन्सिपल रीज़न, पृ० १२

सवा की संभावना को दैत चुके हैं जो हमारे ऊपर हमारे नैतिक नियम की
 रेतना के तथ्य द्वारा जारोपित है, तब हम उस विरोध का समाधान करने में
 भी समर्थ हो जाते हैं, जिसका समाधान करना सैदान्तिक प्रज्ञा के लिए असंभव
 था^१।

हमारी तर्क बुद्धि प्रज्ञा अपने सैदान्तिक प्रयोग में द्वन्द्वन्यायात्मक है
 और शुद्ध-बुद्धि भीमांसा ने पूर्णरूप से यह दिखाया कि बिम्बनात्मक प्रज्ञा के
 स्वाभाविक द्वन्द्वन्याय की व्याख्या किस प्रकार हो सकती है तथा जिस प्रम
 के विषय हम ही हैं, ऐसे स्वाभाविक प्रम से निगमित ज्ञात्य अनुमानों के विरुद्ध
 हम किस प्रकार अपने आप को सुरक्षित रखने में असमर्थ हो जाते हैं। पुनः हम
 देखते हैं कि सैदान्तिक प्रयोग की भांति अपने व्यावहारिक प्रयोग में भी हमारी
 प्रज्ञा द्वन्द्वन्यायात्मक है और यहाँ यह व्यावहारिक रूप से प्रतिबद्ध के लिए
 अप्रतिबद्ध की मांग करती है। अतः व्यावहारिक बुद्धि भीमांसा के लिए यह
 अनिवार्य हो जाता है कि वह भी अपने विषय में उत्पन्न प्रम की एक व्याख्या
 प्रस्तुत करने का प्रयत्न करे। जिस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में तर्क-बुद्धि प्रज्ञा ने
 इन्द्रियान्तर प्रत्यक्षीकरणों के लिए अप्रतिबद्ध को खोजने का प्रयत्न किया
 उसी प्रकार व्यवहार के क्षेत्र में यह तर्क-बुद्धि स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ, रुझानों
 अथवा इच्छाओं से अपना प्रयत्न प्रारम्भ करके इन्हीं के लिए एक अप्रतिबद्ध की
 मांग करता है, यद्यपि इस सम्बन्ध में अप्रतिबद्ध को संकल्प-शक्ति के निर्धारण के
 रूप में नहीं समझा जाता है वरन् इसे केवल शुद्ध व्यावहारिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा
 के विषय की एक अप्रतिबद्ध समुत्ता के रूप में समझा व अपनाया जाता है।
 यह विषय ही सर्वोच्च श्रेयस^२ है।

१. एच० डबल्यू० कैसिरर, ए कर्मेटी ऑन कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ जगमेन्ट, पृ० ६०, तथा

जॉन वाट्सन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७४

२. लेविस ह्वाइट के, इमेन्युअल कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१३

सर्वोच्च श्रेयस का प्रत्यय उस बात की पूर्ण-अपेक्षा रखता है कि हमारी संकल्प या इच्छाशक्ति विशुद्ध रूप से एक सार्वमानिक नैतिक नियम के स्वरूप द्वारा निर्धारित हो, किसी भी नैतिक दृष्ट्य या पदार्थ द्वारा नहीं^१। इस लक्ष्य का पूर्ण-रूपेण निरीक्षण एवं अवलोकन कर लेने के पश्चात् ही हम शुद्ध व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के दम्बन्याय के प्रकरण में आगे बढ़ सकते हैं। हम शीघ्र ही देखेंगे कि 'सर्वोच्च शुभ' दो अवयवों से युक्त है :--(१) प्रथम अवयव सद्गुण के अनुमति की धारणा है, अर्थात् यह श्रेयस नैतिकता के साक्षात्कार की धारणा को अपने में समाहित करता है और (२) द्वितीय अवयव सानन्वयता के अनुमति की धारणा है अर्थात् यह अपने में प्रसन्नता के अपरोक्षानुमति की धारणा को समाहित करता है। यह वह लक्ष्य है जिसकी मांग हमारी प्रज्ञा करती है। कान्ट का कथन है कि यह सर्वोच्च शुभ वह प्रेरणा नहीं है जिसके द्वारा संकल्प-शक्ति को निर्धारित किया जाता है। क्योंकि विद्वत् प्रेरणा तो स्वयं ही नैतिक नियम है

१. लेविस ह्वाइट के, हमेंतुल कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० १०६
 २. वही, पृ० ११०, तथा बार०४०पी रीज़र्स, ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ एथिक्स, पृ० २०१

"...The moral law demands that happiness ~~ENKE~~ should be distributed in exact proportion to virtue, and this proportionate distribution is the summum Bonum. We ought to cultivate virtue, and happiness ought to be given to us in proportion to our virtue; practical reason assures us of both: of these truths, and to avoid contradiction, we must assume that what ought to be realised, can be realised."

३. लेविस ह्वाइट के, हमेंतुल कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१२-१३

अतः जब हम कहते हैं कि एक लक्ष्य द्वारा निर्धारित ह्यह्वाञ्जलि ही शून्य है तब वस्तुतः यह ह्यह्वाञ्जलि विबुद्ध रूप से नैतिक नियम द्वारा निर्धारित नहीं होती है । अतः कान्ट के अनुसार नैतिकता के लिए अनिवार्य है कि हमारा संकल्प ही प्रेरणा ही अर्थात् नियम के विबुद्ध स्वरूप द्वारा निर्धारित निश्चय ही केवल हमारी प्रेरणा हीनी चाहिए । यह प्रेरणा ही हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा की मार्ग है, यही परम शून्य है जिसकी सृष्टि के प्रयत्न में प्रज्ञा विपत्तिभेषों का सामना करती है । अतः संक्षेप में इस पूर्ण निःश्रेयस का विचार कर लेने के पश्चात् ही तर्कबुद्धि के विपत्तिभेषों पर प्रकाश डालना उपयुक्त होगा ।

कान्ट के अनुसार निःश्रेयस या अन्तिम शून्य अथवा सदगुण परम एवं 'पूर्ण' है । हम कहते हैं कि इस दृष्टि से निःश्रेयस में जो तत्त्व समाहित है, जिसकी विभिन्नता को अलग-अलग सुचारु रूप से समझना आवश्यक है । 'परम शून्य' वह है जो निरपेक्ष एवं स्वार्थ है तथा अप्रतिबद्ध है इसीलिए यह किसी अन्य वस्तु के अधीनस्थ नहीं है । 'पूर्ण' शून्य वह समष्टि है जो अपने ही समान किसी अन्य वस्तु समष्टि का अंश नहीं है अर्थात् यह अद्वितीय रूप से पूर्ण है । अतः सदगुण की पूर्ण दृष्टि या शर्त अथवा सानन्वय होने की क्षमता ही उन सब वस्तुओं की अन्तिम पूर्वदृष्टि है, जिनमें हम कान्य एवं धार्मिक समझ सकते हैं और इसीलिए यह पूर्ण सानन्वयता की भी परम पूर्वदृष्टि है । सदगुण ही स्वार्थ शून्य है, परन्तु यह एक ऐसा समग्र या पूर्ण शून्य है जिसे सीमित सत्तारं केवल प्राप्त करने का ही प्रयास नहीं करती बल्कि यह एक ऐसा पूर्ण शून्य है,

१, जॉन वाटसन, दि फिलॉसफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७५

२, डेविड ह्यूबर्ट बेक, इमेनुअल कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१४

३, वही, पृ० २१३-१४

जिसके लिए हमारी समक्षीं तर्कबुद्धि प्रज्ञा निष्पत्ति रूप से यह घोषणा करती है कि यह हमारी कामना का एक तर्कसंगत लक्ष्य है ।

जब हम एक व्यक्तिगत शक्ति से युक्त एक विवेकशील सत्ता की मान्यता प्रदान करते हैं तब हमें अनिवार्यतः यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि वह सत्ता इस बात की कामना करती है कि उसकी सम्पूर्ण सृष्टि सद्गुणी तथा शुद्ध हो न हो वरन् सानन्वता से परिपूर्ण हो और यह सानन्वता सर्वत्र सदाचार या सद्गुण का ही परिणाम हो । मि:श्रेयस में सदाचार तथा सानन्वता दोनों ही समाहित हैं । एक संभव विश्व का सर्वाच्च श्रेय एक ही व्यक्ति में सद्गुण और सानन्वता के सामंजस्य अथवा एकता में निहित होता है । नन्व शब्दों में हम यह कह कर स्पष्ट कर सकते हैं कि यह सर्वाच्च श्रेय ठीक उसी अनुपात में सानन्वता में निहित होता है जिस अनुपात में नैतिकता में निहित होता है । इस प्रकार मि:श्रेयस से हमारा तात्पर्य है--समग्र या पूर्ण श्रेयस । जो कुछ भी हमें पाना है तथा जिसका हमें निरीक्षण करना है वह चाहे सद्गुण हो अथवा सर्वाच्च गुण वही पूर्ण गुण की अनिवार्य अवस्था है, क्योंकि कान्ट के मतानुसार कोई भी व्यक्ति सानन्वता की कामना करने तथा उसे प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता, यदि वह सदाचारी या सद्गुणी नहीं है । सानन्वता सद्गुण का ही प्रतिफल है इसलिए यह अपने आप में गुण नहीं है । यह तभी श्रेयस है जबकि यह नैतिक नियम के अनुकूल हो अर्थात् यह सानन्वता इस पूर्ववृत्ति के अन्तर्गत ही कल्याणप्रद एवं गुण है कि व्यवहार या आचरण नैतिक नियम के अनुकूल हो ।

१. लेविस ह्वाइट बैक, हमनुअल कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीजन, पृ० २१५, तथा जॉन वाटसन, दि फ़िलासफी ऑफ़ कान्ट स्कूपलेन्ड, पृ० ३०६

२. " . . . Kant does not deny that happiness is desirable for man. While he holds that the immediate object of reason is the production of a good will, which is the supreme good (supremum bonum) He acknowledges that a man of good will deserves happiness. The supreme good--ie, virtue--when conjoined with happiness in proportion to it, constitutes the greatest good (Summum bonum) "

--एपेन एलवर्ट, थियोडोर सी. डेविस, जैल्म पी. पीटरफ्राइड, ग्रेट ट्रैडिशनस इन एथिक्स, पृ० २०८

३. लेविस ह्वाइट बैक, हमनुअल कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीजन, पृ० २१५

यही 'परम' एवं 'पूर्ण' मि:श्रेयस' हो हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा का विवक्षित लक्ष्य है जिसकी खोज में यह प्रयत्नशील रहती है और एक अपरिहार्य विरोध का सामना करती है ।

व्यावहारिक तर्क बुद्धि का विप्रतिषेध

=====

उपरोक्त विवेचन से व्यक्त होता है कि मि:श्रेयस अथवा सर्वाधिक श्रेय को सद्गुण और सानन्वता के संयुक्तता की अपेक्षा रहती है । स्टॉइक तथा एपिक्यूरियन--दोनों सम्प्रदायों का भी यही विश्वास है कि सद्गुण तथा सानन्वता को एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है । परन्तु कान्ट कहते हैं कि 'सद्गुण' की धारणा अनिवार्य रूप से 'सानन्वता' की धारणा को उपलक्षित नहीं करती है और न तो 'सानन्वता' की धारणा ही अनिवार्यतः सद्गुण की धारणा को उपलक्षित करती है^१ । कबने का तात्पर्य यह है कि हम एक विशुद्ध विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के द्वारा एक से दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकते । हमने यथेष्ट रूप से यह भी देख लिया है कि यदि हमारे समस्त कर्म का एक सिद्धान्त निर्मित है तो प्रसन्नता या सानन्वता की कामना सद्गुण की व्यापातो हो जाती है । वे दोनों एक संश्लेषणात्मक शक्ति बनाते हैं अर्थात् वे दोनों एक दूसरे की धारणा में समाहित नहीं हैं । एक संश्लेषणात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही सद्गुण और सानन्वता को संयुक्त किया जा सकता है , क्योंकि वास्तव में एक संश्लेषणात्मक सिद्धान्त कारण और कार्य की धारणा से ही एक की दूसरे से अर्थात् सद्गुण को सानन्वता से सम्बन्धित करता है । सम्पूर्ण प्रश्न कार्य के श्रेय के सम्बन्ध में है । यह श्रेय संकल्प-शक्ति के द्वारा ही संभव होता है ।

=====

१, जॉन वाट्सन, पि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३७८

२, लेमिस ह्वारट कैक, हमें तुल्य कान्ट, क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१७

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सद्गुण' और 'सानन्वता' दो पृथक् तत्त्व हैं तथा दोनों को ही निःश्रेयस अपने में समाहित करता है, इसलिए हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा विपुतिवश ही फँस जाती है। निःश्रेयस का प्रत्यक्ष एक अनिवार्य प्रत्यय है और वही यह 'सद्गुण' और 'सानन्वता' दोनों को संयुक्त करता है इसलिए हमारे सम्पादक ये दो विकल्प वा पाते हैं--(क) या तो सानन्वता की हज्जा ही सद्गुण के लिए प्रेरणा प्रदान करती है अर्थात् सानन्वता की हज्जा ही सदाचार का उत्पन्न करती है (ख) या 'सद्गुण' ही सानन्वता का निमित्त कारण है अर्थात् सदाचार ही सानन्वता का उत्पन्न करता है। प्रथम विकल्प का समर्थन स्टाइक विचारक करते हैं तथा उनका भी यही कहना है कि किसी व्यक्ति की नैतिक चेतना का कारण सानन्वता ही है। परन्तु यह सर्वथा निरपेक्ष रूप से असंभव है क्योंकि यदि कोई व्यक्ति सुल को अपने कर्म की प्रेरणा बनाता है तो वह अपने कर्म की नैतिकता को नष्ट कर देता है। कान्ट ने विश्लेषिकी में यह स्पष्ट कर दिया है कि हज्जा-शक्ति जो सानन्वता या सुल पर कर्मा का वाशिल करती है, वह हज्जा-शक्ति नैतिक नियम द्वारा निर्धारित नहीं होती है। अतः सुलप्रेरित सभी कर्म अनैतिक कर्म हैं। द्वितीय विकल्प का समर्थन एपिक्यूरियन सम्प्रदाय के विचारक करते हैं। उनका कथन है कि सद्गुण के द्वारा सानन्वता सम्भव है। परन्तु यह विकल्प भी दूसरे प्रकार से असंभव है, क्योंकि हम जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति नैतिक नियम का संकल्प कर सकता है परन्तु इससे यह अनुमित^{हो} होता है कि उसके कर्म का परिणाम सानन्वता की रक्षा कर सकेगा यानी नैतिक नियम सानन्वता को ही उत्पन्न करेगा। ज्ञात है हज्जा-शक्ति के परिणाम के रूप में कारण

१. डब्लू० कैसिरर, ए कर्नैदी ऑन कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ रैजनेस, पृ० ८४

२. हैबिस ह्वाइट बैक, इमेनुअल कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१८

३. एव० डब्लू० कैसिरर, ए कर्नैदी ऑन कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ रैजनेस, पृ० ८४

वैर कार्य का व्यावहारिक सम्बन्ध इच्छा-शक्ति की नैतिक प्रवृत्तियों पर निर्भर नहीं होता, प्रकृति के नियमों के ज्ञान पर निर्भर होता है। नैतिक नियम से अनुरूपता सानन्दता के अभाव में भी हो सकती है, क्योंकि सानन्दता अनुभव ज्ञान में वस्तुओं के सफ़ा सम्बन्ध पर निर्भर रहती है और इसीलिए यह प्रकृति के नियमों के एक पूर्ण ज्ञान की पूर्व-अपेक्षा रहती है तथा विशिष्ट लक्ष्यों के उन्मयन में इन प्राकृतिक नियमों का प्रयोग करने के लिए एक मौक्तिक शक्ति की भी अपेक्षा रहती है। अतः हमें कहना पड़ता है कि नैतिक नियमों की अतिजीवित्व-व्यवस्था द्वारा सशुण के साथ सानन्दता के किसी भी अनिवार्य सम्बन्ध की प्रत्याशा नहीं की जा सकती है। मानव न तो स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ है और न तो सर्वशक्तिमान, इसलिए नैतिक नियमों के प्रति उसकी अत्यधिक कर्तव्यनिष्ठता एवं आशक्ति से इस बात की संभावना नहीं की जा सकती कि वह सानन्दता में ही फलीभूत होगी और न तो उस कर्तव्यपरायणता से यह वाक्यांश की जा सकती है कि सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति में वह हमारा नेतृत्व करेगी। उपरोक्त दोनों विकल्पों के विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि निःश्रेयस के दो तत्त्वों 'सशुण' और 'सानन्दता' में कोई भी अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिए निःश्रेयस की अनुपस्थिति नहीं की जा सकती है और परिणामस्वरूप यह प्रतीत होता है कि नैतिक नियम हमें व्यर्थ के काल्पनिक साधनों की ओर जाने का जादू दे कर स्वयं ही असत्य हो जाता है।

स्पष्ट रूप से हम देखते हैं कि निःश्रेयस का प्रकृत्य ही व्यावहारिक प्रज्ञा की एक विप्रतिपक्ष से प्रेरित कर देता है, कान्ट ने क्याशक्ति इसका समाधान भी प्रस्तुत किया है।

१. एक्ट्स ट्रांसलेशन, दि क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २०६-२१०।

यह लिखते हैं -- "... The moral law which commands us to promote it is directed to vain imaginary ends and must be false."

व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के विप्रतिषेध का समाधान

व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के विप्रतिषेध को निम्नलिखित तर्क वाक्यों में प्रस्तुत किया जा सकता है--प्रथम--सद्गुण सान्त्वना के लिए तौष का परिणाम है तथा द्वितीय सान्त्वना सद्गुण का परिणाम है ।

प्रथम तर्क वाक्य की समीक्षा करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह पूर्णतया असत्य है, क्योंकि किसी कर्म के साध्य के रूप में निर्मित हो जाने पर सान्त्वना सद्गुण के साथ अलग हो जाती है । इसका तात्पर्य यह है कि जब सुख ही हमारे कर्म का साध्य बन जाता है तब हम सद्गुण को रथान मलों के भातें और परिणामस्वरूप सान्त्वना तथा सद्गुण दोनों ही परस्पर-विराधी हो जाते हैं ।

द्वितीय तर्कवाक्य के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह पूर्ण रूपेण असत्य नहीं है । प्रथम तर्कवाक्य के विपरीत हमसे यह व्यक्त होता है कि जो नैतिक कर्ता है उसमें इस बात की सामता तथा योग्यता निहित है कि वह प्रसुचित हो, प्रसन्न हो, इसलिए उसे अवश्य ही प्रसुचित होना चाहिए । अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमारे तर्क बुद्धि की यह एक अकाट्य व अप्रविचल भांग एवं मान्यता है कि एक सद्गुणी को अपने कर्म के परिणामस्वरूप सान्त्वना अवश्य प्राप्त हो, क्योंकि उस नैतिक कर्ता में प्रसुचित होने की सामता रहती है ।

विप्रतिषेधों की समुचित परीक्षा से ज्ञात होता है कि यह व्याघात हमारी इस मान्यता के कारण है कि--सामान्य इन्द्रियसंवेद अनुभव का ज्ञात ही मूल तथा अन्तिम वस्तु है । यहाँ यह खना अत्यधिक तथ्यपूर्ण होगा कि यह मान्यता इस व्याघात का आधार है । कोई भी सीमित सत्ता अपने इन्द्रियसंवेद अवितत्व की शर्तों के अन्तर्गत परम सान्त्वना को नहीं प्राप्त कर सकती, उसके

१. ठैविस, ह्वाइट कै, कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१८

२. वही, पृ० २१८-१९

३. वही, पृ० २१८-१९

किए सेवा निवान्त ही अवश्य है, इसलिए हम वृद्धतापूर्वक यह स्वीकार नहीं कर सकते कि इन रिश्तियों में सद्गुण सानन्धता में परिणत होता है। जहाँ यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि सद्गुण का परिणाम सानन्धता है। एक कदाचारपूर्ण वाचरण या बुद्धि का कारणता के अनुसार निर्धारित वाचरण के किम्वदन्ति रूपों के प्राकृतिक कृता को निर्धारित करना संभव है, क्योंकि उसी प्राकृतिक कृता पूर्णतया प्राकृतिक नियम पर निर्भर करती है। परन्तु तर्कबुद्धि की समारोह, समीक्षा के सम्पूर्ण रूप में यह बात ही निश्चित किया है कि हमारा गुण जगत या धर्मिय जगत तथा प्राकृतिक जगत ही मूल तथा अन्तिम तत्त्व नहीं है, इसके विपरिक्त भी एक तत्त्व है जिसे बुद्धिगुण वेतन जगत या अनुभवातीत जगत अथवा पारमार्थिक जगत का नाम दिया गया है। बुद्धिहीन या वेतन जगत के संगत एक परमार्थ के रूप में केवल मेरे अस्तित्व की वाचरण संभव नहीं है वरन् वैज्ञानिक नियम विज्ञान रूप से ऐसी स्वरूप का बौद्धिक सिद्धान्त है जो धर्मिय जगत में व्यवहार के कारणता का निर्धारण करने में समर्थ है। अतः 'सद्गुण और सानन्धता' को संयुक्त होना चाहिए, इस विचार में कुछ भी संभव नहीं प्रतीत होता। वृत्ति इस कथन में निहित है कि वे प्रतीका रूप से संयुक्त हैं, अतः हम इस कथन को ही स्वीकार करते हैं। परन्तु कृता तात्पर्य यह नहीं है कि हमारी स्वीकृति का वास्तव हमें यह स्वीकार करने से रोक दे कि वे प्रतीका रूप से संयुक्त ही रहती हैं। वस्तुतः सद्गुण एवं सानन्धता दोनों प्रकृति के एक बुद्धिमान कृता द्वारा प्रतीका रूप से संयुक्त हो सकते हैं, परन्तु हमारे द्वारा नहीं क्योंकि हमारे पास प्रकृति के संविधान को निर्धारित करने की शक्ति नहीं है, प्रकृति के जगत में हमारे वैज्ञानिक नियमों का प्रभाव नहीं पड़ता है। हमारी ऐतान्त्रिक तर्कबुद्धि प्रताप कि कृता वृद्धतापूर्वक यह बात पर सहमत है कि प्राकृतिक जगत में प्रत्येक परिवर्तन प्राकृतिक कारणता के नियमों पर निर्भर रहते हैं उसी क्षण यह हमें तथ्यांश से भी परिवर्तित रखती है कि प्राकृतिक जगत केवल वाचरण या वाच्यता है और कारणता का एक अन्य प्रकार अर्थात् स्वातंत्र्य से प्राप्त कारणता के सिद्धान्त का अस्तित्व भी संभव है। अतः यह सोचना कि उनके बीच एक सम्बन्ध है, एक अनौपचारिक मान्यता कदापि नहीं हो सकती। हमारे हृत्तर या मिल्न एक बुद्धि द्वारा इस प्रकार का सम्बन्ध बनाना ही वह वास्तव है जिसके द्वारा हम यह विचार कर सकते हैं तथा समझ सकते हैं कि सद्गुण और सानन्धता की संयुक्तता प्रभावशाली

एवं कार्यकर होती है और इसीलिए यह सम्बन्ध अनिवार्य न होकर वापत्तिक है ।

कान्ट महाव्य का कहना है कि व्यावहारिक तर्कबुद्धि का विप्रतिषेध इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि एक ओर तो व्यावहारिक तर्कबुद्धि उचित रूप से सद्गुण और सानन्दता के एकता की मांग करती है, जबकि दूसरी ओर नैतिकता तभी संभव है जब सानन्दता नहीं, केवल विशुद्ध नैतिक नियम ही कर्म का साध्य बनाया जाय^१ । इस समाधान में कान्ट यह कहते हैं कि गाँवर एवं जाँवर अर्थात् व्यवहार एवं परमार्थ के बीच भेद स्थापित करके ही इस स्पष्ट स्व-व्याघात से बचने का सुदृढ़ उपाय निर्मित होता है । जब प्रकृति के एक क्लृप्ति सृष्टा के माध्यम से संयोजन या एकता की संभावना और अनिवार्यता की अनुपति होती है तब हमारे नैतिक संकल्प-शक्ति का साध्य सद्गुण और सानन्दता की एकता के लिए तर्कबुद्धि की मांग के साथ अनुरूपित परिणामित होता है । इस प्रकार जब इस असत्य मान्यता का विसर्जन कर दिया जाता है कि गाँवर के क्षेत्र में ही संपूर्ण सदा समाहित है तो इस प्रकार के विप्रतिषेध का लोप हो जाता है ।

उपरोक्त विवेचन इस बात पर प्रकाश डालता है कि कान्ट की सैद्धांतिक और व्यावहारिक तर्कबुद्धि प्रज्ञा के विप्रतिषेधों के समाधान की पद्धति समान है । जिस प्रकार शुद्ध बुद्धि सीमांसा में प्राकृतिक अनिवार्यता और स्वातंत्र्य के विप्रतिषेध से छुटकारा पाने का उपाय केवल यह प्रतिपादित करना था कि प्राकृतिक कारणता का सिद्धान्त केवल गाँवर का ही एक नियम है और इसीलिए प्राकृतिक उच्छेद नियम के क्लृप्तीयता की परम पहचान एक स्वतंत्र कारण के अस्तित्व के साथ असंगत नहीं है, उसी प्रकार व्यावहारिक तर्कबुद्धि के विप्रतिषेध का समाधान यह कर किया गया है कि व्यवहार तथा परमार्थ में भेद है और

१. जॉन वाटसन, 'दि फिलॉसफी ऑफ कान्ट' एक्सप्लैन्ड, पृ० ३७८

२. वही, पृ० ३७८-७९

हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा अनिवार्यतया उनके एकता के प्रत्यय को ग्रहण करती है। जो परम नियम की अनुरूपता के साथ अपने कर्मों का निर्धारण करती है, ऐसी एक सत्ता के लिए यह विश्वास करना असंभव ही जाता है कि जिन दो ज्ञात से उसका सम्बन्ध है उन दोनों ज्ञात का परस्पर कोई सरोकार नहीं है। अतः हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि प्रज्ञा अनिवार्य रूप से एक ऐसे निःश्रेयस के प्रत्यय को स्वीकार करती है जो रवार्तक्षय के ज्ञात तथा प्रकृति के ज्ञात दोनों को ही संयुक्त करती है और फलस्वरूप उस तर्कबुद्धि प्रज्ञा के विप्रतिषेध का समाधान हो जाता है^१।

व्यावहारिक तर्क-बुद्धि सम्बन्धी विप्रतिषेध के समाधान से अगत होकर हम यह स्पष्ट हो जाता है कि कान्ट के विचारानुसार नैतिक नियम के अनुकूल अनुगम्यता अवधारणा करना ही 'सर्वोच्च निःश्रेयस' है। हमारी विद्वद् व्यावहारिक प्रज्ञा इस निःश्रेयस को एक ठहरे ऐसे प्रत्यय के रूप में ग्रहण करती है जो अपने में 'सङ्गुण' तथा 'सान्न्वता' दोनों की संयुक्तता को समाहित करता है। यही हमारी नैतिकता है। कान्ट कहते हैं कि यह नैतिकता तभी संभव हो सकती है जब हम व्यावहारिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के प्रमुख अन्वयार्थों या मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ये अन्वयार्थ नैतिकता की अनिवार्य पूर्वमान्यताएं हैं। ये मान्यताएं दैवान्तरिक मत नहीं हैं और न ही ये हमारे चिन्तनात्मक ज्ञान का किसी प्रकार से विस्तार हीं करती हैं। ये एक नैतिक कर्ता के रूप में मनुष्यस्वभाव द्वारा अपेक्षित पूर्वमान्यताएं हैं, इसलिए ये हमारी चिन्तनशील तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के प्रत्ययों को चरतुगत सत्ता प्रदान करती हैं। कथन का तात्पर्य यह है कि इन्हीं मान्यताओं के कारण हमारे अन्दर इस तथ्य को स्वीकार करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि चिन्तन-

१. लेविस ह्वाइट बैक, हमेंतुल कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१८-२६
२. वही, पृ० २२३ तथा लेविस ह्वाइट बैक, क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२३
३. वही, पृ० २३४

शील तर्क-बुद्धि के प्रत्ययों की वस्तुगत सत्ता है। इतना ही नहीं इन्हीं के द्वारा हम धारणाओं या प्रत्ययों के प्रयोग में औचित्यपूर्ण सिद्ध होते हैं। ये जन्मुपगम या मान्यताएं 'आत्मा की अमरता', 'संकल्प-स्वातंत्र्य' तथा 'ईश्वर का अस्तित्व' हैं, जिनका यहाँ विवेचन करना अनिवार्य है।

आत्मा की अमरता *****

कान्ट के अनुसार आत्मा की अमरता हमारे व्यावहारिक पुत्रों की जति अनिवार्य अनिवार्यता है। हम यह बेल चुके हैं कि हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि स्वभाविक रूप से सङ्गुण और सामान्यता के संयुक्तता अर्थात् निःश्रेयस की मांग करती है। नैतिक नियम द्वारा निर्धारित हमारी इच्छा-शक्ति का अनिवार्य वस्तु-विषय निःश्रेयस की वस्तुपुति ही है। तर्क-बुद्धि सङ्गुण और सामान्यता के संयुक्तता की मांग केवल इस शर्त से युक्त होकर ही करती है कि परम या अन्तिम श्रेय विवक्षित होना चाहिए क्योंकि इसके विषयविषय विवक्षित न होने पर पूर्ण श्रेयस भी असम्भव हो जाता है। यहाँ अन्तिम श्रेय की इच्छा करने का तात्पर्य है--एक विवेकशील परन्तु हान्यनिष्ठ सत्ता के द्वारा अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में नैतिक नियम की इच्छा करना क्योंकि नैतिक कर्मा की नैतिक नियम के साथ पूर्ण अनुकूलता ही निःश्रेयस की परम शर्त है। हमारा विवक्षित श्रेय नैतिक नियम के साथ इच्छा-शक्ति के उस पूर्ण सामंजस्य में निहित होता है जिसे पवित्रता का नाम दिया गया है, कोई भी सीमित बौद्धिक सत्ता इस पवित्रता को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकती है। अतः हान्य जात से सम्बन्धित सत्ता को परम रूप से पूर्ण तथा एक पवित्र संकल्प-शक्ति से युक्त होना

१. ठीस ह्वाइट बेक, फ़िटीक वाफ़ प्रैक्टिकल रीफ़न, पृ० २३५

२. वही, पृ० २२६

३. "...Complete fitness of the will to the moral law is happiness, which is a perfection of which no rational being in the world of sense is at any time capable."

--जॉन लॉक, क्लासिकल एण्ड कान्टेम्परेरी रिथिंग्स इन दि फ़िलासफ़ी वाफ़ रील्लन, पृ० १६७।

चाहिए । उस सत्ता में पवित्रता केवल एक अनन्त या असीम प्राप्ति के द्वारा ही सम्भव होती है, जिसकी इच्छाएं तर्क-बुद्धि के साथ विरोध में होती हैं । विद्वद् व्यावहारिक तर्क-बुद्धि वृद्धतापूर्वक इस बात को स्वीकार करती है कि पवित्रता प्राप्त की जानी चाहिए, इसलिए यह हमसे पूर्णता की ओर एक अनन्त प्राप्ति-प्रयास को स्वीकार कर लेने की अपेक्षा रखती है । कान्ट कहते हैं कि संकल्प-शक्ति के पवित्रता की व्यावहारिक रूप से अनिवार्य एवं अपरिहार्य आकांक्षा की जाती है, परन्तु नैतिक नियम से पूर्ण तत्पुरुषता की ओर एक अनवरत प्राप्ति के अन्तर्गत ही इसे प्राप्त किया जा सकता है और व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के सिद्धान्तों पर इस प्रकार की एक व्यावहारिक प्राप्ति को इच्छा-शक्ति के एक यथार्थ वस्तु-विषय के रूप में स्वीकार करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है ।

उपरोक्त प्रकार के सीमासीत या कालसीत निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए एक सीमासीत अस्तित्व की अनिवार्यता रहती है जो उस श्रेयस की अनुभूति करता है । एक असीम या अनन्त प्राप्ति केवल तभी संभव हो सकती है जबकि हम एक विवेकशील सत्ता के अनन्त या शाश्वत अस्तित्व को पूर्वस्वीकृति देते हैं । इस बौद्धिक सत्ता को अपनी आत्म-वैतनता तथा अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखता होगा क्योंकि किसी अन्य प्रकार से यह नैतिक नियम की इच्छा करने योग्य एक स्वतंत्र कारण नहीं हो सकता । हम देखते हैं कि अनवरत प्राप्ति व्यावहारिक तर्क-बुद्धि का एक अपरिहार्य पुस्त्य है इसलिए आत्म-अमरत्व को भी अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि 'सर्वोच्च श्रेय' व्यावहारिक रूप से केवल व्यक्तित्वगत अमरता की पूर्वमान्यता द्वारा ही सम्भव है । इस प्रकार अमरत्व एक नैतिक सत्ता की धारणा का अनिवार्य प्रतीकाल है । इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रामाणिकता या निरूपण प्राकृतिक कारणता के सिद्धान्त के प्रयोग पर निर्भर होता है । परन्तु यह विद्वद् व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की एक ऐसी अभिधारणा है, अभिधीत सत्ता है जिसकी मांग एक निरपेक्ष प्रागनुभवी व्यावहारिक नियम अनिवार्य रूप से करता है । इसलिए कान्ट के अनुसार 'आत्मा की अमरता'

१. जान शिक, क्लासिकल एण्ड कान्टेम्परेरी रीडिंग्स इन दि फ़िलासफी ऑफ़

एक सैद्धान्तिक तर्ककथन है जो सैद्धान्तिक रूप में प्रामाण्य नहीं है, परन्तु यह एक निरपेक्ष प्रागनुभवी व्यावहारिक नियम का अधिधीन्य परिणाम है।

यद्यपि हम वैकते हैं कि कान्ट ने बुद्ध-बुद्धि की मांसा में यह किलाया है कि 'अमरता' की धारणा ने चिन्तनशील सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि को एक तकमिास में फंसा दिया था अर्थात् एक ऐसे तर्क-मांश से युक्त कर दिया था जो पदा में से क्तिा एक की संविग्वार्थता से परिणामस्वरूप प्राप्त होता है और इसी संविग्वार्थता में ही यथार्थ विषयी के साथ अनवरता के अपरिहार्य संम द्वारा तर्क-बुद्धि के विश्वास पर आघात डुर पहुँचा था। हमारी सैद्धान्तिक प्रज्ञा एक अप्रतिश्रु विषय की मांग करते हुए एक यथार्थ प्रत्य के स्वीकृत ज्ञान के साथ चिन्तनशील विषयी की कतना को प्रमित करने के लिए बाध्य हो गयी थी, फलस्वरूप इसी भ्रान्ति पर ही वह वात्सा की नित्यता और अमरता को आधारित करके अनश्रुता की झोड़ देती है। परन्तु इसी समस्या के समाधान को कान्ट ने तर्क-बुद्धि प्रज्ञा द्वारा उसके व्यावहारिक प्रयोग में स्थापित किया है, जिसके द्वारा उचित रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि वात्सा अमर है, क्योंकि एक नैतिक कर्ता के रूप में उसे नैतिक नियम की पूर्ण अनुमति के लिए एक पर्याप्त अनवरत अधि से युक्त होना पड़ेगा।

कान्ट ने इस अमरता के प्रत्यय के लिए एक ऐसी युक्ति दी है जो वात्सा की अमरता को अस्वीकार करने वाले संवेष्टाधी तथा इसे सैद्धान्तिक रूप से प्रामाण्य एवं सिद्ध मानने वाले भ्रान्तुही विचारकों की युक्तियाँ से पूर्णतया भिन्न है। हम जानते हैं कि पूर्ण निःश्रेयस अप्राप्य है और हम केवल इसके पास तक पहुँचने का ही प्रयास कर सकी हैं, पूर्णतया इसकी अनुमति नहीं कर सकी, इसलिए हम वात्सा की अमरता को अवश्य ही मान्यता देनी पड़ती है। परन्तु

१. लेबिस ह्याइट के, इमेनुएल कान्ट क्रिटिक् ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२६

२. वही, पृ० २३५

३. एबेडलू केसरर, ए कम्प्ली वान क्रिटिक् ऑफ़ कान्ट, पृ० ८६

यह रबीकृति एक सैदान्तिक मत नहीं है, यह वपरता एक ऐसा अतीन्द्रिय विषय है नहीं है जिसे हम जान सकते हैं, यह एक ऐसा प्रत्यय है जिसकी अनुरूपता के साथ हम कार्य कर सकते हैं। इसके सैदान्तिक अभाव में भी हम उसे प्राप्त कर सकते हैं। यह असीम सत्ता काल-निरपेक्ष है, यह नैतिक प्रयत्न के श्रेय की अनुरूप रूप में देखती है, इसीलिए यह साक्षात्कार या अनुभूति की प्रक्रिया की अपनी पूर्णता के समान अपमान में समर्थ है। यह सत्ता सर्वात्म्य श्रेयस में प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग के शर्त के रूप में अनिवार्य रूप से पवित्रता की मांग करती है और क्योंकि उसकी वेतना एक बौद्धिक प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप की होती है इसलिए वह इस पवित्रता की अनुरूप रूप में देखती है। यहाँ शर्त केवल यह है कि सीमित सत्ता एक अविच्छिन्न एवं गहन प्राप्ति बनावे। अतः स्पष्ट है कि हम सद्गुण एवं सानन्वयता के संयुक्तता की अनुरूपता के लिए आदेशित एवं बाध्य हो जाते हैं, परन्तु हम ऐसा कभी कर नहीं सकते, हम केवल वह पूर्णता के समीप अतिसमीप पहुँचने का प्रयत्न ही कर सकते हैं। यह पूर्णता का प्रत्यय एक ऐसा प्रत्यय है जो अतीन्द्रिय विषय का उल्लेख करता है और इसका कार्य सीमित सत्ता को इस योग्य बनाना है कि वह इसके अनुरूप इन्द्रिय ज्ञात में अपने आपको निवारित कर सके। इस प्रकार के पूर्ण ज्ञानत्व या पवित्रता को हम अन्तः प्राप्ति प्रवाह के अन्तर्गत ही प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि इसकी उपेक्षा से या तो नैतिक नियम हमारी सुविधा के अनुरूप तथा आसक्त होकर अपनी पवित्रता से रिक्त हो जायेंगे तथा उससे नीचे गिर जायेंगे या तो मनुष्य अपनी आशा और कर्तव्य की धारणाओं को एक अप्राप्य लक्ष्य के रूप में देख कर अपने आपको ऐसी काल्पनिक विलक्षण वाध्यात्म विधा-सम्बन्धी स्वप्नों में विलीन कर देंगे जो उनके वात्सल्य-ज्ञान का ही पूर्ण रूप से विरोध करते हैं और परिणाम-स्वरूप हमारी सर्व-बुद्धि के एक आवश्यकपूर्ण नहीं बल्कि एक यथार्थ, दृढ़ एवं अपरिवर्तनीय आदेश का नियमित एवं पूर्ण रूप से पालन करने का अनवरत प्रयत्न रह जावेगा।

१. हरिमात्रम मदवायी, वि प्रिंसिपल्स ऑफ फ़िलासफ़ी, पृ० ४१८

२. लेविस ह्वाइट के, हमेंतुल कान्ट क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२६, तथा
रबर्ट्स ट्रान्सलेशन, वि क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२६

अतः नैतिक नियम से पूर्ण अनुसृतता का वादा इस जीवन में एक वास्तविक तथ्य के रूप में किसी के द्वारा भी नहीं किया जा सकता, एक विवेकशील परन्तु सीमित सच्चा के लिए जो कुछ भी संभव है वह केवल एक ऐसा अनन्त प्राप्ति-प्रवास है जो नैतिक पूर्णता के बिन्ध्य से उच्च स्तर तक प्रवाहित होता रहता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि यदि एक सीमित सच्चा ने अपने विगत काल में नैतिकता की बिन्ध्य श्रेणी से उच्च श्रेणी तक एक प्राप्ति की है तब वह इस जीवन में तथा इससे परे पवित्र्य में भी एक न टूटने वाली असंख्य निरन्तर प्राप्ति करने की वाशा कर सकती है, उसके लिए यह वाशा एवं विश्वास रखना उचित है कि अपने अस्तित्व की असीमित अवधि में वह नैतिक नियम के साथ पूर्ण सामंजस्य को प्राप्त कर सकती है। अतः कान्ट के अनुसार^१ हमें करना चाहिए^२ में ही यह बात समाहित है कि हम कर सकते हैं^३ और हमें करना चाहिए का कोई अन्त नहीं है, इसलिए हमारे कर सकने की संभावना का भी कोई अन्त नहीं है। अनन्त संभावना के लिए अनन्त काल की तथा अनन्त काल के लिए हमारे अमर अस्तित्व की आवश्यकता है। नैतिक नियम या पूर्ण निःश्रेयस सीमित समय के छिन्न में सिद्ध नहीं हो सकते, अतः इसकी सिद्धि के लिए मानव का अनन्तकालीन या काल-निर्पेक्ष अस्तित्व नैतिक जीवन का अत्यन्त अनिवार्य अन्वयण^४ है।

संकल्प-शक्ति की स्वतंत्रता

हमने मजोर्मांति इस तथ्य का निरीक्षण कर लिया है कि मानव, आत्मा की अपरता से युक्त होकर एक नैतिक कर्त्ता के रूप में अपने ही नैतिक नियम या पूर्ण निःश्रेयस को प्राप्त करने की स्वयं सिद्धि में रत रहता है यही उसका नैतिक कर्म है। प्रत्येक नैतिक कर्म नैतिक नियम की पूर्वाधारणा पर ही आधारित है अतः नैतिक नियम का अस्तित्व है। कान्ट के अनुसार इस तथ्य

१. लेपिड स्टाइट बैक, क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२६
२. डिक्टने और बाथर्व द्वारा सम्पादित, दि एरिटरेन ऑफ़ कान्ट, पृ० २०१
३. एन० कॉर्नर, कान्ट, पृ० १६५, तथा एब्रहम ट्रॉसैलम, दि क्रिटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २१८

को अस्वीकार करना असंभव है। हमारी विद्वत्-तर्क-बुद्धि प्रज्ञा स्वयं ही हमारी व्यावहारिक बुद्धि है और यह हमें एक सार्वभौमिक नियम प्रदान करती है। यही नियम हमारा नैतिक नियम है जिसके बारे में हम प्रागजन्मवी रूप से सज्ज रहते हैं और इस मूलगत नियम की जेतना ही तर्क-बुद्धि का एक निश्चित तथ्य है। इस नियम की अपनी जेतना जल्दबाजी सज्जाता से ही हम अपने स्वातंत्र्य के प्रति भी सज्ज हो जाते हैं। कथन का तात्पर्य यह है कि नैतिक नियम ही प्रथम प्रदत्त वस्तु है जिसके अनुसार हम कार्य करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। हमें इस नियम के अनुसार ही कार्य करना चाहिए यह कथन हमें इस तथ्य का बोध कराता है कि हम इसके अनुसार कार्य कर सकते हैं अर्थात् हम स्वतंत्र हैं।

तर्क-बुद्धि प्रज्ञा का क्रियात्मक कार्य ही हमारी इच्छा-शक्ति है। अन्य प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि इच्छा-शक्ति या संकल्प-शक्ति केन प्राणिम्या में निहित वह कारण है जो उन्हें बौद्धिकता प्रदान करता है अर्थात् विवेकशील प्राणिम्या में ही इच्छा-शक्ति संभव है। इच्छा-शक्ति से युक्त मानव एक नैतिक इच्छा है क्योंकि वह अपनी इच्छा-शक्ति का नैतिक नियम के अनुरूप निर्धारित करता है, परन्तु ऐसा भी वह तब कर सकता है जबकि वह अपने आप को अपनी इच्छा-शक्ति के प्रति समझता है अर्थात् वह एक संकल्प स्वातंत्र्य से युक्त हो। अब यहाँ स्वातंत्र्य का विवेक करना अत्यावश्यक हो जाता है।

१. डेविड ह्यूबर्ट बैंक, डी.डी.एल. कान्ट, क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, पृष्ठ १४३

२. टॉमस ई. विल, एथिक्स इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, पृष्ठ ६७

३. "The will is a kind of causality belonging to living-beings in so far as they are rational, and freedom would be this property of such causality that it can be efficient independently on foreign ^{causes} determining it."

-- एथेट, कान्ट्स थ्योरी ऑफ एथिक्स, पृष्ठ ६५

हम कह सकते हैं कि स्वातंत्र्य कारणता का वह स्वरूप है जिसमें विषयी या नैतिक विवेकशील कर्ता किसी अन्य कारण से निर्धारित नहीं होता, केवल अपने ही द्वारा निर्धारित होता है। कारणता का एक ऐसा स्वरूप भी है जो अवैश्विक प्राणियों में प्राप्त होता है, इसी परायत्त या प्राकृतिक कारणता का मान लिया गया है। जब स्वतंत्रता को हम एक ऐसे कारण के रूप में व्यक्त करते हैं जो अपनी क्रियाशीलता में किसी अन्य कारण से निर्धारित नहीं होता है, तब हम केवल यही जानते हैं कि स्वतंत्रता क्या नहीं है और इसका एक निष्पत्तात्मक रूप होता है, परन्तु तब भी कारणता की यह परिभाषा उसके स्वीकारात्मक प्रत्यय के लिए एक रास्ता बना देती है। प्रत्येक कारण के मूल में एक नियम अवश्य होता है अर्थात् प्रत्येक कारण को किसी नियम का विषय होना चाहिए तथा एक परिणाम या कार्य के रूप में यह एक कारण द्वारा ही स्थित भी होता है, इसलिए कारणता के स्वरूप में स्वतंत्रता को हम सब नियमों से निरपेक्ष व स्वतंत्र नहीं समझते, इसी केवल प्राकृतिक नियमों से ही निरपेक्ष या स्वतंत्र मानते हैं। एक स्वतंत्र कारण किसी नियम के अन्तर्गत ही होता है, यद्यपि यह ऐसा नियम है जो स्वयं इसी का नियम है और इस प्रकार नियम के समान में कार्य-शील इच्छा-शक्ति कल्पनातीत हो जाती है अर्थात् हम ऐसी इच्छा-शक्ति की कल्पना ही नहीं कर सकते। प्राकृतिक नियम एक ऐसी कारणता को अभिव्यक्त करता है जो परतन्त्र तथा सापेक्ष है क्योंकि यहाँ कारण अपनी क्रियाशीलता में अपने से पूर्व किसी अन्य वस्तु से निर्धारित होता है। इसके विपरीत स्वतंत्रता स्वैच्छाधारिता में ही निहित होती है यानी एक ऐसी इच्छा-शक्ति में निहित होती है जो स्वयं ही अपने लिए एक नियम है। परन्तु यह कहना जो इस कथन के समान है कि इच्छा-शक्ति किसी भी अन्य सूत्र द्वारा निर्धारित नहीं होती है, यह केवल उस वस्तु द्वारा निर्धारित होती है जिसका विषय एक सार्वभौमिक नियम है। यही सार्वभौमिक नियम ही निरपेक्ष आवेश है और नैतिकता के सिद्धान्त का एक सूत्र है। इस प्रकार एक स्वतंत्र संकल्प-शक्ति एक ऐसी इच्छा-शक्ति है जो नैतिक नियम के अन्तर्गत ही है।

१. बुलियन मैठा, कान्ट, पृ० ६७ तथा ६८ तथा

लेक्स एवाष्ट बेक, कान्ट क्रिटिक जॉर्ज प्रैक्टिकल रीजन, पृ० १४०

हम जानते हैं कि मानव प्राकृतिक या हस्तियात्मक प्राणी होने के कारण प्राकृतिक ज्ञात का सदस्य है तथा यहां वह अपनी कामना या मूल प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होकर केवल अपनी सानन्धता की दृष्टि से ही कार्य करता है। वह अपने हस्तियात्मक मूल के लिए कार्यरत होता है। परन्तु क्योंकि वह बौद्धिक ज्ञात का निवासी भी है अतः वह अपने कर्मा का संकल्प-शक्ति की स्वेच्छावाचिता से सामंजस्य स्थापित करता है और इस प्रकार वह विद्वत् रूप से नैतिक नियम के लिए ही अद्यापूर्वक कार्य करता है। कान्ट का कथना है कि बौध्दाम्य ज्ञात ही सम्पूर्ण हस्तिय ज्ञात की परम शक्ति है, इसलिए इस गौवर ज्ञात के नियम भी उसी के नियम हैं। इस प्रकार यद्यपि मानव हस्तियजनित कामनाओं से युक्त है किन्तु तब भी एक विवेक के रूप में वह केवल बौध्दाम्य ज्ञात के नियमों का ही विषय है। ये नियम उनके लिए एक आवेश के रूप में प्राप्त होते हैं कि हमें नैतिकता के सार्वभौमिकनियमों के अनुरूप कार्य करना चाहिए।

निरपेक्ष आवेश केवल स्वातंत्र्य के प्रत्यक्ष द्वारा ही सम्भव होते हैं तथा ये भी यह विवक्षित करते हैं कि मानव बौध्दाम्य ज्ञात का सदस्य है। क्योंकि मनुष्य इस बुद्धियुक्त ज्ञात का निवासी है इसलिए उसके सभी कार्य उसकी स्वेच्छा-वारी इच्छा-शक्ति द्वारा अवश्य ही अनुरूपित होते हैं। परन्तु क्योंकि वह गौवर या प्राकृतिक ज्ञात का निवासी है अतः उसके कार्यों की स्वेच्छावारी अभिव्यक्त या स्वतंत्र संकल्प द्वारा निर्धारित होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के कर्तव्य की धारणा उसके हस्तियात्मक इच्छाओं की क्रिया नहीं है क्योंकि यह प्रत्यक्ष मानव में भिन्न-भिन्न होती है वरन् यह ऐसे मानव की धारणा है जो बौद्धिक या स्वतंत्र प्राणी है तथा जिसे अपने ऊपर ही एक सार्वभौमिक नियम के रूप में आरोपित करता है। तर्क-बुद्धि प्रता सब में सामान्य है अतः कर्तव्य या आदेश स्वयं इसी की ध्वनि है।

छद्म-बुद्धि भीमांसा में हम वैसा जुके हैं कि अप्रतिबद्ध के लिए अपनी भांग में निम्नलिखित तर्क-बुद्धि ने बोधाम्य ज्ञात और हममें निहित हमारे अस्तित्व के विश्व-कारण प्रत्यक्ष दोनों को प्रतिष्ठित किया और फलस्वरूप यह स्वतंत्र और प्राकृतिक कारणता के विप्रतिषेध में फँस गयी । यह विप्रतिषेध अनुभव के वस्तु-विषय के प्रति हमारे ज्ञान की आवश्यक सीमा से प्राप्त था इसीलिए यह तर्कबुद्धि उसका समाधान करने में असमर्थ थी । परन्तु छद्म व्यावहारिक बुद्धि-भीमांसा में पुनः स्वातंत्र्य की अपनी मान्यता के द्वारा व्यावहारिक तर्क-बुद्धि ने श्रद्धा या विश्वास के आधार पर उमें उसका समाधान करने की समझौता प्रदान की जिसका समाधान ज्ञान पर आधारित था और इस प्रकार यह दिखाया कि मनुष्य वस्तुतः स्वतंत्र होता है ।

हम इस तथ्य से पूर्णतया अवगत हैं कि हमारे ज्ञान की दृष्टि से स्वातंत्र्य की धारणा को स्थापित करना असम्भव है परन्तु जहां तक हमारे कर्म का सम्बन्ध है हम एक स्वातंत्र्य की गेतना से युक्त होकर ही कर्म करते हैं और इसी रूप में हम स्वतंत्र भी समझे जाते हैं । अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि कान्ट के अनुसार तर्क-बुद्धि प्रता अपने क्रियात्मक कार्य में ही हमारी इच्छा-शक्ति बन जाती है और इसीसंकेत या इच्छा-शक्ति से निर्मित बौद्धिक प्राणी विद्वत् रूप से अपनी ही तर्क-बुद्धि प्रज्ञा द्वारा अपने ही ऊपर आरोपित सार्वभौमिक नियम के लिए श्रद्धापूर्वक कार्यरत रहता है । यही इच्छाशक्ति स्वतंत्र इच्छा-शक्ति है, वात्स-निर्धारित इच्छा-शक्ति है तथा यही नैतिक इच्छा-शक्ति है जो एक सार्वभौमिक नियम की इच्छा करती है । इसी अन्य प्रकार से इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि मानव का कोई भी कर्म नैतिक कर्म इसलिए है कि वह ठुम कर्म है; ठुम इसलिए है कि वह उचित कर्म है तथा उचित इसलिए है कि वह विवेकशील या बौद्धिक कर्म है अर्थात् हमारी

१. जॉन मादसन, वि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३८६

२. लेविन स्वाइट के, कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीजन, पृ० १०२, तथा

जॉन मादसन, वि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३३१

तर्क-बुद्धि प्रज्ञा द्वारा निर्धारित कर्म है, यह तर्क-बुद्धि प्रज्ञा ही हमारी बौद्धिक हज्जा-शक्ति है, सपिच्छा है तथा स्वतंत्र हज्जा-शक्ति है। इस प्रज्ञा पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धिक प्राणी की हज्जा-शक्ति के रूप में ही हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा स्वयं अपने आप ही स्वतंत्र समझी जाती है और वही हज्जा-शक्ति स्वतंत्र का हूँ प्रत्यय हमारे व्यावहारिकता या कर्म के क्षेत्र में सम्पूर्ण बौद्धिक प्राणियों पर आरोपित हो जाता है। इस अवलोकन से सिद्ध होता है कि यद्यपि नैतिक नियम के अपने ज्ञान से ही हम स्वतंत्र का प्रत्यय को सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु फिर भी हम यह कहते हैं कि नैतिक नियम के लिए स्वतंत्रता उत्पन्न अनिवार्य एवं अपरिहार्य है क्योंकि एक स्वतंत्र सत्ता ही नैतिक नियमों को उत्पन्न कर सकती है तथा एक नैतिक सत्ता स्वतंत्र का जेतना हो चुका हो सकता है। यही नैतिकता ही हमारा सर्वोच्च निःश्रेयस है जिसमें सम्पूर्ण तथा सानन्दता की संयुक्ता समाहित है। अतः संकल्प स्वतंत्र का नैतिकता का एक उत्प्राप्य अन्वयमान है।

ईश्वर का अस्तित्व

=====

कान्ट ने ईश्वर के अस्तित्व को भी नैतिकता के एक अनिवार्य आधार तत्त्व के रूप में मान्यता दी है। व्यावहारिक बुद्धि के अन्तर्न्याय-सम्बन्धी अनुशीलन में यह स्पष्ट होता है कि हमारी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा उचित रूप से विद्वत् अवैयक्तिक अधिष्ठानों पर पूज्य के उपलब्धि की मांग करती है। यह पूज्य नैतिकता

-
१. जॉन वाटसन, दि फिलॉसफी ऑफ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३३३
 २. टॉमस ई० हिल, एथिक्स इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, पृ० ६७
 ३. वही पृ० ६८, तथा लेक्स एक्वाइट कैस, कान्ट क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल-रीज़न, पृ० २२७।

के अनुपात में सानन्दता की उपलब्धि को समाहित करता है। इसका तात्पर्य यह है कि एक नैतिक कर्ता जैसा मनुष्य नैतिक नियम की इच्छा करता है तथा इसके वस्तुस्थिति अपने कर्म के प्रतिकूल के रूप में वह सानन्दता जैसा इच्छा-शक्ति और कामनाओं की वृत्ति या सन्तुष्टि चाहता है। सामान्य दृष्टि से हम कह सकते हैं कि नैतिक कर्ता नैतिक नियमों की इच्छा करता है। इस शर्त पर यदि प्रकृति नैतिक कर्ता की समस्त इच्छाओं की सन्तुष्टि को सुरक्षित रखने में की सामर्थ्य रखती है, तब वह कर्ता सन्तोष व सानन्दता की अनुभूति कर सकता है। परन्तु हम जानते हैं कि नैतिक नियम की इच्छा करना एक स्वतंत्र सत्ता की भांति कर्ता की शक्ति के ही अन्तर्गत है अतः नैतिक नियम का इस दृष्टि से प्राकृतिक जगत पर कोई भी प्रभाव नहीं है। अन्य शब्दों में मानव का प्रकृति के संविधान पर कोई अधिकार नहीं है, उस पर मानव की कोई भी शक्ति निष्फल है क्योंकि नैतिक कार्य का कारण प्रकृति के किसी भी विचारणीय कारण से भिन्न है। इस प्रकार की स्थिति में हमारे लिए इस तथ्य के समर्थन का कोई भी औचित्य नहीं रह जाता है कि नैतिक नियम के साथ पूर्ण सामंजस्य का प्रतिकूल सङ्गुण या नैतिकता के अनुपात में सानन्दता की प्राप्ति होगी; क्योंकि हमने सर्वोच्च श्रेय को उपलब्धि होगी। हम पहले ही यह विचार कर चुके हैं कि ऐसी असमर्थता का दशा में हमारी तर्क-बुद्धि अनिवार्यतया सङ्गुण और सानन्दता के सामंजस्य को इस मान्यता द्वारा स्वीकार कर लेती है कि एक अतीन्द्रिय बुद्धिमान कारण द्वारा ये चीजें परोक्ष रूप से संयुक्त हो सकते हैं। अतः कान्ट पहले यह स्वीकार करते हैं कि सङ्गुण के अनुपात में सानन्दता प्राप्य है तथा यह हमारे तर्क-बुद्धि की एक तर्कमय एवं अविचारपूर्ण मांग है। तत्पश्चात् वे यह प्रस्तावित करते हैं कि मनुष्य सर्वोच्च श्रेय की प्राप्ति व उसकी प्राप्ति के लिए एक निरपेक्ष बाध्यता या कर्तव्य के बोधोत्पत्ति होता है।

प्राकृतिक जगत में मानवीय इच्छाओं के साथ प्रकृति के सामंजस्य को सुरक्षित रखने के लिए कुछ भी नहीं है, इसलिए हमें प्रकृति से भिन्न, प्रकृति के एक कारण की सत्ता को एक समष्टि के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। यह कारण अवश्य ही नैतिकता और सामन्वयता को एक दूसरे के उचित अनुपात में संतुलन करने की शक्ति रखता है क्योंकि सर्वांगीय निःश्रेयस को संभव बना सकता है। स्वयं नैतिक नियम के अन्तर्गत ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमें इन चीजों के एक आवश्यक सम्बन्ध के बारे में विश्वास करने के लिए कुछ आधार प्रदान करे। कान्ट कहते हैं कि हमें सर्वांगीय ज़ूम तक पहुँचने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, इसलिए हमें प्रकृति के समष्टि के एक ऐसी कारण की मान्यता देनी पड़ती है, जहाँ प्रकृति से भिन्न है तथा जो सामन्वयता और नैतिकता को उचित व सन्तुलित समानता के आधार से जुड़ जाता है। अतः इस कारण की केवल बोधमय ही नहीं बल्कि नैतिक भी होना चाहिए क्योंकि प्रकृति की व्यवस्था का सृष्टा होने के साथ ही उसी समय में यह भी प्रबन्ध करना होता है कि यह व्यवस्था कर्ता के नैतिक चरित्र के साथ संगति में हो। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विश्व में सर्वांगीय श्रेय की अनुप्राप्ति हमें केवल तब ही सकती है जब हम यह स्वीकार करें कि एक ऐसी सत्ता भी है जो प्रकृति का कारण है और साथ ही साथ कर्ता के नैतिक चरित्र के साथ प्रकृति को अनुकूलित भी करती है। नियम की केतना। क्रियाशील सत्ता एक विवेकशील सत्ता है, बोधमय सत्ता है तथा इस सत्ता की कारणता एक इच्छा-शक्ति है जो निःश्रेयस की प्राप्ति को संभव बनाती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि निःश्रेयस का प्रत्यय एक ऐसी सत्ता के अस्तित्व के अभाव में अस्तित्व को समाहित करता है जो अपनी संकल्प-शक्ति और अपने बोध से प्रकृति का कारण जथा रचयिता है। अतः कान्ट कहते हैं

१. लेविस ह्वाइट कैस, इमेजुअल कान्ट क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीजन, पृ० २२८

२. जॉन वाट्सन, दि फ़िलोसफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३८२

कि हमारे इस कथन से कि हम सर्वोच्च प्राप्य श्रेय को स्वीकार कर सकते हैं, हमें इस प्राप्य निःश्रेयस के उद्गम अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता देनी पड़ती है। केवल सर्वोच्च निःश्रेयस को ही उन्नत करना हमारा कर्तव्य नहीं है, हमारे कर्तव्य की धारणा हमें पड़े से हो यह स्वीकार करी का अधिकार प्रदान करती है कि सर्वोच्च श्रेय की अनुभूति की जा सकती है। यह अनुभूति केवल ईश्वर के अस्तित्व की नैतिक पूर्वमान्यता द्वारा सम्भव हो सकती है। हमारा निःश्रेयस् अपृथक् रूप से हमारे कर्तव्य से सम्बन्धित है। अतः स्पष्ट रूपेण हम यह कह सकते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना नैतिक रूप से अनिवार्य है। नैतिकता ही संभावना की एक व्याख्या के रूप में ईश्वर का अस्तित्व अत्यन्त अनिवार्य है क्योंकि परम निःश्रेयस की प्राप्ति ही हमारी नैतिकता है और ईश्वर के अस्तित्व के अभाव में यह क्रमशः है। अतः ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्यय नैतिकता की अनिवार्य अभिव्यक्ति है।

हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि अनिवार्य रूप से सद्गुण व सानन्दता से युक्त सर्वोच्च धर्म को प्राप्त करना चाहती है अर्थात् नैतिक कर्ता मानव सर्व ही अपने नैतिक कर्म के परिणामस्वरूप सानन्दता का आनन्दान्वी होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सर्वोच्च श्रेय ही मानव का वरम प्राप्य कल्याण आदर्श होता है और इसी को प्राप्त करने के लिए वह निरन्तर प्रयास करता रहता है। परन्तु यह सुविधित है कि नैतिक कर्ता मानव अपने नैतिक जीवन में अपनी यथार्थ या व्यावहारिक उपलब्धि को सर्वत्र अपने मनःस्थित आदर्श से कम ही पाता है किन्तु उसका बेतमास्थित आदर्श निःश्रेयस उसे सर्वत्र अधिकाधिक

१, "...It was our duty to promote the highest good; and it is not merely our privilege but a necessity connected with duty as a requisite to presuppose the possibility of this highest good. This presupposition is made only under the condition of the existence of God, and this condition inseparably connects this supposition with duty. Therefore, it is morally necessary to assume the existence of God."

-- लेबिस ह्वाइट बेक, कान्ट क्रिटिक् ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २२८

प्राप्ति करने की प्रेरणा देता रहता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सर्वाच्च ज्ञान मनःस्थित एक काल्पनिक आवर्ण है, यह एक वास्तविक आवर्ण है तथा मूलभूत^{प्रति}समाप्तन तत्त्व है, जिसकी अपूर्ण किन्तु उत्तरोत्तर पूर्णता की ओर ऊपर होने वाली अभिव्यक्ति ही मानव के नैतिक जीवन में परिणत होती है। यथार्थ की समीक्षा किसी यथार्थ माध्यण्ड तथा प्रेरणा द्वारा ही होनी चाहिए। अतः निःश्रेयस रूपी हमारा आवर्ण यथार्थ की प्रकाशित भी करता है तथा इसके प्राप्त की सम्भाव्यता का निर्देशक भी होता है। इस बात का पूर्वविचार हो चुका है कि मानव की तर्क-बुद्धि स्वयं ही नैतिक नियमों की निर्माता है तथा यह अपनी स्वतंत्र दृष्टा-शक्ति द्वारा इनसे शाशित होना भी स्वीकार करती है या भी मानव की नैतिक प्रेरणा का मूल उसका नैतिक स्वायत्तता से कुछ होना ही है। इतना होते हुए भी हम यही देखते हैं कि मनुष्य अपने नैतिक आवर्ण की केवल अपूर्ण रूप से साकार करने व अनुसृत करने में सफल होता है तथा उसकी पूर्ण अनुमति के लिए वह अन्तः प्राप्ति करता रहता है। काम्न्ट के अनुसार एक पूर्ण कुछ, कुछ, कुछ नैतिक सत्ता द्वारा ही हमें सर्वाच्च ज्ञान की पूर्ण अनुमति हो सकती है, यही सत्ता ईश्वर की सत्ता है।

हम मलीमांति देखते हैं कि काम्न्ट ने कुछ-बुद्धि मीमांसा में यह सिद्ध किया है कि ईश्वर के प्रत्यय की कुछ सैद्धान्तिक वास्तविकता नहीं है। हमारी चिन्तमशील तर्क-बुद्धि ने एक अन्तिम सत्ता की धारणा का नेतृत्व किया था परन्तु फिर भी वह यह सिद्ध करने में असमर्थ थी कि यह सत्ता हमारे आवर्ण की अपेक्षा कुछ अधिक उच्च वस्तु है। परन्तु इसके विपरीत व्यावहारिक बुद्धि-मीमांसा में काम्न्ट यह स्पष्ट करते हैं कि व्यावहारिक तर्क-बुद्धि यह दिग्दर्शित करती है कि ईश्वर की अन्तिम सत्ता वास्तव में उस अन्तिम सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व-युक्त होती है जिसके अभाव में सर्वाच्च श्रेयस असंभव हो जाता है तथा

बौद्धान्य ज्ञात में यह सदा नैतिक नियमों के विधारण की सफ़लशक्ति के साथ सम्मन् की जाती है । वह कहती है कि ईश्वर का अस्तित्व व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की एक मान्यता है, कबने का अभिप्राय है कि नैतिक नियम इस प्रत्यय को व्यावहारिक वास्तविकता प्रदान करते हैं ।

उपरोक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर का प्रत्यय हमारी नैतिक अभिव्यक्ति है, अन्य शब्दों में यह हमारे नैतिक ज्ञान की एक आवश्यकता तथा मार्ग है, इसी अर्थ में यह वास्तविक है । यह वस्तुगत नहीं है क्योंकि यह स्वयं एक कर्तव्य नहीं है, जो केवल सैदान्तिक दृढ़-विश्वास का विषय हो सकती है । ऐसी किसी भी वस्तु या सत्ता के अस्तित्व को अंगीकृत करना एक कर्तव्य नहीं हो सकता है । हम पहले ही अंतर्दिग्ध रूप से यह सिद्ध हो चुके हैं कि हमारी यह नैतिक वाक्यता--कि 'हमें नैतिक नियमों का पालन करना चाहिए; पूर्णतया स्वयं तर्क-बुद्धि की स्वायत्तता पर ही आश्रित रहती है, इसलिए ईश्वर के प्रत्यय को नैतिक वाक्यता का आधार नहीं बनाया जा सकता है । हम केवल इस सम्भावना को ही स्वीकार कर सकते हैं कि हमारा सम्पूर्ण कर्तव्य केवल सर्वोच्च श्रेय को जानने के लिए, उसकी अनुमति करने से उसकी उन्नत करने के लिए ही हो सकता है । परन्तु हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि निःश्रेयस की सम्भावना को केवल इस पूर्वमान्यता के अन्तर्गत ही अनुमत्त पाती है कि एक अन्तिम बौद्धिक सत्ता अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व है । इस बौद्धिक ईश्वर के अस्तित्व की मान्यता हमारे कर्तव्य की नेतृता के साथ जाकर होती है । यह मान्यता स्वयं हमारी सैदान्तिक तर्क-बुद्धि के दायरे से सम्बन्धित होती है । केवल सैदान्तिक तर्क-बुद्धि के सम्बन्ध में ही इसे प्राकृतिकता या व्याख्या के एक सिद्धान्त के रूप में समझा जाता है जबकि एक वस्तु-विषय की बोधायनता में इसे नैतिक नियम या निःश्रेयस द्वारा प्रस्तुत किया जाता है और परिणामस्वरूप व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए एक मार्ग अथवा आवश्यकता के कारण इसे अज्ञात या विश्वास कहा जा सकता है ।

यह एकमात्र उद्गम, जिससे यह प्रत्यय प्राप्त होता है, वह अपने सैदान्तिक और व्यावहारिक प्रयोगों में कुछ तर्क-बुद्धि ही है, इसलिए हम कह सकते हैं कि ईश्वर का प्रत्यय वस्तुतः हमारे व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की अद्यावधि विश्वास ही है ?

सद्गुण तथा सानन्धता के सार्वत्रिक की सम्भाव्यता की कान्ट ने ईश्वर की सत्ता द्वारा सम्भव बना दिया क्योंकि उन्होंने सर्वज्ञ निःश्रेयस की व्यावहारिक सम्भाव्यता की समस्या का समाधान करने के लिए ईश्वर की अनिवार्यता को स्थापित किया^१। कान्ट के ईश्वर-सम्बन्धी विचार से वह तथ्य स्पष्ट हो जाता है जिसके कारण एपिक्थुरसवादी तथा स्टोइक ग्रीक वार्षनिक सम्प्रदाय सर्वज्ञ निःश्रेयस की व्यावहारिक सम्भाव्यता को स्थापित करने में असमर्थ रहे। वस्तुतः एपिक्थुरसवादी विचारकों ने यह कह कर कि सद्गुण वही है जिससे सुख की प्राप्ति हो, 'सर्वज्ञ श्रेय' को एक निम्नकोटि प्रदान कर दिया और इसकी अपेक्षा किसी उच्च प्रकार की सानन्धता की लोभ करने का प्रयत्न नहीं किया जिस प्रवृत्तियों के नियंत्रण एवं संयम से सुख मानव बुद्धि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसके विपरीत स्टोइक विचारकों ने अपने सर्वज्ञ व्यावहारिक सिद्धान्त सद्गुण को उचित रूप से सर्वज्ञ श्रेयस की परम शक्ति के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने सद्गुण को प्रकृति के अनुसूल वाचरण का अर्थ प्रदान करके मनुष्य को सामाजिक व्यवस्था को वैधी व्यवस्था का सांसारिक स्वरूप समझा और उस व्यवस्था में मनुष्य को एक ऐसी श्रेष्ठता प्रदान की जो ईश्वर की श्रेष्ठता में निहित होती है। कहने का तात्पर्य है कि जब स्टोइक विचारक सद्गुण के एक ऐसे स्तर को स्वीकार करते हैं जो इसी के विशुद्ध नियम के लिए अपेक्षित है तथा इसी जीवन में प्राप्य है, तब वे मानव को उसके

१, गेन वाटसन, दि फिलॉसफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३८६

२, क्लीमेंट सी० ०१० बैब, कान्ट्स फिलॉसफ़ी ऑफ़ रैज़निंग, पृ० ६३

"... According to Kant, it follows that our moral consciousness must postulate a power adequate to bringing the summum Bonum into being--that is, it must postulate the existence of God."

प्रकृति की समस्त सीमाओं से परे एक संन्यासी की संज्ञा दे कर उसकी संपूर्ण नैतिक शक्ति का अतिरंजन ही नहीं करते बल्कि वे निःश्रेयस के अनिवार्य तत्त्व सामान्यता को ही बखीकार कर देते हैं। वास्तव में ग्रीक वास्तविक विचारकों की मूल उनके प्रयोगों के नियम के सम्बन्ध में निहित थी। इस नियम की मानव की संकल्प-शक्ति अपनी स्वतंत्रता से सर्वांगीण श्रेयस की सम्भावना के एकमात्र एवं पर्याप्त आधार के रूप में निर्मित करती है, परन्तु यह ईश्वर के अस्तित्व-सम्बन्धी सभी विचारों से पृथक है क्योंकि वे इस उद्देश्य के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं करते हैं। यहाँ केवल उनका यह कहना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है कि नैतिक सिद्धान्त ईश्वर की मान्यता से स्वतंत्र है तथा उसे संकल्प-शक्ति के साथ तर्क-बुद्धि के सम्बन्ध द्वारा विभुद्ध रूप से सिद्ध किया जाता है, इसलिए वह नियम सर्वांगीण श्रेयस की अन्तिम व्यावहारिक पूर्व स्तरी है। किन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं अनुमानित कर सकते कि नैतिक सिद्धान्त ही सर्वांगीण श्रेयस की सम्भावना की पूर्ण एवं आत्यन्तिक स्तरी है।

एक सूक्ष्म अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार नैतिकता का प्रथम आधारतत्त्व हमारे अन्तिम श्रेय की धारणा पर आधारित है उसी प्रकार यह आधारतत्त्व भी पूर्ण निःश्रेयस अर्थात् सद्गुण एवं सामान्यता की संयुक्तता पर आधारित है। ईसाई मत में भी ईश्वर के साम्राज्य के प्रत्यक्ष में सर्वांगीण श्रेयस की धारणा का समुचित उल्लेख प्राप्त होता है, उनकी यह निःश्रेयस-सम्बन्धी धारणा ही हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की एक सुनिश्चित एवं पूर्वतन मांग है। यहाँ यह सिद्धान्त धार्मिक दृष्टिकोण से पृथक है अर्थात् इसे हम धार्मिक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं करते। यह निःश्रेयस का प्रत्यक्ष एक ऐसा प्रत्यक्ष है जिसमें प्रकृति और नैतिक श्रेष्ठता एक साथ एक सामंजस्य में संयुक्त हो पाते हैं तथा इसे एक ऐसी पवित्र सत्ता के द्वारा स्थापित किया जाता है, जो सबका सृष्टिकर्ता है तथा जो सर्वांगीण प्राप्य श्रेय को सम्भव बनाता है। नैतिक नियम बुद्ध एवं पवित्र होते हैं तथा वे नैतिक आचरण के पवित्रता की मांग करते हैं। हम जानते हैं कि यह पवित्रता इसी में निहित है कि हमारा आचरण पूर्णरूप से

नैतिक नियमों के अनुकूल हों, यह प्रयास भी असीमित है क्योंकि सानन्दता के एक बुद्धिमान और सर्वशक्तिमान विधाता के निष्पत्ति में समस्त सम्भव सानन्दता की कोई अन्य सीमा नहीं है सिवाय, इसके कि बौद्धिक सचाई के अपने कर्तव्य-पालन की क्षमता में कुछ सीमा हो। कहने का तात्पर्य है कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रकृति की किसी भी व्यवस्था की धारणा के अनुसार सानन्दता नैतिक नियम के अनुपालन से सम्बन्धित हो। अतः यह भी अनिवार्य नहीं है कि नैतिक नियम द्वारा निश्चित रूप से सानन्दता की प्राप्ति हो, इसकी प्राप्ति का प्रत्यक्ष अनन्तर्गति से होता रहता है तथा इसकी प्राप्ति की वांछा से कुछ छोड़कर बौद्धिक प्राप्ति एकनिष्ठता से नैतिक नियम का पालन करते हैं। यहाँ यह विश्लेषण नीति-विधान्त ईश्वरपरक नहीं है, परन्तु यह परायत्त भी नहीं है, हमारे व्यावहारिक बुद्धि की स्वायत्तता है, क्योंकि ईसाई धर्म ईश्वर जगत्वा उसको शब्दा-शक्ति के ज्ञान को नियम का आधार नहीं बनाता है वरन् सर्वोच्च श्रेय की प्राप्ति के ज्ञान को आधार बनाता है। इसके साथ ही यह है कि तर्क-बुद्धि के नियमों का पालन किया जाय, किन्तु यह धर्म नियमों के पालन के लिए वाञ्छाकारिता को केवल कर्तव्य के प्रत्यक्ष में ही स्थान देता है, प्रत्याक्षित परिणामों में वाञ्छाकारिता की वास्तविक प्रेरणा को स्थान नहीं देता, क्योंकि इनके अनुसार मान नियम का विश्वसनीय अनुपालन ही धर्म उन परिणामों को प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विद्वद् व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के अन्तिम साध्य और वस्तु-विषय के रूप में 'सर्वोच्च श्रेय' की धारणा द्वारा नैतिक नियम धर्म का नेतृत्व करता है, क्योंकि धर्म वेही आदर्शों के रूप में समस्त कर्तव्यों का ज्ञान है परन्तु ये आदर्श अपने आप में स्वतंत्र प्रत्यक्ष संकल्प-शक्ति के तात्त्विक नियमों के रूप में रहते हैं, उन आदर्शों के रूप में नहीं, जिस एक बाह्य और भिन्न अलग संकल्प-शक्ति ने अपने रविव्यापारी आदर्शों से संलग्न किया है। अन्ततोगत्वा इन नियमों को अन्तिम सचाई ईश्वर

के वादस के रूप में हो सकता जा सकता है, क्योंकि ये नैतिक रूप से एक पूर्ण, पवित्र और शुभ तथा उद्योग-धर्म एक सर्वशक्तिमान इच्छा-शक्ति द्वारा प्राप्त नियम हैं, इनके साथ सामंजस्य स्थापित करके ही हम उस सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने की वांछा कर सकते हैं जिसे प्राप्त करना हमारा नैतिक कर्तव्य है।

कान्ट व्यावहारिक रूप से कर्म के धर्म में यह दिग्दर्शन करते हैं कि 'सर्वोच्च श्रेयस' ही हमारे कृत्य-बुद्धि की मांग है, यही हमारी नैतिकता है। नैतिकता के लिए ही 'आत्मा की अमरता', इच्छा-स्वातंत्र्य तथा ईश्वर का अस्तित्व इन मान्यताओं को हमें अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है। हम यह भी कह सकते हैं कि ये मुख्य नैतिकता की पूर्वमान्यताएं हैं, इनके अभाव में नैतिकता का कोई मुख्य नहीं रह जाता है। इस प्रकार 'सर्वोच्च श्रेयस' की सत्ता की नैतिक नियम के लिए कान्ट अदा में पहले से ही स्वीकार कर लेते हैं और व्यावहारिक तर्क-बुद्धि की तीन मान्यताओं पर पहुंच जाते हैं और फलस्वरूप वे यह दिखाते हैं कि जिस समस्या को बुद्धि-बुद्धि मीमांसा में हमारी विन्तनशील तर्क-बुद्धि ने अनुसरित छोड़ दिया था, व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा में हमारी कृत्य तर्क-बुद्धि ने इन्हीं मान्यताओं पर विश्वास करके उसका समाधान करने में समर्थ हो जाती है।

इन मान्यताओं के अवलोकन के पश्चात् जब इनसे सम्बन्धित इन तथ्यों पर ध्यान देना अनिवार्य हो जाता है कि क्या अमरता, स्वातंत्र्य और ईश्वर-सम्बन्धी ये मान्यताएं हमारे ज्ञान को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करती हैं, क्या ये मान्यताएं हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के लिए अन्तर्निहित, मूलभूत तथा संघटक तत्त्व हैं? इनके उत्तर में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि ये नैतिक पूर्वमान्यताएं हैं। ये हमारी नैतिक चेतना में पूर्ण-स्वीकृत होने के अर्थ में ही अन्तःभूत एवं संघटक तत्त्व हैं। कान्ट कहते हैं कि हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि

१. क्रीम्ट सी० ०६० वेब, कान्ट्स फ़िलासफ़ी ऑफ़ रैलियन, पृ० ६७

२. जॉन वाटसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ३८५

३. लैसिस हवाइट बैक, कान्ट, क्रिटिक् ऑफ़ प्रैक्टिकल रीजन, पृ० २२६

किस वस्तु की जाकांजा" करती है वह एक नियम है और इसी नियम के अनुसार यह अपने आप को तथा उन वस्तु-विषयों को निर्धारित करती है जिनकी उपलब्धि इसे करना होता है, इसलिए व्यावहारिक तर्क-बुद्धि का प्रत्यक्ष एक अन्तर्गामी एवं संघटक सिद्धान्त कहलाता है। कृत्य तर्क-बुद्धि ज्ञान के चित्र में अपरोक्ष रूप से स्वतंत्र विषयी, बाह्यम्य ज्ञात अथवा एक अन्तिम सत्ता को गृहण नहीं करती है, यह अपने वस्तु-विषयों के तथाकथित वस्तुगत अस्तित्व से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं होती है और न तो इसे यह जानने की ही जिज्ञासा व रुचि रहती है कि आत्मा अमर है या नहीं, ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं। यह उन सत्ताओं को स्वीकार करती है और ऐसा करने में यह कर्म का एक सिद्धान्त प्रदान करती है। कहने का अर्थ यह है कि सब कुछ, जो यह कृत्य बुद्धि कर सकती है वह केवल इसका यही परिणामित कराना है कि वे मान्यताएं सर्वांग्म्य श्रेय की व्यावहारिक धारणा से जाबद्ध होती हैं।^१ बुद्ध रूप से नैतिक नियम के आधार पर ही उनकी सत्ता स्थापित की जा सकती है। हम यह नहीं समझ सकते हैं कि स्वातंत्र्य, अमरता आदि किस प्रकार सम्भव हैं क्योंकि एक स्वतंत्र कारण का यथार्थ ज्ञान हमारे अनुभव के स्वरूप से प्राप्त करना असम्भव है। वह वस्तु जिसे हम कह सकते हैं कि 'है' वह एक स्वतंत्र कारण ही है, क्योंकि इसके अभाव में किसी भी नैतिक नियम का अस्तित्व असम्भव है। स्वतंत्र कारण भी अमरता और ईश्वर के अस्तित्व द्वारा ही संभव एवं सत्य है। इस प्रकार यद्यपि इन वस्तु-विषयों का ज्ञान असम्भव है, परन्तु फिर भी उनकी सत्ता में हमारे विवेकीय विश्वास या श्रद्धा को कोई कुतर्क नष्ट नहीं कर सकता है, क्योंकि ये हमारे नैतिक जीवन के लिए अत्यन्त अनिवार्य हैं तथा हमारे मानवीय व्यवहार को सम्भव बनाने वाली मान्यताएं हैं।

इस प्रकार सिद्ध है कि ये सत्ताएं हमारी तर्क-बुद्धि के ही प्रत्यक्ष हैं; हम उन्हें ज्ञान की सत्ता नहीं दे सकते, परन्तु वस्तु-विषयों के विचारों के रूप में अवश्य ही गृहण कर सकते हैं। हमारी सैद्धान्तिक बुद्धि ने भी विचारों के रूप में हमका सम्भव होना छिन्नछोड़ दिखाया है। इन प्रत्ययों के संभावित वस्तु-

विषयों के अस्तित्व पर हम सन्देह नहीं कर सकते । ये प्रत्यक्ष नैतिक नियम की उपलब्धि की अनिवार्यता के अर्थ में वस्तुगत सत्ता रखते हैं या यह कहिए कि ये उन वस्तुओं की अनिवार्य तर्त हैं जिन्हें हमारा वस्तु-विषय ज्ञान के लिए एक अकाट्य व्यावहारिक नियम तर्क आवश्यक होता है, उसी नैतिक अर्थ में ही वे वस्तुगत सत्ता से भी युक्त होते हैं । इतना छोटे हुए भी हम उनके सम्बन्ध में कोई सैद्धान्तिक संश्लेषणात्मक निर्णय नहीं बना सकते और न तो हम सैद्धान्तिक रूप से यह निर्धारित ही कर सकते हैं कि उनका प्रयोग किस प्रकार होता है, क्योंकि हम यह नहीं जान सकते कि अपने संवादित वस्तु-विषयों से वे किस प्रकार सम्बन्धित हैं । इस प्रकार हमारे लिए यह कहना सत्यता असंभव हो जाता है कि हम उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का ज्ञान रखते हैं । हमारी तर्क-बुद्धि उनका सैद्धान्तिक प्रयोग नहीं निर्मित कर सकती, कहने का तात्पर्य है कि वे प्रत्यक्ष चिन्तनात्मक तर्क-बुद्धि द्वारा नहीं जाने जा सकते हैं । परन्तु इस प्रकार जब ये नैतिक प्रत्यक्ष हमारे ज्ञान का विस्तार करने में समर्थ नहीं होते तब हमारे तर्क-बुद्धि का शत्रु स्वयं ही भ्रम या विश्वास के अर्थ में विस्तृत हो जाता है और वह अवश्यम्भावी रूप से अपने व्यावहारिक प्रयोग में यह विश्वास करने लगता है कि उन प्रत्यक्षों के अनुरूप वास्तविक वस्तु-विषयों का अस्तित्व है ।

यह सत्य है कि जो प्रत्यक्ष सिद्धान्त के शत्रु में वस्तु-विषयों से रहित एवं अनुभवातीत होते हैं वे हो अभ्यास के शत्रु में अन्तर्गामी एवं संघटक तत्त्व हो जाते हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि ये प्रत्यक्ष व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के अनिवार्य वस्तु-विषय के रूप में सर्वोच्च श्रेय की उपलब्धि की सम्भावना के आधार को अपने में समाहित करते हैं । इसके विपरीत हमारी सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि उन प्रत्यक्षों में केवल ऐसे नियामक सिद्धान्तों को ही प्राप्त करती है जो

१. जॉन वाटसन, 'वि फिलोसफी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड', पृ० ३८७

२. लैमिस ह्वाइट बैक, 'इमेनुएल कान्ट किटीक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न', पृ० २३७-३८

अनुभव के अन्तर्गत बुद्धि के अभ्यास को जाने बढ़ाने में अपना मुख्य रहते हैं। हमारी सैद्धांतिक तर्क-बुद्धि अपने आनुमक्षिक परिधि में केवल उन्हीं वस्तु-विषयों के बारे में चिन्तार करती है जिस पर वह अपनी बुद्धि-कौटिल्य का प्रयोग कर सकती है, इसी पर नहीं। अनुभव ही पर एक वस्तु-विषय के अस्तित्व के रूप में किसी निष्कर्ष को प्राप्त करने के लिए तर्क-बुद्धि के गियामक सिद्धान्त अपना कुछ भी मुख्य नहीं रहते हैं। परन्तु फिर भी जब हम एक बार नैतिक ज्ञान के द्वारा इस नवीन मिश्रण के स्वाभित्व में सम्मिलित किये जाते हैं, यानी जब हम अपने नैतिक ज्ञान से कुछ हाँकर उपरोक्त निष्कर्ष के प्राप्ति की अभ्यासमात्रा पर दृष्टिपात करते हैं, तब हमारी तर्क-बुद्धि एक चिन्तनशील शक्ति के रूप में केवल अपने व्यावहारिक प्रयोग को उचित रूप से सुरक्षित रखने के लिए अनुभव की सीमा से परे प्रवेश करती है और अमरता, स्वातंत्र्य तथा ईश्वर के प्रत्ययों के साथ निष्पेक्षात्मक विधि से कार्य करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है; अर्थात् उनका विस्तार नहीं करती वरन् उन पर प्रकाश डालती है, उन्हें स्पष्ट करती है। इस प्रकार तर्क-बुद्धि अन्वेषिश्वास के स्रोत के रूप में ऐसे मानवतारोप तथा मतात्मकता का बहिष्कार करती है जिनमें से क्रमशः प्रथम हमारे ज्ञान को एक अत्यन्त अनुभव के द्वारा विस्तृत करने का वाचा श्रुति है तथा दूसरा अनुभव के द्वारा तो नहीं, परन्तु अतीन्द्रिय अन्तःअनुमति के द्वारा ज्ञान के उसी प्रकार की अपवृद्धि का वाचा करता है। हम मलीमांति जानते हैं कि मानवतारोप एवं मतात्मकता दोनों ही समान रूप से हमारी तर्क-बुद्धि के व्यावहारिक प्रयोग के लिए बाधारे हैं इसलिए दोनों के बहिष्करण की एक व्यावहारिक दृष्टिकोण से हमारे ज्ञान के एक विस्तार के रूप में सम्झा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि ईश्वर, स्वातंत्र्य तथा अमरता इत्यादि ये प्रत्यय मानव प्रकृति द्वारा उद्भूत विषयों द्वारा निर्धारित होते हैं परन्तु इससे यह कदापि नहीं सिद्ध होता है कि हम एक ऐसे मानवतारोप में फँस गये हैं जो तर्क-बुद्धि के विरुद्ध प्रत्ययों को हानिप्रतिष्ठ रूप प्रदान करता है जबकि हमारा प्रत्यय अतीन्द्रिय विषयों का वाचा करने में स्वयं अतीन्द्रिय हो जाता है। अन्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मानव स्वभाव से गृहीत विषयों के इन प्रत्ययों के उपयोग के प्रति यह आक्षेप प्रामाणिक एवं तर्कसंगत नहीं है कि उनको

इन्द्रियनिष्ठ बना करके हम स्वयं ही मानवतारीप को प्रकट करते हैं या हम उस वारोप को स्पष्ट करते हैं जिसमें अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों के ज्ञान का अताकिर्क एवं अलग रूप से दावा किया जाता है नवार्कि जिन विषयों का हम प्रयोग करते हैं, वे इच्छा-शक्ति तथा बुद्धि के प्रत्यक्ष हैं, हम उन्हें एक दूसरे से केवल इस प्रकार सम्बन्धित सम्मनते हैं कि नैतिक नियम का प्रत्यक्ष उनकी मांग करता है । कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिक संकल्प-शक्ति की प्रकृति द्वारा हमकी मांग की जाती है और इस प्रकार ये न तो इच्छा इन्द्रियनिष्ठ होते हैं और न तो अतीन्द्रिय होते हैं, अतः हम इनका एक, विशुद्ध व्यावहारिक उपयोग ही करते हैं । इन विषयों को उन विषयों से पृथक् कर दिया जाता है जिन्हें हम अपनी इच्छा-शक्ति और बुद्धि की शक्तियों से जानते हैं और जो हमसे मनोवैज्ञानिक रूप से सम्बन्धित होते हैं । अभिप्राय यह है कि आन्तरिक निरीक्षण द्वारा प्राप्त मनोवैज्ञानिक लक्षणों को एक अन्तिम सत्ता की इच्छा-शक्ति और बुद्धि के साथ संगत रूप में त्याग दिया जाता है । उदाहरणस्वरूप हम ईश्वर के प्रत्यक्ष को एक ऐसी विषयवस्तु बुद्धि नहीं प्रदान करते जो धारणा के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करने वाली होती है, इसलिए यह सर्वोच्च सत्ता ईश्वर अपराध रूप में केवल धारणाओं से ही सम्बन्ध रखती है, प्रत्यक्षा से नहीं । मानवीय प्रत्यक्ष काक्षापीता होती हुए एक दूसरे का अनुकूलिक रूप में अनुमान करते हैं, परन्तु ईश्वर के प्रत्यक्षा को हम अनुकूलिक रूप में नहीं समझ सकते, क्योंकि वे काक्षापीता नहीं होते हैं । उनकी इच्छा-शक्ति अपनी सन्तुष्टि के लिए उन वस्तु-विषयों पर आधारित नहीं होती जिनकी ओर उन्हें निर्दिष्ट किया जाता है अर्थात् ईश्वर पराक्रित नहीं है । यहाँ स्पष्ट होता है कि सब निष्कर्षों को पृथक् कर देने से केवल वे ही विषय शेष रह जाते हैं जो विशुद्ध बुद्धि से सम्बन्धित होकर नैतिक नियम की संभावना के लिए अत्यन्त अनिवार्य होते हैं । अपने नैतिक कार्यों की सम्पन्न के लिए हम ईश्वर के एक अवस्था की अपेक्षा रखते हैं ।

१. लेविस ह्वाइट कैक, हमीनजल कान्ट, वि क्रिटिक रीफ़ा प्रिन्सिपल रीफ़ा, पृ० २३६

२. वही, पृ० २३६

यहां इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि यह बोध धर्म ईश्वर के विध्यात्मक ज्ञान की मांग करने का अधिकार देता है। हम अपने व्यवहार के सम्बन्ध में ही ईश्वर का ज्ञान रखते हैं। ईश्वर को हम एक अनुभूतिप्राप्त बुद्धि तथा वस्तु-विषयों की और निर्दिष्ट एक ऐसी हठ्ठा-शक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं जिनके अस्तित्व पर उनकी संतुष्टि नहीं बाधित होती है। परन्तु इस प्रकार से हमारे ज्ञान की सीमा में ईश्वर का स्वरूप नहीं प्रस्तुत होता है, हमारे नैतिक नियम की उपलब्धि के लिए यह पर्याप्त है। कान्ट का कथन है कि अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों के ज्ञान का कोई भी विस्तार सम्भव नहीं होता है। परन्तु यहां हमारी तर्क-बुद्धि ने धर्म यह स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया है कि इस प्रकार के वस्तु-विषय हैं, यहां हमारी सैदान्तिक तर्क-बुद्धि का तथा सामान्य रूप में अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों से सम्बन्धित हमारे ज्ञान का एक विस्तार संभव हो जाता है, यद्यपि हम उनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं जान पाते हैं। इस क्षेत्र के सापेक्ष विस्तार के लिए तर्क-बुद्धि पूर्णतया अपने विद्वद् व्यावहारिक शक्ति की क्षणी है। हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा ही ईश्वर, आत्मा आदि प्रत्यक्षों को हमारे नैतिक नियम के अभ्यास में सीमित कर देती है और हम देखते हैं कि इस प्रकार विद्वद् चिन्तनशील तर्क-बुद्धि के संवादी विस्तार के अभाव में भी विद्वद् व्यावहारिक बुद्धि के एक विस्तार की सम्भावना हो जाती है।

प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में धर्म यह स्मरण रखना चाहिए कि दार्शनिक कान्ट ने आत्मा-वस्तु-स्मार्तव्य तथा ईश्वर के अस्तित्व को अकारण ही नहीं स्वीकार किया है। बुद्ध-बुद्धि मीमांसा में धर्म ज्ञात होता है कि बुद्ध-बुद्धि के ऐसे प्रागनुभवी सिद्धान्त हैं जो दृश्य ज्ञात के मूल आधार हैं तथा दृश्य ज्ञात किसी भी प्रकार उनकी अवहेलना नहीं कर सकता है। परन्तु इसके ये नियम हमारे ज्ञान के क्षेत्र तक ही सीमित रह जाते हैं, ईश्वर, ज्ञात आदि प्रामाण्य वस्तुओं की व्याख्या नहीं कर पाते हैं और फलस्वरूप हमारी बुद्धि विप्रतिभेयों में फंस जाती है। कान्ट ने जाने पहचान कर व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा में ब्रह्म एवं विश्वास की स्थान दे कर उपराल विप्रतिभेयों का समाधान करने का प्रयास

किया है। कान्ट के विचारानुसार हमारी व्यावहारिक कृत्य बुद्धि भी प्राग्बुद्धि नियमों का श्रोत है, इसके इन नियमों का सम्बन्ध हमारे नैतिक व्यावहारिक जीवन से होता है। एक कर्ता अपनी कृत्य-बुद्धि के आवेशों की व्यवस्था नहीं कर सकता है। हमारी व्यावहारिक बुद्धि 'सर्वोच्च श्रेय' की मांग करती है। यही कारण है कि हम सर्वोच्च श्रेय की सम्भाव्यता तथा उन शर्तों की पूर्वमान्यता नहीं पहचानते हैं जिनके अभाव में 'सर्वोच्च श्रेय' ही असम्भव हो जाता है। वे शर्तें अनरता, स्वातंत्र्य तथा ईश्वर के प्रत्यय ही हैं। ये प्रत्यय स्वयं-सिद्ध हैं इसलिए ये सिद्ध होने की अपेक्षा नहीं रखते। ये नैतिकता की अनिवार्य पूर्वमान्यताएं हैं तथा स्वतंत्र एवं निरपेक्ष हैं। इन्हीं के अन्तर्गत हम सर्वोच्च श्रेय को उन्नत करते हैं तथा सम्भाव्य पाते हैं।

'सर्वोच्च श्रेय' को उन्नत करने का कर्तव्य स्वयं में ही उद्घाट्य रूप से निश्चित एवं स्वतंत्र होता है क्योंकि हमारी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के कर्तव्य-घातक आवेश प्रत्येक दशा में पालनीय होते हैं। नैतिक कर्ता पर नैतिक नियम का प्रभाव ही उसे सर्वोच्च श्रेय की तलाश करने तथा उन्नत करने के लिए प्रवृत्त करता है। ये नैतिक नियम ही हमें यह पूर्व-विश्वास दिलाते हैं कि निःश्रेयस सम्भव है, क्योंकि यदि ऐसा न होगा तो 'सर्वोच्च श्रेय' को पाने का हमारा सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रयत्न मात्र कल्पना में समाप्त हो जावेगा और परिणाम के रूप में हम एक वस्तु-विषय-विहीन शून्य प्रत्यय को प्राप्त करेंगे। अतः नैतिक नियम ऐसे निरपेक्ष अनिवार्य आवेश हैं जिनका पालन अवश्यभावी है। यदि वस्तुतः ऐसा ही है तो कोई भी सवाबारी व्यक्ति कह सकता है कि मैं हक़्का करता हूँ एक ईश्वर अवश्य ही; मैं हक़्का करता हूँ कि इस प्राकृतिक जगत में होते हुए भी मैं इससे बहर अस्तित्व वाला विवेकीय प्राणी रहूँ, अन्त में मैं हक़्का करता हूँ कि मेरी अवधि अनन्त हो तथा मुझसे मेरा यह विश्वास अप्रकृत न किया जाय। 'तुम कि मेरे पास इसे समर्पित करने व सीमित करने का कोई अधिकार नहीं है, अतः ये ही सम्पूर्ण विषय हैं जिसमें अभिरुचि

अपरिहार्य एवं अनिवार्य रूप से मेरे भिन्नता को निर्धारित करती है ।^१ इस प्रकार निःसन्देह ही नैतिक सिद्धान्त हमारे लिए वास्तवगत विषय है, परन्तु व्यावहारिक रूप से ये हमारे अनिवार्य लक्ष्य का प्राप्त करने के साधन हैं । यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित है कि उपरांत 'युक्ति' के विरुद्ध 'बाह्यजनमान' एक आक्षेप करते हैं । वे मानव प्रकृति की मूल आवश्यकता के रूप में वस्तुगत यथार्थता को स्वीकार करते हैं और अपने आरोप को इस दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं कि उपरांत विश्वास एक ऐसे 'व्यक्ति' के प्रेम के समान है जो अपनी ऐसी प्रेमिका के सौन्दर्य की धारणा से अपने आपको विमोहित करता है जिसका अस्तित्व अन्य कहीं नहीं है वरन् उसकी अपनी कल्पना में है । वे बाह्यजनमान के आक्षेप को एक विशेष स्थिति में स्वीकार तो करते हैं किन्तु उसका सण्खन भी करते हैं । पुनः अपने दृष्टिकोण को स्थापित करते हुए कान्ट कहते हैं कि बाह्यजनमान का आक्षेप एक ऐसे संकुचित वर्ग में प्रयुक्त होता है जो सिद्धान्ततः नैतिक परिस्थिति से भिन्न है । उनका आक्षेप केवल उसी सीमा तक सत्य एवं उचित है जहाँतक मानव के प्राकृतिक रहमान का प्रश्न है । हम जानते हैं कि प्राकृतिक रहमान वैयक्तिक है । मानव जो कुछ भी सौकता है और जिस बात की धारणा एवं कल्पना से युक्त होता है, वह अनिवार्य रूप से सम्बन्ध तथा वस्तुगत है । किन्तु नैतिक परिस्थिति का सम्बन्ध वैयक्तिक रहमान से नहीं है, उसका सम्बन्ध तो उस स्वतंत्र हज्जा-शक्ति से है जिसका नैतिक विधान से सावात्म्य है अर्थात् जिसकी प्रामाणिकता वैयक्तिक न होकर सार्वभौमिक है । इसीलिए कान्ट कहते भी हैं कि हमारी बुद्धि ही हमारी कृत-बुद्धि है जो मानव को एक सार्वभौमिक नियम प्रदान करती है, यही हमारी नैतिकता^४ है ।

१. डेविड ह्याडट कै, हमीमुवल कान्ट, दि क्रिटिकल वाक प्रैक्टिकल रीज़न, पृ० २४५

२. वही, पृ० २४५

३. वही

४. " Pure reason is practical of itself alone, and it gives (to man) a universal law, which we call the moral law . "

यदि वस्तुतः ऐसा ही है तो इस प्रकार की प्रागनुमयी पूर्वकल्पना में इस प्रकार का व्याघात कदापि नहीं प्राप्त होगा, जिसके कारण नैतिक धारणा का विषय वस्तुगत न उठसक सों कर मात्र वैयक्तिक सत्ता का धोतक सों ।

व्यावहारिक बुद्ध बुद्धि सीमांसा में कान्ट स्पष्ट करते हैं कि निःश्रेयस ही हमारा नैतिक वावर्त है, जिसमें समुत्तम तथा सानन्दता दोनों ही समाहित हैं । यही हमारी नैतिकता है तथा इसके लिए हमें संकल्प-स्वातंत्र्य, अमरता तथा ईश्वर की धारणा का पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है, अन्यथा नैतिकता में सर्वोच्च श्रेयस का कोई अर्थ ही नहीं होगा । इस प्रकार कान्ट कृत्य-बुद्धि-सीमांसा में द्वन्द्वन्याय द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि सर्वोच्च श्रेयस की प्राप्ति ही हमारा नैतिक प्रयत्न है जो उपरीक्त तीन पूर्वमान्यताओं पर ही आधारित है और वह इस कृत्य-बुद्धि अथवा नैतिकता के क्षेत्र में अज्ञा की स्थान देते हैं ।

--

१. शैथिस ह्याडल के, हमें बुद्धि कान्ट, " क्तिक् वाक् प्रैक्टिकल रीजन, पृ० ४६ तथा, जॉन वाडसन, दि फिलोसफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० ४६

"The form in which we obtain assurance of the existence of these objects Kant calls faith (Glaube), in the technical sense of rational belief."

अथर्वसूक्तम्

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

कान्ट के दर्शन में इन्द्रन्याय : निष्पत्ति मोमांसा

=====

कान्ट के सम्पूर्ण दर्शन-व्यवस्था का अध्ययन करो तो यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान, ज्ञान और भावना--जन्मों प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति व. क्रमशः अपनी बुद्धि मोमांसा, व्यावहारिक बुद्धि मोमांसा तथा निष्पत्ति मोमांसा में करते हैं। अपनी व्यावहारिक बुद्धि मोमांसा में कान्ट कहते हैं, "उन दो वस्तुओं के विषयों में मैं जितना अधिक निरन्तर चिन्तन व मनन करता हूँ वे उतना ही अधिक मेरे मन में एक निश्चय, तबोत होता, मन व विरम्य भर होता है, उनमें ही एक ही चारों ही युक्त जन्म जन्म जन्म जन्म है और दूसरा मेरी जन्मरात्मा में निहित नैतिक नियम।" नैतिक नियम का स्पष्टीकरण वे अपनी द्वितीय मोमांसा में करते हैं तथा सौन्दर्य-बोध एवं स्वातंत्र्य व प्रयोजन बोध को निष्पत्ति मोमांसा में स्पष्ट करते हैं। कान्ट कहते हैं कि हमको हमें केवल कामना ही नहीं होती, जन्म बोध हमें जन्म व प्रयोजन जन्म की विशालता व प्रकृति द्वारा ही होता है।

जुद्ध बुद्धि तथा व्यावहारिक बुद्धि मोमांसा में कान्ट ने इन्द्रन्याय का ज्ञान प्रयोग बताया है, उसे देखने के पश्चात् यह बात होता है कि ज्ञान की जन्म-पक्षी प्राकृतिक जन्म और नैतिक या कर्तव्य-जन्म में इन उपस्थित कर देता है। उनके अनुसार नैतिक कर्तव्य होने के कारण मुख्य स्वातंत्र्य है, स्वातंत्र्य प्रकृति-बुद्धि से युक्त है, जबकि अपने प्राकृतिक तरीके के कारण वह जन्म नियमों से जन्म होता है। इस प्रकार मैं जन्म जन्म और गन्ध्यात्मिक जन्म में कोई जन्म नही स्थापित करते हैं। किन्तु जन्म जन्म का प्रयोजन नहीं है। जन्म वन्म कर कान्ट कहते हैं कि इस प्राकृतिक जन्म में जन्म या नैतिक नियम ही नहीं दृष्टिगत होते बल्कि सौन्दर्य, विशालता एवं उदात्ता भी दृष्टिगत होती है और ऐसा मान्य

१. जैक्स एवाइट कैट, एमैजुअल कान्ट क्रिटिक् बौद्ध प्रकृतिक जन्म, पृष्ठ २५८

२. वही।

३. वीसाके, एड डिस्ट्री बौद्ध एन्साइक्लो, पृष्ठ २६०

होता है कि सौन्दर्य, मान या भिन्न शक्तियाँ की उत्पत्ति नहीं है, हमारी सौन्दर्यानुभूति सप्रयोजनता का अनुभव भी करती है। इनके अनुसार सौन्दर्य की अनुभूति में प्राकृतिक ज्ञात की या भिन्नता तथा नैतिक ज्ञात की स्वतंत्रता दोनों का ही सामंजस्य एवं सम्मिलन होता है। कान्ट का कहना है कि सुन्दर की अनुभूति में या भिन्नता और स्वतंत्रता का धारण अपनी तीव्रता का परित्याग कर देते हैं और फलस्वरूप दोनों में सामंजस्य हो जाता है^१। इस प्रकार कान्ट अपनी निर्णय मीमांसा में भावबोध अर्थात् सौन्दर्यानुभूति तथा सप्रयोजनता का ही विवेचन करते हैं और इनके अनुसार भाव-बोध के आधार तत्त्व भी प्रागनुभवी है परन्तु वे इच्छा के प्रागनुभवी तत्त्वों की भाँति केवल मियामक हैं, रचनात्मक नहीं।

कान्ट कहते हैं कि सौन्दर्योपरक, हवि-सम्बन्धी निर्णयों की वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ धारणाएँ ही निर्णय-सम्बन्धी विप्रतिषेध उत्पन्न कर देते हैं, जिसे सौन्दर्योपरक निर्णय के द्वन्द्वन्याय के नाम से उद्धृत किया जा सकता है^२। जब गौरव ज्ञात पर निर्धारित एवं विन्वयात्मक ये दो निर्णय भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्णय देते हैं और जब निर्धारित निर्णय-सम्बन्धी धिदान्ता की भाँति अनुविन्वयात्मक निर्णय के धिदान्ता को भी रचनात्मक मान लिया जाता है तब भी आवश्यक रूप से एक द्वन्द्वन्यायात्मक विप्रतिषेध उत्पन्न हो जाता है, इसे कान्ट प्रयोजनमूलक निर्णय का द्वन्द्वन्याय कहते हैं^३। अतः निर्णय मीमांसा में का द्वन्द्वन्याय को दो विभागों में विभाजित है और उसका समाधान करते हैं, जिनका एक उल्ल-उल्ल विवेचन करेंगे :-

१. वर्डमान, कोसकें, दि विस्दी ऑफ़ फ़िलासॉफी, भाग २ पृष्ठ ४१४

२. इड एच० एल्डवूड कैथरिन, ए कम्प्रीहेंसिव ऑफ़ कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ जर्मेन्ट, पृष्ठ २८८

३. जेम्स क्रीड मैरेथिय, कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ जर्मेन्ट, पार्ट-२, पृष्ठ ३६

(१) सौन्दर्यपरक निर्णय का द्रव्यन्याय

(२) प्रयोजनमूलक निर्णय का द्रव्यन्याय

(१)

सौन्दर्यपरक निर्णय का द्रव्यन्याय

=====

एक द्रव्यन्यायात्मेक विरोध के लिए किसी भी वस्तु से सम्बन्धित दो ऐसे तर्काक्षरों का होना अनिवार्य होता है जो प्रतीयमानतः या वस्तुतः, एक दूसरे के व्याघाती हों और साथ ही दोनों तर्काक्षर समान रूप से एक निरपेक्ष सार्वभौमिक अनिवार्यता तथा प्रामाणिकता का दावा करते हों। द्रव्यन्याय को उत्पन्न करने वाला निर्णय बुद्धिसंगत व तर्कसंगत होता है और यह आत्मनिष्ठ नहीं होता बल्कि वस्तुनिष्ठ एवं सर्वव्यापी होता है क्योंकि इसी स्थिति में यह प्रत्येक निर्णय विषय के लिए सार्वभौमिकता का दावा करता है और अंततः तर्क वाक्यों से युक्त होकर द्रव्यन्याय को प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार निर्णय शक्ति के द्रव्यन्यायात्मेक निर्णयों को एक प्राग्वहिक सार्वभौमिक प्रामाणिकता की अपेक्षा होती है।

उपरोक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यदि सौन्दर्यपरक रुचि के निर्णय आत्मनिष्ठ हैं और वे सार्वभौमिकता का दावा नहीं करते तो वे परस्पर विरोधी तर्काक्षरों से युक्त न होंगे और फलस्वरूप वे किसी भी द्रव्यन्याय को उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। कांट कहते हैं कि हमारे बीच के झूझ व अझूझ अर्थात् सौन्दर्यपरक निर्णयों की पारस्परिक विरोधता में किसी भी प्रकार का द्रव्यन्यायात्मेक तत्त्व नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति एक विवेकसंगत सौन्दर्य-द्रव्यन्यायी निर्णय में अपनी व्यक्तिगत रुचि को व्यक्त करता है, उसके दो

१. " ...there is nothing dialectical in the irreconcilability of aesthetic judgements of sense (upon the agreeable and disagreeable), "

— क्रेडल कीट वीरियस, कांटस किरीक ऑफ जजमेंट, पृष्ठ ३०५ ।

निर्णय किसी वस्तु से सम्बन्धित नहीं होते वरन् 'व्यक्ति' की आत्मनिष्ठ अनुभूतियाँ से सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार विभिन्न 'व्यक्तियों' की आत्मनिष्ठ अनुभूतियाँ विभिन्न धराधी व असंगत निर्णयों को उत्पन्न करती हैं किन्तु फिर भी उनके निर्णयों की असंगतता किसी प्रकार के दम्बन्याय को उत्पन्न नहीं करती क्योंकि उन्हें एक सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत नहीं प्रस्तावित किया जाता है।

एक विषयी द्वारा अनुभूत सुख और दुःख अनुभूतियाँ से सम्बन्धित निर्णयों की सौन्दर्यपरक निर्णय होते हैं। हमारी सुख व दुःख भावनाओं में जो कुछ भी विषयी के प्रति प्रस्तुत होता है, वह आनुभविक होता है इसलिए वह प्रति-रूपण सौन्दर्यपरक निर्णय होता है। सौन्दर्यात्मिक निर्णयों की भीमांसा में कान्ट अभिरूचि तथा सौन्दर्य के बोध को स्पष्ट करते हैं क्योंकि 'व्यक्ति' की सौन्दर्यात्मिक अनुभूतियाँ व्यक्तिगत रूचि पर निर्भर रहती हैं। कान्ट का कथन है कि सौन्दर्यपरक अनुभूति के चित्रण में जिस वस्तु पर निर्णय दिया जाता है और जो सुख भाव का आधार होती है उसे सौन्दर्ययुक्त कहा जाता है तथा सुख के भाव द्वारा हमारी निर्णय देने की जो शक्ति है वही अभिरूचि कहलाती है। हम जानते हैं कि किसी भी निर्णय की आत्मनिष्ठता का तात्पर्य किसी बात की प्रामाणिकता का व्यक्तिगत रूप से वादा करना है और वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य किसी बात की सार्वभौमिक प्रामाणिकता का वादा करना है।

-
१. "In the case of an object whose form..., in the mere reflection upon it (without reference to any concept to be obtained of it), is judged as the ground of a pleasure in the representation of such an object, this pleasure is judged as bound up with the representation necessarily ... for every judging being in general. The object is then called beautiful, and the faculty of judging by means of such a pleasure... is called taste."

--पी०डी० रिचर्ड्स और हेन्रि एफ० मावर्स, 'वि हेरिटेज ऑफ़ कान्ट',
पृष्ठ- १४४

निर्णय-सम्बन्धी इस प्रकार के दो पक्षों का ध्यान में रखते हुए रुचि के निर्णय की सीमांसा करने पर हमें ज्ञात होता है कि रुचि के प्रत्येक निर्णय भी उपरोक्त वर्णित दोनों तत्त्वों से युक्त होते हैं। परिणामस्वरूप हम इन 'रुचि-सम्बन्धी निर्णयों' के विषय में ये दो धारणाएं प्राप्त करते हैं--(१) 'रुचि' के निर्णय विबुद्ध रूप से वात्सल्यमिष्ट होते हैं और (२) ये निर्णय विबुद्ध रूप से वस्तुमिष्ट हैं। ये दोनों धारणाएं परस्पर विरोधी सिद्धान्तों पर आधारित हैं तथा एक दूसरे की व्याघाती हैं। यहां स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि इस प्रकार के विरोध की प्रतीति सामान्य रूप से 'रुचि' के निर्णयों की सम्भाव्यता के अधिष्ठान के प्रश्न को उपस्थित कर देती है और इनकी सम्भाव्यता को ही संशयपूर्ण बना देती है। अतः हम यही कह सकते हैं कि किसी भी सांकेतिक प्रामाणिकता या वस्तुगत सिद्धान्त के प्रति व्यक्ति का दावा ही द्वन्द्वध्याय में 'रुचि' के निर्णय को समाविष्ट करता है। कान्ट कहते हैं कि स्वयं 'रुचि' के द्वन्द्वध्याय के रूप में कुछ भी नहीं है। 'रुचि' के निर्णयों की सम्भाव्यता के अधिष्ठान के विषय में विरोधी धारणाएं स्वयं अपने आपकी प्रस्तुत करती हैं, इसीलिए 'रुचि' सीमांसा का एक द्वन्द्वध्याय उत्पन्न होता है और यह कहा जा सकता है कि 'रुचि' से सम्बन्धित द्वन्द्वध्याय की जो भी धारणा हमारे समक्ष है वह 'रुचि' के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में 'रुचि' की सीमांसा का द्वन्द्वध्याय है। सांख्यिक 'रुचि' के निर्णय

१.११ The only concept left to us of a dialectic affecting taste is one of a dialectic of a critique of taste (not of taste itself) in respect of its principles: for, on the question of the ground of the possibility of judgements of taste in general, mutually conflicting concepts naturally and unavoidably make their appearance."

--जेम्स फ्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जजमेंट, पृ० २०४

दो विरोधी लक्षणों से युक्त होते हैं--प्रथम तो वे मिथ्या रूचि के विषय होते हैं और द्वितीय वे सार्वभौमिकता का दावा करते हैं। इसी विरोध को कान्ट सौन्दर्यपरक मिथ्या का द्वन्द्वन्याय कहते हैं। इस प्रकार रूचि की अतीन्द्रिय भीमांसा एक ऐसी विप्रतिपक्ष को अपने में समाहित करती है जिसे सौन्दर्यपरक मिथ्या का द्वन्द्वन्याय कहा जा सकता है।

हम देखते हैं कि इस प्रकार रूचि-सम्बन्धी अनिवार्य एवं अपरिहार्य विप्रतिपक्ष उत्पन्न हो जाता है। इसकी अपरिहार्यता एवं अनिवार्यता को दर्शाते हुए यह कहा जा सकता है कि रूचि से सम्बन्धित मिथ्या के विषय में दो सामान्य युक्तियाँ निर्मित हो सकती हैं :-- एक तो यह कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत रूचि होती है अर्थात् रूचि-सम्बन्धी मिथ्या के आधार आत्मनिष्ठ होते हैं। मनुष्य अपनी सुखप्रमद व दुःखप्रद अनुभूतियों के विषय में अपनी व्यक्तिगत रूचि के अनुसार मिथ्या देता है। ये मिथ्या मिन्न-मिन्न होते हुए भी पारस्परिक निन्दा के विषय नहीं बनते। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक व्यक्ति का रूचि-सम्बन्धी मिथ्या इस बात का कोई दावा नहीं करता और न इस विकार की मार्ग हो करता है कि उसे दूसरों की अनिवार्य सहमति प्राप्त हो। अतः प्रथम सामान्योक्ति द्वारा स्पष्ट होता है कि रूचि

१. " Judgements of aesthetic taste seem to have two conflicting features: their being matters of taste and their claim to universalityKant expresses this conflict as an antinomy--the 'antinomy of aesthetic judgement.' "

--एस० कॉपर, कान्ट, पृ० १६४

२. जेम्स डीस मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जज्मेंट, पृ० २०५, तथा
एच० एच० ल्यू० कैपिलर, ए क्लैरीड ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जज्मेंट, पृ० २८८-८९, वॉर
कीड --कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जज्मेंट, पृ० ६२.

सम्बन्धी निर्णय का आधार केवल वास्तवता है। दूसरा सामान्य कथन यह है कि 'रुचि' के विषय में किसी प्रकार के तर्क का स्थान नहीं है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सार्वभौमिक प्रामाणिकता के दावे की स्वीकृति देते हुए तथा 'रुचि-सम्बन्धी' निर्णय में दूसरों की अनिवार्य सखमति का मान्यता देते हुए उस कथन का प्रतिपादन किया गया है। सामान्य अर्थ में यह कहा जा सकता है कि दूसरा कथन पहले कथन का ही परिणाम है क्योंकि प्रत्येक 'व्यक्ति' अपनी 'व्यक्तिगत' 'रुचि' से जुड़ा होता है अतः इसके विषय में तर्क करने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु धारस्तव में दूसरे कथन का अर्थ यह है कि 'रुचि' के निर्णय किस प्रकार के हैं; इस प्रमाणों व तर्कों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इनके विषय में यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि इन निर्णयों का अधिष्ठान वास्तवता नहीं है वरन् वस्तुगत है। ये निश्चित एवं अनिश्चित दोनों प्रकार की धारणाओं पर आधारित हो सकते हैं। कान्ट कहते हैं कि यह भी संभव हो सकता है कि सौन्दर्यपरक 'रुचि-सम्बन्धी' निर्णय प्रत्येक 'व्यक्ति' के सखमति की आकांक्षा करता हो। कथन का तात्पर्य उँ कि किसी वस्तु के सौन्दर्य के प्रति निर्णय देने में 'व्यक्ति' अपनी स्वतंत्र व्यक्तिगत 'रुचि' न रखता हो वरन् उसके लिए उसे प्रत्येक 'व्यक्ति' के सखमति की आवश्यकता हो। अतः 'रुचि-सम्बन्धी' निर्णय के विषय में विवाद उठाया जा सकता है, तर्क नहीं किया जा सकता है।

कान्ट का कथन है कि वास्तव में उपरोक्त दोनों तर्क-कथनों के बीच एक मध्यवर्ती कथन लुप्त है, जो दूसरे तर्क-कथन में अन्तर्निहित है। वह लुप्त कथन इस प्रकार का है-- 'रुचि के विषय में विवाद उठाया जा सकता है।' यह लुप्त

१. "The judgement of taste requires the agreement of every one; and he who describes anything as beautiful claims that every one ought to give his approval to the object in question and also describe it as beautiful."

--बर्गर्ड, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जजमेंट, पृ० ६२

२. एच० जेम्स ब्रीड मैरेलिय, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जजमेंट, पृ० २०५

कथन स्पष्ट रूप से पहले कथन का विरोध करता है जिसमें तृचि को विशुद्ध रूप से वात्स्यायन सम्मता गया है। यहाँ यह उल्लिखित होता है कि कान्त तर्क और विवाद में भेद करते हैं तथा वे कहते हैं कि तर्क और विवाद वहीँ तक समान हैं जहाँ तक उन दोनों में निर्णयों के विरोध को समाप्त करके हम सहमति उत्पन्न करना चाहते हैं, किन्तु भेद यह है कि तर्क करने में हम प्रमाणों की भाँति निश्चिन्त धारणाओं के अनुसार सहमति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और ऐसा करने में हम यह स्वीकार कर लेते हैं निर्णय वस्तुगत धारणाओं पर आधारित है। यहाँ यह सिद्ध होता है कि तृचि के निर्णय केवल व्यक्तिगत प्रामाणिकता की अपेक्षा नहीं करते। दूसरों के द्वारा इसका विरोध भी हो सकता है इसलिए ये निर्णय वस्तुगत व सार्वभौमिक प्रामाणिकता से भी युक्त हो सकते हैं और फलस्वरूप निम्न प्रकार के तृचि-सम्बन्धी विप्रतिपक्ष उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे कान्त 'हान्दयपरक्' निर्णय का 'द्वन्द्वन्याय' कहते हैं :-

पक्ष -- तृचि के निर्णय धारणाओं पर आधारित नहीं होते क्योंकि आधारित होने पर इनके विषय में तर्क करना संभव होता अर्थात् इसके सत्यता को प्रमाणों द्वारा निर्धारित किया जा सकता। अन्य तर्कों में कहा जा सकता है कि धारणाओं पर आधारित होने से ये निर्णय विरोध का विवर्जन करते और फलतः प्रमाणों को स्वीकार करते।

प्रतिपक्ष -- तृचि के निर्णय धारणाओं पर आधारित होते हैं अन्यथा तृचि के निर्णयों की विभिन्नता के बावजूद भी इनके विषय में विवाद करना संभव न होता अर्थात् इस बात का दावा करना भी सम्भव न होता कि इस प्रकार के निर्णयों में अन्य व्यक्तिगतों की अनिवार्य सहमति होती।

१. एव० डब्लू० कैथरर, ए कर्मदा ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्जेंट, पृ० २८६

२. जेम्स क्रिश्च मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्जेंट, पृ० २०६

३. एव० डब्लू० कैथरर, ए कर्मदा ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्जेंट, पृ० २६०

रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का समुचित समाधान

रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध के पक्ष और प्रतिपक्ष का निरीक्षण करने से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि रुचि-सम्बन्धी निर्णयों में वस्तु विषय का उल्लेख किन्हीं धारणा या संप्रत्यय के लिए किया जाता है, उसे सौन्दर्यपरक निर्णय के दो सिद्धान्त वाक्यों में दो विभिन्न अर्थों में अपनाया गया है। कान्ट के अनुसार हमारी अतीन्द्रियात्मेक लक्षित निर्णय शक्ति के लिए ये दो अर्थ अनिवार्य भी हैं किन्तु यहाँ द्वैतवादी की एक घुसरी से संप्रतिष्ठित होकर एक स्वाभाविक तथा अपरिहार्य मूल उत्पन्न कर देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार एक निर्णय को घुसरी के साथ पिछा कर मृत्ति कर देने से जो मूल उत्पन्न होता है वह अविरोध रूप से प्राकृतिक है। कान्ट का कथन है कि जब तक सौन्दर्यपरक निर्णयों से सम्बन्धित दो सिद्धान्त वाक्यों की द्वैतवादी की सम नहीं सम्पर्क तब तक हम उन सिद्धान्तों के बीच के विरोध का समाधान नहीं कर सकते, जो सिद्धान्त प्रत्येक रुचि-सम्बन्धी निर्णय के मूल में निहित हैं।

सौन्दर्यपरक निर्णय के द्वैतवादी के उत्पन्न रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का पक्ष यह व्यक्त करता है कि रुचि के निर्णय आत्मगत हैं यानी इसके निर्णय किसी धारणा पर आधारित नहीं हैं और प्रतिपक्ष यह व्यक्त करता है कि रुचि के निर्णय वस्तुगत हैं यानी इसके निर्णय निश्चित धारणाओं पर आधारित होते हैं। इस स्थिति में यहाँ यह प्रश्न उठता है कि--क्या वस्तुतः रुचि के निर्णय किसी भी धारणा का निर्देश नहीं करते हैं या किसी निश्चित धारणा का निर्देश करते हैं? उत्तरस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि यदि रुचि के निर्णय को वैध घोषित होना है और अपने सार्वभौमिक प्रामाणिकता के दावे को उभार प्रदान करना है तो इसे अवश्य ही किसी धारणा का उल्लेख करना चाहिए। अतीन्द्रिय सिद्धान्तों के अनुसार हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि रुचि-सम्बन्धी निर्णय किसी विशेष प्रकार की धारणा का उल्लेख करते हैं क्योंकि यदि ऐसा न होता तो यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए किसी प्रकार की अनिवार्य प्रामाणिकता का दावा नहीं कर सकते थे, यद्यपि ये धारणाएं आत्यन्तिक रूप से बुद्धि की धारणाओं से पृथक् हैं।

१

किन्तु इसका अविप्राय यह नहीं है कि एक दृढदृढ धारणा द्वारा ही इन रुचि-सम्बन्धी निर्धारों को प्रामाणिकता प्राप्त हो सकती है। हमारे समक्ष वही प्रकार की धारणाएं प्रस्तुत हो सकती हैं -- (१) निर्धारित एवं निर्धार्य धारणाएं, ये बुद्धि की धारणाएं हैं। ये हमें ज्ञान प्रदान करती हैं। इन धारणाओं का कार्य ही प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्धारित करना है और उन्हीं प्रत्यक्षों द्वारा निर्धारित होना है। कान्ट कहते हैं कि ये धारणाएं इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षों के विषयों द्वारा निर्धारित होने की सामर्थ्य रखती हैं और प्रत्यक्ष भी इन धारणाओं के अनुरूप होने में समर्थ हैं। सभी आनुमयिक तथा प्रागनुमयी धारणाएं निर्धारित एवं निर्धार्य धारणाएं होती हैं। (२) अनिर्धारित एवं अनिर्धार्य धारणाएं, ये प्रज्ञा की अतीन्द्रिय धारणाएं हैं। इन्हें आगे की अतीन्द्रिय सर्वबुद्धिपरक धारणाएं कहते हैं। ये सम्पूर्ण गौचर प्रत्यक्षों के आधार पर स्थित होती हैं इसलिए ये सैदान्तिक रूप से निर्धारित नहीं हो सकतीं। सर्वबुद्धि-मीमांसा में भी स्पष्ट होता है कि मानव मस्तिष्क बुद्धिकोटियाँ से भिन्न इस प्रकार की धारणाओं का सृजन करता है जिन्हें 'प्रत्यक्ष' कहा गया है। ये प्रत्यक्ष हमारी सर्वबुद्धि प्रज्ञा की अनिर्धार्य उत्पत्ति हैं। चूंकि सर्वबुद्धि प्रज्ञा अपने सत्य स्वभाव से ही अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों की धारणाओं को निर्मित करती है इसलिए ये प्रत्यक्ष हमें ज्ञान नहीं प्रदान कर सकते।

१. एच० डब्ल्यू० कैसरर, ए कर्पेट्री ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्मेन, पृ० २१२, तथा जैम्स फ्रीड मैरेल्लि, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्मेन, पृ० २०६-७

२. वही पृ० २०७

३. एन० ई० स्मिथ, इमेजल कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ३०६

४. एच० डब्ल्यू० कैसरर, कर्पेट्री ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्मेन, पृ० २६२

अब हमें यह विचार करना है कि 'रुचि' से सम्बन्धित मिणय जिस धारणा के लिए निर्दिष्ट होती है, वह किस प्रकार की धारणा है और हम उनके विप्रतिपक्ष का समाधान करने के लिए किस धारणा को मान्यता दे सकते हैं ?

हम जानते हैं कि हमारी बुद्धि सबसे अपनी मानात्मक सीमा से आगे नहीं जा सकती है, इसलिए यह हमें परमार्थ व वस्तु-स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकती । यदि यह वस्तु-स्वलक्षणों का निरपेक्ष ज्ञान प्रदान करती तो यह वस्तुओं के दृष्ट यथार्थ स्वरूप से अवगत होकर उनका यथार्थ स्वरूप निश्चित निरूपण प्रस्तुत करती और तब हमें एक ऐसा मिणय न प्राप्त होता जो अनिर्धारित व अनिर्धार्य धारणा का उल्लेख करता है । क्योंकि अतीन्द्रिय अनिर्धारित अधिष्ठान के रूप में किसी भी वस्तु का अभाव होने से हमारी सभी मिणय निर्धारित एवं दृढनिश्चित धारणाओं पर आधारित होती । अतः हमारे ज्ञान की सीमा निर्धारित है, हम वस्तु-स्वलक्षणों को नहीं जान सकते हैं । यही कारण है कि हम आत्मनिष्ठ मिणय बनाते हैं और अपने वस्तु-विषयों के निरूपण को अतीन्द्रिय तत्त्व की अनिर्धार्य तथा अनिर्धारित धारणा पर आधारित करते हैं । कान्ट के अनुसार 'रुचि' के मिणयों की प्रकृति को अतीन्द्रियात्मकता सिद्धान्त के द्वारा ही अभिव्यक्त किया जा सकता है । 'रुचि' मस्तिष्क की एक विशेष शक्ति का स्वरूप है, जो धारणाओं से स्वतंत्र विभिन्न तत्त्वों से युक्त होती है किन्तु यह अतीन्द्रिय तत्त्व की अनिश्चित धारणा का उल्लेख भी करती है । 'रुचि' विषयक मिणय हृन्दिगम्य वस्तु-विषयों पर प्रयुक्त होती है, किन्तु बुद्धि के लिए वस्तुविषयों की एकदृष्ट धारणा का निश्चय करना हमका लक्ष्य नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत 'रुचि' होती है । एक वस्तु किसी व्यक्ति के लिए सौख्यप्रद हो सकती है, हमें का कारण हो सकती है, किन्तु दूसरे के लिए नहीं भी हो सकती अतः 'रुचि'-विषयक मिणय की क्षमता व्यक्तिगत मिणयत्वों के लिए सीमित होती है । ये मिणय संज्ञानात्मक नहीं होती हैं । 'रुचि'-सम्बन्धी मिणय अनुभूतिक्षम रूप से किसी व्यक्ति की सुज्ञानुभूति से सम्बन्धित होता है, इसलिए एक व्यक्तिगत प्रत्यय के रूप में यह केवल वैयक्तिक

निर्णय है। इसी व्यक्तिगत अर्थ में ही इसकी वैधता भी सीमित होती है। किन्तु हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि 'रुचि-विषयक निर्णय' के अन्तर्गत एक वस्तु-विषय और एक विषयी के सम्बन्ध का प्रत्यय समाहित है और इसी सम्बन्ध पर ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस प्रकार के निर्णयों का एक अनिवार्य विस्तार आधारित होता है। इसे स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि एक 'रुचि-सम्बन्धी निर्णय' में वस्तु-विषय तथा विषयी के सम्बन्ध का निरूपण निहित होना है। इसलिए हम ऐसे निर्णयों को विस्तृत करते हैं और यह विश्वास करते हैं कि एक 'रुचि' का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है तथा यह सब के सम्पत्ति की अपेक्षा करता है। इस प्रकार के सभी निर्णय एक विशेष धारणा को पूर्णतः व्यक्त करते हैं। परन्तु यह विशेष धारणा प्रत्यक्षीकरण द्वारा निर्धारित नहीं होती है इसलिए इसके द्वारा किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है और न ही 'रुचि-विषयक निर्णय' के किसी प्रमाण को ही इस पर आधारित किया जा सकता है। यह धारणा प्रतिगौरव का एक विरुद्ध प्रत्यय है अर्थात् अतीन्द्रिय तत्त्व की विरुद्ध लब्धिद्विपक्ष धारणा है, जो सम्पूर्ण इन्द्रिय-संवेग गौरवगम्य वस्तुओं तथा निर्णायक विषयी के आधार पर स्थित होती है। इसी दृष्टिकोण द्वारा 'रुचि' के निर्णय-सम्बन्धी सार्वभौमिक प्रामाणिकता के दावे का प्रतिपादन भी संभव होता है।

हम जानते हैं कि हमारी सान्न्ध्यानुभूति की वृत्ति प्रकृति में अज्ञात भाव से सम्प्राप्यता का अनुभव करती है। सान्न्ध्यमूलक निर्णय अनुचिन्तनात्मक होती है, और हमारी यह अनुचिन्तनात्मक शक्ति ही हमें वह सामर्थ्य प्रदान करती है, जिसके द्वारा हम प्रकृति के प्रत्यय को समझते हैं। इतना ही नहीं, ये निर्णय स्वयं

१. जेम्स क्रीड मैरेडिस, कान्दस किटीक् बोफ़ जर्नेस्ट, पृष्ठ २००, तथा
जॉन वाटसन, दि फ़िज़ासफ़ी बोफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृष्ठ ५०६

अपने आपको हमारी आवश्यकताओं के अनुसार बनाते हैं। कान्ट का कथना है कि प्रकृति के एक आत्मनिष्ठ सप्रयोजनता का सिद्धान्त ही हमारे रुचि-सम्बन्धी निर्णयों का मूलधार है। यह आत्मनिष्ठ सप्रयोजनता का सिद्धान्त अतीन्द्रिय सिद्धान्त है क्योंकि यह प्रकृति और इसके याञ्छित नियमों से सम्बन्धित है। हमारी बुद्धि इस तथ्य की व्याख्या करने में असमर्थ है कि प्रकृति में सुन्दर वस्तुएं क्यों हैं। किसी वस्तु की सुन्दरता का निर्णय करने में भी हम अपनी बुद्धि से परे चले जाते हैं और उसमें हम उन गुणों को भी आरोपित कर देते हैं जिन्हें हमारी बुद्धि नहीं जान सकती है। इस प्रकार सौन्दर्यमूलक निर्णयों की प्रस्तुत करने में हम वस्तु-विषय से सम्बन्धित अपने विरूपण को विस्तृत करने का प्रयास करते हैं और अपने इस प्रयत्न में हमें प्रकृति के एक अतीन्द्रिय सिद्धान्त का उल्लेख करना पड़ता है।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि विशाल गतिशील प्रकृति का अवलोकन करते हुए हम मानव मस्तिष्क अपने ही अन्तर प्रकृति का अतिक्रमण करने की क्षमता से युक्त हो जाता है और सौन्दर्यपरक अनुबिम्बात्मक निर्णय प्रस्तुत करने में अतीन्द्रिय वस्तुओं की अनिवारित एवं अनिवार्य धारणा का विवरण देता है। हमारे रुचि-सम्बन्धी निर्णय तानात्मक नहीं हैं बल्कि आत्मगत हैं। यह ऐसा निर्णय है जो वस्तु-विषय के प्रत्यक्ष-आत्मक विरूपण पर प्रयुक्त होता है परन्तु यह अपने में इस तथ्य को समाहित करता है कि प्रत्येक मनुष्य सौन्दर्यपरक अनुचिन्तन के सिद्धान्त का प्रयोग कर सकता है और उसका प्रयोग उसे करना चाहिये। इसलिए अतीन्द्रिय तत्त्व की अनिवारित धारणा के लिए इसका उल्लेख लिया जाता है। परन्तु रुचि के निर्णय अनावर की धारणा को अनिवारित नहीं कर सकते हैं।

हमारे विवरण से स्पष्ट होता है कि इस-कथन-के सम्पूर्ण-रुचि-विषयक निर्णय एक धारणा पर आधारित हैं। यह अपेक्षित धारणा हमारी निर्णय-शक्ति के लिए प्रकृति की आत्मगत सप्रयोजनता व अनुसूता के

सामान्य अधिष्ठान की धारणा^१ है। परन्तु हमें यह नहीं विस्मृत करना चाहिए कि यह एक अनिर्धार्य धारणा है इसलिए ज्ञान के लिए यह निरर्थक है। इसके द्वारा पद-विषय से सम्बन्धित किसी प्रकार का ज्ञान न तो प्राप्त हो सکتा है और न तो सिद्ध हो सکتा है। रुचि के निर्णयों को निर्धारित करने वाला अधिष्ठान मानवता के अतीन्द्रिय आवार की धारणा में स्थित होता है इसलिए रुचि का निर्णय एक ही समय में प्रत्येक व्यक्ति के लिए वैय होता है और एक विशिष्ट निर्णय के रूप में होवे-सोवे प्रत्यक्षीकरण के साथ कार्यरत होता है। रुचि के निर्णय को एक अनिर्धारित अतीन्द्रिय धारणा पर आधारित करने से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि-- रुचि-सम्बन्धी या व्यापारी तर्कधन एक दूसरे से संगति रखते हैं। उनमें कोई विरोध नहीं रह जाता और इस प्रकार उनका व्यापक समाप्त हो जाता है, यद्यपि ऐसा करने में हम अपने ज्ञान की सीमा से परे जाना पड़ता है। शब्द कहते हैं कि दोनों तर्कवाक्यों की धारणाओं की संभाव्यता की व्याख्या करने में हम अपनी ज्ञान-शक्ति का अधिकृष्ट कर जाते हैं।

शुद्ध बुद्धि भाषाशा में ही हम इस तथ्य से अवगत हो चुके हैं कि--अनुपा-संमत मूल धारणा तर्क बुद्धि प्रज्ञा की ही उपज है, इसलिए मानव-बुद्धि के लिए विप्रतिषेध अपरिहार्य एवं स्वाभाविक है। इस वास्तविक अनिवार्य विप्रतिषेध का समाधान करने के लिए हमारे पास एकमात्र उपाय यही है कि हम अतीन्द्रिय दर्शन के मौलिक अतीन्द्रिय सिद्धान्तों का प्रयोग करें। हमारे अतीन्द्रिय-रुचि-सम्बन्धी निर्णय शुद्ध बुद्धि की धारणा नहीं हैं, अतीन्द्रिय की अनुप्राप्ति में प्रकृति ज्ञात की यादृच्छिकता तथा वैयक्तिक कर्तव्य-ज्ञान की स्वतंत्रता का सामंजस्य एवं सम्मिलन होता है। अतः इसकी धारणा अतीन्द्रिय है जिसका मात्र मानव तर्क बुद्धि के लिए तर्क्य है, ज्ञान्य है। यह अतीन्द्रिय क्षेत्र एक और तो गौहर के रूप में ग्राह्य यादृच्छिक प्रकृति के अतीन्द्रिय अधिष्ठान को अपने में समाविष्ट करता है तथा

१, वैम्स क्रीड मैरिडिय, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्जेट, पृ० २०७

२, वही, पृ० २०८

३, एन०० रिमथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० ३०० तथा ३२७

दूसरी और कर्तव्य-ज्ञात की स्वतन्त्रता के रूप में ग्राह्य मानवता के अतीन्द्रिय
व्यवस्थापन को । अतः रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध के समाधान के लिए हम यह
स्वीकार करते हैं कि रुचि के निष्पत्ति एक ऐसी चारणा पर आधारित है जिसका
व्यवस्थापन अतीन्द्रिय है और समाधान स्वरूप रुचि-विषयक विप्रतिषेध के
पक्ष और प्रतिपक्ष हमें निम्न प्रकार से संशोधित रूप में प्राप्त होते हैं :-

पक्ष -- रुचि-विषयक निष्पत्ति एक निर्धारित चारणा पर नहीं आधारित
होती ।

प्रतिपक्ष -- रुचि-विषयक निष्पत्ति एक अनिर्धारित चारणा पर आधारित
होती है । कर्तव्य का अभिप्राय यह है कि ये गौचर के अतीन्द्रिय व्यवस्थापन की
चारणा पर आधारित होते हैं ।

इस पक्ष-प्रतिपक्ष के दो तर्कधर्मों के बीच किसी प्रकार का विरोध
नहीं रह जाता है । जब पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि रुचि के जात्मगत
सिद्धान्त द्वारा ही हम निष्पत्ति-शक्ति के उस रहस्य को जान सकते हैं जिसका
ज्ञात हमारे अन्तर्गत अतीन्द्रिय तत्त्व के अनिर्धारित प्रत्यक्ष हैं । यदि यह कहा
जाय कि एक व्यक्ति विशिष्ट निष्पत्ति को पूर्वमान्यता देते हुए रुचि का
निष्पत्ति मूल पर आधारित होता है जन्मा सार्कर्मिक प्रामाणिकता का दावा
करते हुए यह निष्पत्ति पूर्णता के सिद्धान्त पर आधारित होता है तो एक ऐसा
विप्रतिषेध उत्पन्न हो जाता है जिसका पूर्ण रूप से समाधान नहीं हो सकता
है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रुचि के निष्पत्ति को चाहे
विशुद्ध जात्मगत रूप में समझा जाय, चाहे विशुद्ध वस्तुगत रूप में, इसका परिणाम
एक ऐसी विप्रतिषेध के रूप में ही प्राप्त होता है जिसका समाधान असम्भव हो
जाता है । अतः कुछ दृष्टितया व्यावहारिक दृष्टि मीमांसा की भाँति इस प्रश्न
में भी रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध हमें इन्द्रियगौचर ज्ञात से परे दृष्टिपात करने
के लिए बाध्य कर देते हैं तथा इसी अतीन्द्रिय ज्ञात में हमारी समस्त प्रागुत्पत्ती

शक्तियों की एकता के विषय की जाँच करने के लिए भी हमें वाध्य कर देते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई साधन व उपाय नहीं है जिसके द्वारा तर्कबुद्धि प्रज्ञा का स्वयं अपने साथ ही सामंजस्य हो सके। अतः सौन्दर्य-मूलक दम्भन्याय में रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का समाधान भी क्तीन्त्रिय वरीन के मूलगत सिद्धान्तों का प्रयोग करके ही सम्भव हो सकता है और हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि रुचि के निणय एक अनिवारित धारणा पर आधारित होते हैं, जो गाँवर के क्तीन्त्रिय वशिष्ठान की धारणा है। कान्ट का कथन है कि रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का प्रवेशन एवं समाधान केवल अनुचिततात्मक सौन्दर्यपरक निणय के एक सिद्धान्त के रूप में रुचि की एक धारणा पर जाति है।

सौन्दर्यमूलक निणय के दम्भन्याय की विस्तृत एवं समुचित विवेचना करते हुए कान्ट इसकी समीक्षा भी करते हैं। यहाँ उनके तत्सम्बन्धी समीक्षा-त्मक विचार को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा।

कान्ट के अनुसार क्तीन्त्रिय वरीन के मौलिक सिद्धान्तों का प्रयोग करके ही हम रुचि-सम्बन्धी विप्रतिषेध का समाधान कर सकते हैं। इस क्तीन्त्रिय वरीन में ही हम प्रज्ञा के प्रत्यय की बुद्धि की धारणाओं से कलन करते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कुछ बुद्धि प्रज्ञा के प्रत्यय तथा बुद्धि की धारणाओं में क्या भेद है, क्या हमसे सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या द्वारा हमकी विभिन्नता को समझा जा सकता है? परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि इस प्रश्न में हमारा प्रमुख विषय पारिभाषिक शब्दों का विवेचन नहीं है।

कान्ट के वरीन में बुद्धि कोटियाँ बुद्धि की धारणाएं हैं, जो नियमों से कल्पना का सम्बन्ध प्रस्तुत करती हैं। बुद्धि-कोटियाँ का उचित कार्य प्रत्यक्षाँ को संश्लेषित करने के प्रयत्न में कल्पना को एक संश्लेषणात्मक एकता का नियम प्रदान करना है।

1. "Kant declares that his "Exhibition" and solution of the antinomy rests upon the proper concept of taste as a (principle of) merely reflective aesthetic judgement."

--सं०८७०० केंदरर, र कर्मद्री वोन कान्टस क्रिटिक् जॉफ़ कर्नेट, पृष्ठ २६६।

२. सं०८७०० स्पिस, कान्टस क्रिटिक् जॉफ़ प्योर रीजन, पृ० ११२

बुद्धि की धारणा एक ऐसे अनुभव पर आधारित की जा सकती है जो पर्याप्त रूप से इसके अनुरूप होता है, इसीलिए हमें अन्तर्दृष्टि धारणा भी कहते हैं। यही वे साँचे हैं जिनमें ढल कर, वैश काल के द्वार से जाये हुए संवेदन ज्ञान का रूप धारण करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये धारणाएं अनुभवजन्य ज्ञान की अनिवार्य शर्त हैं; अनुभव की संवेदनजन्य सामग्री हमें इसी से अनुरूपित होती है। अतः कहा जा सकता है कि बुद्धि की धारणाएं ही सम्पूर्ण प्राग्वृत्तवी संश्लेषणात्मक निष्कर्षों की अनिवार्य शर्त हैं; इनके अभाव में किसी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं हो सकता है। ये अपने समन्वय करने की शक्ति के द्वारा असम्बद्ध तथा अव्यवस्थित हस्तिय संवेदनों को व्यवस्थित एवं सार्थक रूप प्रदान करती हैं। बुद्धि की सभी धारणाएं प्रमाण्य होती हैं क्योंकि इनसे अनुरूपित वस्तु-विषय प्रत्यक्षानुभव में प्रवेश होने की सामता रखते हैं। वैश काल के अन्तर्गत ही ये भाँवर को निर्धारित करती हैं, किन्तु वास्तविक अर्थ में ये शुन्य हैं, ये विचार के वाकारमात्र हैं; केवल इनके द्वारा किसी निर्धारित वस्तु-विषय का ज्ञान नहीं हो सकता है। ये धारणाएं विभिन्न हस्तिय-संवेदनों को विभूत ज्ञाता की शक्ति द्वारा क्योंकि समाकल्पन की शक्ति द्वारा संश्लेषित एवं सुसम्बद्ध करती हैं। ये वाकृतिक धारणाओं की भाँति कल्पना के संश्लेषण को निर्दिष्ट करती हैं, वाकार-याचना के अभाव में ये किसी वस्तु-विषय को प्रत्यक्षस्थापित नहीं कर सकती। अतः बुद्धि की इन धारणाओं को हस्तिय प्रवेश प्रत्यक्षों या संवेदनों से ही वस्तुगत अर्थ प्राप्त होता है।

१. मरफ़ी और कार्डि, कान्ट्स प्रीप्रिओरिमा टू एनी फ़ूवर मैटाफ़िज़िक्स, पृ० १०

२. जॉन वाटसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लेन्ड, पृ० १६७

३. एन०के०स्मिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्योर रीज़न, पृ० १६४

४. पक्षी, पृ० १८७

वस्तुन्त व्याप्ति अर्थ में प्रत्यक्ष विवेक वात्पगत या वस्तुगत सिद्धान्त के अनुसार वस्तु-विषयों के प्रति निर्विषय प्रतिरूपण है, किन्तु ये तर्क वस्तु-विषयों का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकते हैं। कान्ट का कहना है कि प्रत्यक्ष तर्कबुद्धि प्रज्ञा की अभिवार्य धारणाएं हैं जिसके अनुरूप कोई भी वस्तु-विषयों पर दृष्टिमानुभव में नहीं प्राप्त होती है। ये धारणाएं अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाती हैं तथा अनुभव द्वारा प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञान को प्रतिबन्धों की निरपेक्ष समग्रता के द्वारा निर्धारित रूप में गृहण करती हैं। तर्कबुद्धि की धारणाओं के सम्बन्ध में ये दो विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं—(१) या तो ये एक प्रत्यक्ष के लिए ऐसे वात्पनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार निर्विषय होती हैं जो संज्ञानात्मक शक्तियों अर्थात् कल्पना और बुद्धि का समन्वय करता है। इस अर्थ में ये सौन्दर्यात्मक प्रत्यक्ष कहलाते हैं। (२) अथवा ये वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार एक धारणा के लिए निर्विषय होती हैं। ये बुद्धि की धारणा से भिन्न हैं तथा ये तर्क वस्तु-विषय का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकती हैं। इस अर्थ में तर्क बुद्धि के प्रत्यक्ष विवेकशील प्रत्यक्ष कहलाते हैं, और इनमें सम्मिलित धारणा अतीन्द्रिय धारणा कहलाती हैं। बुद्धि की धारणाओं की भांति ये अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं प्राप्त हो सकते हैं। सौन्दर्यात्मक प्रत्यक्ष कल्पना के प्रतिरूप हैं जिसमें दृष्टिमानुभव प्रत्यक्षों की वृत्त राशि समाहित होती है। किसी कल्पपूर्ण कृति के सौन्दर्य का निर्णय देने में हम इस तथ्य से अवगत होते हैं कि हमारे इस निर्णय में हमारी कल्पना और बुद्धि की शक्तियों का सामंजस्य होता है, किन्तु हम यह नहीं धर्मिष्ठ कर सकते हैं कि यह सामंजस्य किस प्रकार उत्पन्न होता है, क्योंकि हमारे कल्पनात्मक वृत्त प्रत्यक्ष बुद्धि की नियत धारणाओं द्वारा निर्धारित होते हैं। कान्ट के विचारानुसार एक सौन्दर्यमूलक

१. स. ०६० रिम, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्यार रीज़न, पृ० ३१८-३२

२. मधुजी और जर्नर्ड, कान्ट्स प्रीसिपिआमिना टू एनी फ्यूअर मेटाफिजिक्स, पृ० ६१

"All pure cognitions of the understanding have this feature, that their concepts present themselves in experience and their principles can be confirmed by it; whereas the transcendent cognitions of reason can not, either as ideas, appear in experience, or as propositions ever be confirmed or rested by it."

प्रत्यय एक संज्ञान नहीं बन सकता है। यह कल्पना का एक ऐसा प्रत्यय है जिसके लिए कोई भी पर्याप्त धारणा नहीं प्राप्त होती है। इन प्रत्ययों से विवेकशील प्रत्ययों की सापेक्षता दिखाते हुए यह कहा जा सकता है कि-- विवेकशील प्रत्यय एक ऐसी अतीन्द्रिय धारणा से युक्त होता है जिसका हमें कोई पर्याप्त प्रत्यय नहीं प्राप्त हो सकता है, इसलिए सौन्दर्यमूलक प्रत्ययों की भांति इनका भी संज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है। इनकी विनिम्नता को दिखाते हुए यह स्पष्ट होता है कि सौन्दर्यात्मिक प्रत्ययों में निहित हमारी अनुभूतियों को हमारी विचार-शक्ति समुचित रूप से व्यक्त करने में असमर्थ होती है। कल्पना का अर्थ है कि हमारे सौन्दर्यपरक निष्पत्ति जिन अनुभूतियों से युक्त होते हैं, विचार शक्ति उनको उसी रूप में नहीं अभिव्यक्त कर पाती है। कल्पना-शक्ति जो कुछ दर्शाती है हम विचारशील प्रत्यय में उसकी अपेक्षा अधिक विनिम्न कर सकते हैं।

जब हम एक विचारशील प्रत्यय पर विचार करते हैं तब हमारी तर्कबुद्धि प्रज्ञा कल्पना और बुद्धि को एक दूसरे से पृथक् करके हमें एक अतीन्द्रिय ज्ञात पर विचार करने के लिए बाध्य कर देती है। तर्कबुद्धि के अनुभवातीत प्रत्यय अतीन्द्रिय वस्तु-विषयों की निश्चित धारणाएं हैं और तर्कबुद्धि का सिद्धान्त परतुनिष्ठ है तथा अप्रतिबद्ध का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त बुद्धिकोटियों को प्रत्ययों पर प्रयुक्त होने से तथा कल्पना में उनको संश्लेषित होने से मुक्त करता है। ये अनुभवातीत प्रत्यय निश्चित हैं जैसे--आत्मा, ईश्वर तथा विश्वकारण के प्रत्यय। एक अतीन्द्रिय ज्ञात का उक्त सिद्धान्त ही यह स्पष्ट करता है कि हमारी तर्क बुद्धि की धारणा की अपेक्षा कल्पना-शक्ति अधिक विनिम्न करती है, अधिक समझती है, किन्तु वे दोनों शक्तियाँ एक दूसरे के साथ एक संगति एवं सामंजस्य में रहती हैं। इस प्रकार हम इनके सामंजस्य की संभाव्यता का वस्तुगत ज्ञान नहीं

रस सकते हैं। कल्पा-शक्ति और बुद्धि का सम्बन्ध एक अनियत सम्बन्ध है, जिसे ज्ञानिय-ज्ञात और नियत धारणाओं से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि बाधाय नहीं बना सकती है, केवल ज्ञानिय ज्ञात का सिद्धान्त ही इसे व्यक्त कर सकता है। सौन्दर्यात्मक प्रत्यय बुद्धि और कल्पना को एक दूसरे से पृथक् नहीं करते हैं। ज्ञानिय सिद्धान्त इस बात की व्याख्या नहीं कर सकते कि हम सौन्दर्यात्मक बाँध की शक्ति क्यों रखते हैं, जिसमें प्रकृति की यादगिरिता तथा नैतिक स्वातन्त्र्य का सामंजस्य होता है।

सौन्दर्यात्मक प्रत्यय को कल्पना का एक अधिमर्शणीय प्रतिरूप तथा विवेकशील प्रत्यय को तर्कबुद्धि की एक अप्रामाणिक धारणा कहा जा सकता है। प्रथम प्रत्यय आत्मनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न होता है और दूसरा प्रत्यय वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न माना जाता है। ये दोनों प्रकार के प्रत्यय स्वेच्छा से उत्पन्न नहीं होते हैं। मानव, कल्पा-शक्ति, बुद्धि एवं तर्कबुद्धि प्रज्ञा से युक्त होता है इसलिए उसका मस्तिष्क विवेकशील या वस्तुगत तथा सौन्दर्यात्मक यानी आह्लासित प्रत्ययों का स्वाभाविक एवं अपरिहार्य रूप से विचार करता है। तर्कशास्त्र में सिद्ध किये जाने की साम्यता और असाध्यता के अनुसार ही तर्काव्य प्रमाण्य और अप्रमाण्य कहलाते हैं। प्रमाण्य धारणाओं से कान्त उन धारणाओं को समझते हैं जिसका प्रत्यय में उल्लेख किया जा सकता है। सभी विवेकशील धारणाएं अप्रमाण्य होती हैं। गौरव के ज्ञानिय अधिष्ठान की बाँधक धारणाएं जैसे-वस्तु-स्वच्छाण तथा नैतिक स्वातन्त्र्य की धारणाएं सब अप्रमाण्य होती हैं। कान्त का विचार है कि जिस प्रकार विवेकशील प्रत्यय के बारे में कल्पना प्रत्ययों से युक्त होकर भी प्रवच धारणाओं को नहीं प्राप्त कर सकती है उसी प्रकार सौन्दर्यात्मक प्रत्यय के बारे में बुद्धि अपनी धारणाओं के माध्यम से इस अन्तर्प्रत्यय की समझ को नहीं प्राप्त कर सकती जिसे कल्पना एक प्रवच प्रतिरूप से संयुक्त करती है। इसी अर्थ में

सौन्दर्यात्मक तथा विवेकशील दोनों ही प्रत्यक्ष अविवर्तनीय हैं। कान्ट के अनुसार सौन्दर्यपूर्णक तथा विचारशील दोनों प्रकार के प्रत्यक्षों का सिद्धान्त तर्कबुद्धि प्रज्ञा में ही है। सौन्दर्यपरक निष्कर्ष का दम्भन्याय तर्कबुद्धि प्रज्ञा की उत्पत्ति है और यह प्रज्ञा ही निष्कर्ष-शक्ति के सिद्धान्तों पर ही निष्कर्ष देती है, यद्यपि कान्ट के इस तर्क का समझना हमारे लिए कठिन ही जाता है। कान्ट सौन्दर्यात्मक प्रत्यक्षों की एक शक्ति के रूप में प्रतिभा शब्द की व्याख्या करते हैं और इस प्रकार वह स्पष्ट करते हैं कि मानवीय प्रतिभा की उत्पत्ति में विषयों के प्रकृति की ही प्रधानता क्यों रहती है, एक नेत्र उद्देश्य क्यों नहीं रहता जो सौन्दर्यपूर्ण वस्तुओं के उत्पादन के रूप में कला को नियम प्रदान करता है। जो कुछ भी सौन्दर्यपूर्ण छलित कलाओं के प्रतिमानों के रूप में कार्यरत होता है, वह विषयों की सम्पूर्ण शक्तियों का अतीन्द्रिय अधिष्ठान है, किसी बुद्धि को धारणाओं और नियमों से नहीं प्राप्त किया जा सकता है। हमारा प्रमुख उद्देश्य इस अतीन्द्रिय अधिष्ठान के सम्बन्ध में सभी ज्ञानात्मक शक्तियों के पूर्ण सामंजस्य को उत्पन्न करना है। कान्ट के मतानुसार यह उद्देश्य हमें प्रकृति के एक बोधगम्य वंश द्वारा प्रदत्त है। छलित कलाओं में सौन्दर्यात्मक और अप्रतिबद्ध प्रयोगनीयता के लिए अतीन्द्रिय अधिष्ठान एक ऐसी वात्सनिष्ठ भाषादण्ड के रूप में कार्यशील होता है जो प्रत्यक्ष व्यक्तियों को जानन्वित करने का वाधा करता है, जतः कला को एक वस्तुनिष्ठ नहीं बल्कि सार्वभौमिक रूप से एक प्राप्याधिक अनुभव निरपेक्ष वात्सनिष्ठ सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। ऐसा मानते हैं कि कान्ट छलित कलाओं की उत्पत्ति इसी पर विधे निष्कर्षों से हो मानते हैं, इनके अनुसार हमारे सौन्दर्यपरक

१. जेम्स क्रीड मैरिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ जज्मेन्ट, पृ० २१२

२. वही, पृ० २१२-१३

निर्णय स्वतंत्र होते हैं। सम्पूर्ण संज्ञानात्मक शक्तियाँ के सामंजस्य से सम्बन्धित एक तर्कबद्ध विषय को हम सौन्दर्यात्मक प्रत्यक्षों को उत्पन्न करने वाली अतीन्द्रिय शक्ति में ही प्राप्त कर सकते हैं।

कान्ट की सभी शास्त्रात्मक विवेचना से उभरता जात होता है कि वह इस विचार-वृष्टि का प्रतिपादन करते हैं कि प्रागुत्पत्ती सिद्धान्तों पर निर्णय के द्वारा तर्क-बुद्धि प्रज्ञा द्वारा ही सम्पूर्ण वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक बुद्धि के विप्रतिषेधों की उत्पत्ति होती है। इसलिए वह सौन्दर्यमूलक रुचि-सम्बन्धी निर्णय के विप्रतिषेध को भी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा पर आरोपित कर देते हैं। यहाँ यही हमारा विचारणीय विषय बन जाता है। हम पढ़ते ही इस तथ्य से तमगत हो चुके हैं कि कान्ट के अनुसार स्वयं रुचि के द्वान्द्व्याय के रूप में कुछ भी नहीं है, केवल इसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में रुचि-मीमांसा का एक द्वान्द्व्याय है^१। जब हमें रुचि के सिद्धान्तों का एक विप्रतिषेध प्राप्त होता है तभी रुचि की एक अतीन्द्रिय मीमांसा अपने में द्वान्द्व्याय नामक एक अंश को समाहित करती है। यह विप्रतिषेध तभी उत्पन्न होता है जब निष्कर्षरूप या विरोधी तत्त्वार्थों को तर्कबुद्धि प्रस्तुत करती है। प्रश्न यह कि निर्णय के आत्मनिष्ठ पक्ष का विचारालोकन करती है और इसी पर एक निरपेक्ष वैधता का आगोषण करके इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि रुचि के निर्णय किसी प्रागुत्पत्ती सिद्धान्त पर निर्भर नहीं होते हैं, दूसरे निर्णय के वस्तुनिष्ठ पक्ष पर विचार करते हुए इस पर उही निरपेक्ष वैधता को आरोपित करके इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि रुचि के निर्णय एक प्रागुत्पत्ती सिद्धान्त पर निर्भर होते हैं। अतः स्पष्ट है कि सौन्दर्यमूलक निर्णयों के विरोध की ही तर्कबुद्धि प्रज्ञा की ही उत्पत्ति है।

बुद्धि, तर्कबुद्धि-प्रज्ञा तथा निर्णय, हमारी ये तीन प्रकार की संज्ञानात्मक शक्तियाँ ही वैज्ञानिक व व्यावहारिक बुद्धि और निर्णय शक्ति के विप्रतिषेधों

का कारण है। ये सभी शक्तियाँ एक उच्च ज्ञानात्मक शक्ति के रूप में अपना प्रागनुभवी सिद्धान्त रखती हैं और इन सिद्धान्तों पर तथा इनके उपयोगों पर निर्णय देने में तर्कबुद्धि प्रज्ञा उनसे प्रवृत्त प्रतिबन्ध के लिए एक अप्रतिबन्ध की अविरल रूप से मांग करती है। यह मांग वह तब तक करती है जब तक कि वह प्रतिबन्ध का गौरव या बाधास के रूप में स्वीकार करके इसे एक क्रांतिर सहा यानी वस्तु-स्वल्पाणा पर नहीं आश्रित कर देती। अतः कान्ट इन तीन प्रकार के विप्रति-षेधों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं -- (१) ज्ञानात्मक शक्ति के लिए तर्कबुद्धि प्रज्ञा का एक विप्रतिषेध है, जो अप्रतिबन्ध तक विस्तृत बुद्धि के सैद्धान्तिक प्रयोग से सम्बन्धित है। (२) सुख-दुःख की अनुभूतियों के लिए प्रज्ञा का एक विप्रतिषेध, जो निर्णय-शक्ति के सौन्दर्यमूलक प्रयोग से सम्बन्धित है। (३) इच्छा-शक्ति के लिए तर्क-बुद्धि का एक विप्रतिषेध, जो स्व-वैधानिक तर्कबुद्धि के व्यावहारिक प्रयोग से सम्बन्धित है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धि तैल मन को ज्ञानात्मक शक्ति के लिए, निर्णय केवल सुख-दुःख की अनुभूति शक्ति मन की भावनात्मक शक्ति के लिए तथा तर्कबुद्धि प्रज्ञा केवल इच्छा-शक्ति शक्ति मन की क्रियात्मक शक्ति के लिए प्रागनुभवी सिद्धान्तों से युक्त है। कान्ट कहते हैं कि बुद्धि, निर्णय तथा तर्कबुद्धि प्रज्ञा नामक तीन संज्ञानात्मक शक्तियाँ ही तीन प्रकार के विप्रतिषेधों का प्रमुख कारण हैं, जिनमें से प्रत्येक उच्च संज्ञानात्मक शक्ति के रूप में एक प्रागनुभवी सिद्धान्त की अनिवार्य रूप से धारण करती है।

इस स्पष्ट रूपण ज्ञात होता है कि सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक बुद्धि के विप्रतिषेध स्वामाविक एवं अपरिहार्य हैं और इनके समाधान के लिए एकमात्र अंतर्निष्ठ अधिष्ठान का ही उल्लेख प्राप्त होता है। सौन्दर्यमूलक विप्रतिषेध के समाधान के लिए भी कान्ट एक अंतर्निष्ठ अधिष्ठान का ही संकेत करते हैं।

१. वेम्स कीड मैरिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ जजमेंट, पृ० १२३

२. बर्लिन एडीशन, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ जजमेंट, पृ० ३४५

३. "The Reason for there being three kinds of antinomy is that there are three cognitive ~~XXXXXXXX~~ faculties, namely understanding, judgement and Reason, each of which as a higher cognitive faculty must have its a priori principle,"

--एवोडज्जोर्नैसिरर, ए कर्पेट्री ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ जजमेंट, पृ० ३०७

तथा इस प्रकार के निर्णय का भी तर्कबुद्धि प्रज्ञा का ही प्रबलन निर्णय बताते हैं। उनका कना है कि तर्क के निर्णय प्रागनुभवों नहीं हैं वरन् वात्स्याय है और तर्कबुद्धि प्रज्ञा के प्रबलन निर्णय हैं। अन्य तर्कों में ये एक वस्तु की पूर्णता के विषय में प्रयोजनमूलक निर्णय हैं, किन्तु हमारे विद्वान् सम्बन्धी भ्रम के कारण सौम्यमूलक निर्णय कहलाते हैं। यद्यपि तर्क के निर्णयों के स्पष्टीकरण में कान्त यह दशति है कि तर्क-सम्बन्धी निर्णय का उपराज विवेचन इसकी सुरक्षा के साधन के रूप में सन्तोषजनक नहीं है। किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में का अतोन्मुख प्रत्ययों के दोन प्रकार के वर्णों का प्रतिपादन करते हैं--

(१) प्रकृति के अधिष्ठान के रूप में अतोन्मुख का प्रत्यय । (२) हमारी संज्ञानात्मक शक्ति के लिए प्रकृति को वात्मनिष्ठ प्रयोजनीयता के सिद्धान्त के रूप में अतीन्द्रिय का प्रत्यय (३) स्वतन्त्र के प्रयोजनों के रूप में तथा नैतिक ज्ञान के वन्तर्गत नैतिक स्वतन्त्र से इन प्रयोजनों का अनुपपत्ति के रूप में अतीन्द्रिय का प्रत्यय ।

इस प्रकार सौम्यमूलक विप्रतिषेध का एक अतोन्मुख अधिष्ठान का उल्लेख करके ही समाप्त किया जा सकता है क्योंकि सैदान्तिक तथा व्यावहारिक बुद्धि के विप्रतिषेधों का भांति यह भी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा की स्वाभाविक एवं वत्याज्य उत्पत्ति है। अतः अन्य मीमांसार्थों का भांति निर्णय मीमांसा में सौम्यमूलक अन्वयधाय के तर्क-सम्बन्धी विप्रतिषेध का समाधान करने के लिए भी कान्त अतोन्मुख अति के मूलतः अतीन्द्रिय सिद्धान्तों का ही प्रयोग करते हैं और अपने इस अन्वयधाय द्वारा यह दशति है कि हमारी सौम्योन्मुखि में प्रकृति ज्ञान की यान्विषयता तथा नैतिक ज्ञान की स्वतन्त्रता का सम्मिलन एवं सम्मिलन होता है।

१. जेम्स ग्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् वाफ़ जर्मेन्ट, पृ० २१४-१५

२. वही, पृ० २१५

३. एबो ड्रुमहॉल्ट कैथरर, कर्मेटी वॉन कान्ट्स क्रिटिक् वाफ़ जर्मेन्ट, पृ० २६०-६१

हम जानते हैं कि बुद्धि, निर्णय तथा तर्क-बुद्धि प्रभा वे हमारी तीन ज्ञानात्मक शक्तियाँ हैं और ये सभी प्रागुत्पत्ती सत्त्वों से युक्त होती हैं। निर्णय-शक्ति, बुद्धि और तर्क-बुद्धि प्रभा के बीच मध्यस्थता करके प्राकृतिक ज्ञान तथा स्वातंत्र्य ज्ञान के बीच सार्थकत्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं। निर्णय-शक्ति ही हमारी भावना है तथापि इसका तर्क भाव-बोध है। कान्ट निर्णय-मीमांसा में भाव-बोध का ही स्पष्टीकरण करते हैं। कान्ट के अनुसार भाव-बोध प्रकृति की वस्तु पितावता द्वारा प्राप्त होता है। प्रकृति में एक और तीसरी सत्त्वों का उदात्ता प्राप्त होती है तथा दूसरी और एकपता एवं संप्रतिपत्ति प्राप्त होती है। प्रयोजनमूलक निर्णय मीमांसा में कान्ट प्रकृति की स्वरूपता एवं संप्रतिपत्ति की व्याख्या करते हैं।

गौर विचारों की समष्टि के रूप में प्रतीत होने वाली विनाश प्रकृति पर विचार करने के लिए हमारी तर्क-बुद्धि प्रभा के पास ये दो विकल्प हो सकते हैं कि या तो वह प्रकृति का विचार बुद्धि के प्रागुत्पत्ती नियमों से प्रारम्भ कर लम्बा विशेष प्रार के अनिश्चित व विरुद्ध नियमों से प्रारम्भ करे। सामान्य रूप से निर्णय वह ज्ञानात्मक शक्ति है जो प्रकृति के विशेष गुण प्रत्यक्षता का एक सर्वव्यापी नियम के अन्तर्गत विचार करती है। एक धिये हुए सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत विशेषता को सम्मिलित करे वाला निर्णय निर्धारित निर्णय कहलाता है। ये निर्णय मन की स्वतंत्र शक्ति नहीं हैं और ये कितनी स्वतंत्र सिद्धान्तों से भी युक्त नहीं होते क्योंकि ये कोई नियम नहीं उत्पन्न कर सकते हैं। सार्वभौमिक नियम को जो वे बुद्धि द्वारा प्राप्त करते हैं। तब: इनका कार्य केवल बुद्धि द्वारा प्राप्त सार्वभौमिक त्रि-विध्यात्मक नियमों के अन्तर्गत ही इन्द्रियनिष्ठ परंपरा की कल्पना करना होता है। इस प्रकार ये बुद्धि की

-
१. जेम्स डीड मेरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ जर्मेन्ट, पृ० ३८
 २. जॉन वादसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट, पृ० ३११
 ३. जेम्स डीड मेरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ जर्मेन्ट, पृ० १८

धारणाओं को व्याख्याता प्रदान करते हैं। हम जानते हैं कि उस गाँवर प्रकृति के विशिष्ट नियम बहुतेर्यक एवं विभिन्न होते हैं, इसलिए हमारी वर्तुद्धि प्रज्ञा निर्धारित निर्णय द्वारा निर्मित प्रकृति की सम्भाव्य व्यवस्था से परे जाने के लिए विवश हो जाती है और परिणाम-रूप वल विचार मान्य प्रकृति का विचार एक ऐसी विशेष-निर्दिष्ट एवं विस्तृत नियमों के आधार पर करी जाती है, जो हमें प्राप्त नहीं होता है। व-निर्णय, जो विशेष प्रत्यक्षों को एक ऐसी गणितीय नियम से अन्तर्गत करिस्थित करता है जो प्रदान नहीं होता, वह अनुविन्तनात्मक निर्णय कहा जाता है। यह अनुविन्तनात्मक के एक ऐसी सिद्धान्त से युक्त होता है, जो हमें वस्तु-विषयों पर केवल विन्तन करने के लिए समर्थ बनाता है। हमारा मरिस्थक प्रकृति का अध्ययन करने में आवश्यक रूप से यह पूर्वनिर्धारित करता है कि प्रकृति के विशेष-तौर-आनुमयिक नियम अव्यवस्थित संवात नहीं हो सकते हैं। प्रकृति में प्राकृतिक नियमों की एक विशेष व्यवस्था है। हम प्रकृति के आनुमयिक नियमों-सम्बन्धी अपनी ज्ञान में अनुविन्तनात्मक निर्णय के सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं। यह अनुविन्तनात्मक निर्णय उन वस्तु-विषयों के लिए प्रयुक्त होता है, जिसे हम एक नियम के द्वारा वस्तुगत रूप से निर्धारित नहीं कर सकते क्योंकि हमारे पास इन वस्तु-विषयों की एक ऐसी धारणा का अभाव होता है, जिसे हम विशेष-विषयों की व्याख्या करने वाले सिद्धान्त के रूप में अपना रहे हैं। हम जानते हैं कि संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के अभाव में अनुविन्तनात्मक निर्णय-शक्ति वस्तुओं का वस्तुगत ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती इसलिए वह स्वयं अपने लिए इन सिद्धान्त के रूप में कार्य करती है। किन्तु एकरा यह सिद्धान्त बुद्धि के एक सिद्धान्त के रूप में नहीं समझा जा सकता है, यह आत्मनिष्ठ सिद्धान्त के रूप में कार्य करता है।

१. जेम्स कीस मैरेथिय, कान्टर क्रिटिक् ऑफ़ क्वैट पार्ट-२ क्रिटिक् ऑफ़ टिथियालीजिजल क्वैट, पृ० ३५।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि निर्धारित निर्णय एक प्रदत्त सार्वभौमिक धारणा के अन्तर्गत विशेष को सम्मिलित करते हैं और अपने इस सम्मिश्रण की प्रागुत्पत्ती तर्कों को प्रदान भी करते हैं जैसे--इस धारणाएं, बुद्धिकौटियां आदि । अनुविन्तनात्मक निर्णय विशेष प्रत्यक्षों को एक ऐसे सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत सम्मिश्रित करते हैं जो हमें प्राप्त नहीं होता है, इसलिए अनुविन्तनात्मक निर्णय उस सार्वभौमिक नियम की शीर्ष में प्रयत्नशील रहता है । निर्धारित व अनुविन्तनात्मक निर्णयों के अन्तर को निगमनमूलक व आगमनमूलक तर्कों के पैर की मांति समझा जा सकता है, क्योंकि अनुमान तर्क प्रणाली के अन्तर्गत निगमन में हम सामान्य से विशेष की ओर जाते हैं तथा आगमन में विशेष से सामान्य की ओर जाते हैं । इस प्रकार हम केते हैं कि मानव मानसिक प्रकृति का दो विभिन्न प्रकारों से पैदा है । वैज्ञानिकों के अनुसार केवल प्रकृति के यांत्रिक सिसान्त ही प्राकृतिक ज्ञान की यथार्थ व्याख्या कर सकते हैं । इसके विपरीत प्रयोजनवादी विचारकों के अनुसार प्राकृतिक ज्ञान की प्रयोजनात्मक व्याख्या ही एक ही एक सन्तुष्टिप्रद व्याख्या हो सकती है और वस्तुओं की अन्तिम कारण-सम्बन्धी शीर्ष ही उनसे स्वरूप का ज्ञान प्रदान कर सकती है । इस दृश्यमान प्रकृति के अन्तर्गत जब हम अपने लीज-सम्बन्धी कार्य को उचित रूप से करते हैं, तब यहाँ निर्णय की व्यवस्थापना के लिए एक ऐसे विशिष्ट सिद्धान्त की

१. जी०ब्रार०की० म्योर, ए स्टडी ऑफ़ सीगल्स लॉजिक, पृ० १६७

* Determinant judgement subsumes the particular under a given universal concept, although it also supplies the priori conditions of that subsumption, viz. the pure concepts, the ३ categories. Judgement is merely reflective when a particular object alone is given and the universal has to be found for it.

If these two types of judgement be developed into inference, clearly the distinction between them becomes that between deduction and induction."

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि निर्धारित निर्णय एक प्रवृत्त सार्वभौमिक धारणा के अन्तर्गत विशेष को सम्मिलित करते हैं और अपने इस सम्मिलन की प्राग्बुद्धी ज्ञाती को प्रदान भी करते हैं जैसे--शुद्ध धारणारं, बुद्धिकोटियां आदि । अनुविन्तनात्मक निर्णय विशेष प्रत्यक्षा को एक ऐसे सार्वभौमिक नियम के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं जो हमें प्राप्त नहीं होता है, इसलिए अनुविन्तनात्मक निर्णय उस सार्वभौमिक नियम की सोंच में प्रयत्नशील रहता है । निर्धारित व अनुविन्तनात्मक निर्णयों के अन्तर का निगमनमूलक व आगमनमूलक तर्कों के भेद की भांति समझा जा सकता है, क्योंकि अनुमान तर्क पुणाली के अन्तर्गत निगमन में हम सामान्य से विशेष की ओर जाते हैं तथा आगमन में विशेष से सामान्य की ओर जाते हैं । इस प्रकार हम कहते हैं कि मानव मस्तिष्क प्रकृति का दो विभिन्न प्रकारों से देखता है । वैज्ञानिकों के अनुसार केवल प्रकृति के यांत्रिक सिद्धान्त ही प्राकृतिक जगत की यथार्थ व्याख्या कर सकते हैं । इसके विपरीत प्रयोजनवादी विचारकों के अनुसार प्राकृतिक जगत की प्रयोजनात्मक व्याख्या ही उसकी एक सन्तोषजनक व्याख्या हो सकती है और वस्तुओं की उत्पत्ति कारण-सम्बन्धी सोंच ही उनसे स्वरूप का ज्ञान प्रदान कर सकती है । इस दृश्य-मान प्रकृति के अन्तर्गत जब हम अपने ज्ञान-सम्बन्धी कार्य को उचित रूप से करते हैं, तब यहाँ निर्णय की व्यवस्थापना के लिए एक नई विशिष्ट सिद्धान्त की

१. जी० जार० पी० प्यार, ए स्टडी ऑफ़ हीगल्स लॉजिक, पृ० १२७

* Determinant judgement subsumes the particular under a given universal concept, although it also supplies the priori conditions of that subsumption, viz. the pure concepts, the K categories. Judgement is merely reflective when a particular object alone is given and the universal has to be found for it.

If these two types of judgement be developed into inference, clearly the distinction between them becomes that between deduction and induction,*

विविधार्थ अपेक्षा होती है, जिसकी उपलब्धि निश्चय द्वारा ही होती है। अतः जब भीतर प्रकृति पर ये दो विधारित तथा अनुविन्तनात्मक निश्चय विभिन्न प्रकार से निश्चय होते हैं और जब दोनों निश्चय अनुभव के वस्तु-विधियों पर एक ही तर्क में प्रयुक्त होते हैं, तब एक विपुलिषैव उत्पन्न हो जाता है। कल्पे का सात्पर्य यह है कि जब विधारित निश्चय के सिद्धान्तों की प्राप्ति अनुविन्तनशील निश्चय के सिद्धान्तों की भी रचनात्मक मान लिया जाता है, तब अनिवार्य रूप से एक रन्ध्रान्यायात्मक विपुलिषैव उत्पन्न हो जाता है। इसी विपुलिषैव को कान्ट प्रयोजनमूलक निश्चय का रन्ध्रान्याय कल्पे है।

अनुविन्तनशील निश्चय प्रागुपभवी शक्ति से युक्त होते हैं तथा यह नियामक सिद्धान्तों के साथ कार्य करता है। प्रकृति के विशिष्ट नियमों के लोच के सम्बन्ध में जो नियामक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं उन्हें हम पक्ष तथा प्रतिपक्ष के रूप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं :-

पक्ष -- भौतिक वस्तुओं के सम्पूर्ण उत्पादन और उन पर वर्तमान का अनुमान विज्ञान रूप से याम्बिक निगमों के अनुसार सम्भव होता जावे।

प्रतिपक्ष -- भौतिक प्रकृति के कुछ उत्पादन की सम्भावना का अनुमान विज्ञान याम्बिक नियमों के अनुसार नहीं लिया जा सकता है, क्योंकि उनके अनुमान के लिए कारणता के नियम की आवश्यकता होती है तथापि हम इस सम्बन्ध में एक अन्तिम कारण की जाकांक्षा करते हैं।

प्रकृति के वस्तु-विषय कुछ शक्तों के सम्बन्धित हैं। सम्भव होते हैं और उन शक्तों की रचनात्मक सिद्धान्त विधारित करते हैं। उपरान्त पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा प्रदर्शित नियामक सिद्धान्तों की रचनात्मक सिद्धान्तों में परिवर्तित कर देने से उनकी स्थिति निम्न प्रकार की हो जाती है :-

१. जॉन वाटसन, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्स्प्लेन्ड, पृ० ४५३, तथा
जेम्स कोड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्मेन्ट, पार्ट २ क्रिटिक् ऑफ़-
टिलियोलॉजिकल जर्मेन्ट, पृ० ४०

२. वही, पृ० ३७

पदा--भौतिक वस्तुओं के समस्त उत्पादन केवल यान्त्रिक नियमों द्वारा ही सम्भव होते हैं ।

प्रतिपदा--भौतिक वस्तुओं के कुछ उत्पादन केवल यान्त्रिक नियमों द्वारा नहीं सम्भव होते हैं ।

हम देखते हैं कि पूर्ववर्णित पदा तथा प्रतिपदा केवल चिन्तनात्मक निर्णय के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति करते हैं, इसलिए वे वस्तुतः व्याधाती नहीं हैं । किन्तु जब उन दोनों तर्कवाक्यों की रचनात्मक मान लिया जाता है तब वे परस्पर व्याधाती हो जाते हैं और फलतः हमें स्वयं निर्णय के स्वरूप से ही उत्पन्न एक विप्रतिषेध की उपलब्धि होती है । जहाँवर से सम्बन्धित तर्कबुद्धि प्रकाश गीवर वस्तुओं के संघटक की एक प्रागुद्भवी सिद्धान्त नहीं प्रदान कर सकती, इसलिए यह उपरोक्त प्रकार के किसी भी सिद्धान्त की सिद्ध नहीं कर सकती । भौतिक जगत की छोटी घटनाएँ और प्रकृति के समस्त उत्पादनों का निर्णय विद्वद् यान्त्रिक नियमों द्वारा सम्भव है, उस ज्ञान का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि यान्त्रिक नियमों के अतिरिक्त उन प्राकृतिक जगत की घटनाओं के सम्बन्ध में निर्णय देने का अन्य साधन सम्भव नहीं है । इसके द्वारा केवल इस तथ्य की दमन प्राप्त होता है कि अस्मितामय गीवर वस्तु-विषयों के नियम-सम्बन्धी अक्षा विशिष्ट प्रकृति विषयों ज्ञान को प्राप्त करने के प्रयत्न में हमें वस्तु-विषयों की प्रकृति का विद्वद् यान्त्रिक उत्पादन समझना चाहिए । जहाँ तक हमारे ज्ञान की गम्यता है, हमें यही ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण प्रकृति एक ऐसी यान्त्रिक व्यवस्था है, जहाँ सम्पूर्ण विभिन्न वस्तुएं सापेक्ष रूप में निर्धारित होती हैं । इसे व्यक्त करते हुए यह कहा जा सकता है कि--प्रत्येक वस्तु का

१. जेम्स क्रिड मेरीडिथ, कान्टस क्विटीज़ ऑफ़ जजमेन्ट, पार्ट २ क्विटीज़ ऑफ़
टेलियाज़ॉनिकल कार्मेट, पृष्ठ ३७

२. यहाँ, पृष्ठ ३८

अपने से बाह्य व भिन्न किसी दूसरी वस्तु से जिस प्रकार का सम्बन्ध होता है, उसी सम्बन्ध के अनुसार वह नियत होती है। इस गौर्वात्म्य प्रकृति से सम्बन्ध हमारे सभी निश्चय कारण-कार्य नियम द्वारा संवाहित होते हैं। कान्ट के अनुसार कारणता के सार्वभौमिक नियम से ही यान्त्रिक सिद्धान्तों की उत्पत्ति होती है और कारणता का नियम बुद्धि की ही उपज है। प्रकृति की यान्त्रिक व्यवस्था के अंशों के रूप में कुछ निर्धारित वस्तु-विषयों की हम प्रत्यक्ष रूप से उचित व्याख्या नहीं कर पाते हैं, तब हम आवश्यक रूपतः एक अन्तिम कारण अर्थात् प्रयोजन कारण की धारणा का अनुगमन करते हैं। इस विस्तृत प्रकृति की यान्त्रिक व्यवस्था में हम सीद्देश्यता दृष्टिगत होती है, अतः हम एक प्रयोजन कारण की कल्पना करनी ही पड़ती है, इसकी हम उपेक्षा नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार हम एक वात्समिष्ठ या नियामक सिद्धान्त के रूप में प्रयोजन-कारण की धारणा का प्रयोग करते हैं और प्रकृति-सम्बन्धी अपने विशिष्ट ज्ञान को आगे बढ़ाते हैं। हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि वस्तुओं का निर्धारण केवल यान्त्रिक नियमों द्वारा ही सम्भव है। जब हम प्रकृति के विशिष्ट नियमों की तलाश में प्रयत्नशील रहते हैं तब हम स्वीकार करते हैं कि प्राकृतिक यन्त्रवाद के सिद्धान्त द्वारा ही वस्तुओं की विप्लव रूप से व्याख्या होती है; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वस्तुओं को निर्धारित करने का कोई अन्य साधन सम्भव नहीं है। यहाँ हम केवल यही स्पष्ट करना चाहते हैं कि हमारी तर्क बुद्धि प्रज्ञा का जैसा मौलिक स्वरूप है, उस रूप में वह प्रकृति के पुञ्ज्य अधिष्ठान की तलाश निश्चय ही नहीं कर सकती है। अपने ज्ञान की सीमाओं को समाप्त करके यन्त्रवाद तथा प्रयोजनकारण के द्वारा हम प्रकृति के वस्तु-विषयों की व्याख्या नहीं कर पाते हैं, इसलिए प्रकृति के अधिष्ठान-सम्बन्धी

हमारी समस्या अनिर्णीत ही रह जाती है। हम जानते हैं कि अपने स्वभाव विशेष के कारण तर्क बुद्धि प्रज्ञा सैद्धान्तिक प्रयोग में प्रकृति के अतीन्द्रिय अधिष्ठान का ज्ञान देने में पूर्णतया असमर्थ होती है, इसलिए प्रयोजनकारणवाद अथवा चिन्तनात्मक निर्णय के सिद्धान्त प्रकृति के निश्चित स्वरूपों का निर्धारण नहीं करते हैं और न तो हम इसी तथ्य को ही स्वीकृति या वस्तीकृति दे पाते हैं कि--विद्वद् याज्ञिक साधन द्वारा ही प्राकृतिक जगत की व्याख्या हो सकती है। हमारे चिन्तनात्मक निर्णय आत्मनिष्ठ अधिष्ठान पर कार्य करते हैं और प्रकृति में स्थित वस्तुओं के लिए प्रबुद्ध अधिष्ठान की जाँच करते हैं; ये प्राकृतिक यन्त्रवाद के सिद्धान्त से भिन्न हैं। इस प्रकार प्रयोजनमूलक निर्णय के विप्रतिकेच तभी उत्पन्न होते हैं जब उन्हें रचनात्मक मान लिया जाता है।

प्रयोजनमूलक निर्णय-सम्बन्धी विप्रतिकेच का समाधान एवं समीक्षात्मक विवेचन -

याज्ञिक कारणवाद और प्रयोजनकारणवाद--इन दो चिन्तनात्मक सिद्धान्तों को नियामक मान लेने से प्रयोजनमूलक विप्रतिकेच समाप्त हो जाता है।

हम जानते हैं कि हमारे अस्तु के वस्तु विषय केवल जाभास हैं, वस्तु-स्वलक्षण नहीं हैं। गाँवर प्रकृति की व्याख्या करने वाले याज्ञिक और प्रयोजनात्मक दो विभिन्न सिद्धान्त वस्तु-स्वलक्षणों पर नहीं प्रयुक्त हो सकते हैं। गाँवर प्रकृति जाभास है तथा वस्तु स्वलक्षण परमार्थ है। हम गाँवर प्रकृति के अन्तिम अधिष्ठान को जाँचने में सक्षम हैं, किन्तु हमें उसका कोई ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। वस्तु-स्वलक्षणों को हम केवल जाभास के रूप में ही जान सकते हैं, उनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हमें नहीं हो सकता है। हमारी सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा वस्तुनिष्ठ निर्णयों को नहीं निर्मित करती है, ईश्वर, जीव तथा

१. जेम्स क्रीड मेरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्मेन्ट, पार्ट-२, क्रिटिक् ऑफ़ टिलियोलॉजिकल जर्मेन्ट, पृ० ३६

२. एवंगेलिस्ट कैथरिन, ए कर्मेन्टी ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्मेन्ट, पृ० ३४४

ज्ञात के रूपों में यह अप्रतिबद्ध के प्रत्ययों को प्रतिष्ठित करती है, किन्तु उसके
 अतुल्य वस्तु-विषयों को नहीं प्रदान कर सकती है। हमारा सम्पूर्ण ज्ञान
 गौणर तक ही सीमित है, किन्तु तर्कबुद्धि प्रज्ञा गौणर से भी सम्बन्ध रखती है,
 इसलिए यह कैवल मियाफक सिद्धान्तों से ही युक्त होती है, रचनात्मक सिद्धान्तों
 से नहीं। अपने इसी विशेष स्वभाव के कारण हमारी तर्कबुद्धि हमें यह स्वीकार
 करने के लिए बाध्य कर देती है कि 'सम्भव' और 'वास्तविक' में भेद है।
 यहाँ हमारा अभिप्राय यह है कि हमारे ज्ञान की शक्तियों के विशिष्ट स्वभाव
 के कारण ही यह भेद उत्पन्न होता है। हमारी बुद्धि मूल विशेषों के लिए
 हन्त्रिय प्रत्यक्षा पर निर्भर है, और वस्तुएं ऐसी अपने आप में हैं, हन्त्रिय प्रत्यक्षा
 हमें उस रूप में उन्हें नहीं जानने देता है। किन्तु यदि हमारी बुद्धि अनुभूतिज्ञान
 है तो हमारे ज्ञान का विषय सदैव वास्तविक ही होगा, क्योंकि जिस वस्तु का
 हमें प्रत्यक्षा होता है, वह उस समय यथार्थ ही होती है। यह 'संभव' और
 'वास्तविक' का भेद आत्मनिष्ठ है और यह उस मानवीय तर्कबुद्धि के लिए उपयुक्त
 है जो अनुभूतिज्ञान नहीं है बल्कि विमर्शत्मक है, तर्कमूक्त है, क्योंकि हम सदैव इस
 रूप में भी विचार करते हैं कि-- 'कुछ है'; किन्तु एक वस्तु-विषय की धारणा
 में हम उसे नहीं जान सकते। यह भेद वस्तु-स्वल्पाणा पर प्रयुक्त नहीं होता
 है। तर्क बुद्धि प्रज्ञा अपने अद्वय प्रवृत्ति द्वारा एक अप्रतिबद्ध प्रत्यय के रूप में
 वस्तुओं के मूल अधिष्ठान की मान्यता देती है। इस अधिष्ठान में भी 'यथार्थ'
 और 'सम्भव' का प्रयोजन नहीं है, यह प्रज्ञा का एक अपरिहार्य प्रत्यय है,
 किन्तु इसका हन्त्रिय-प्रत्यक्षा नहीं हो सकता है। अतः सम्भव तथा यथार्थ
 के भेद का कोई वस्तुगत उपयोग नहीं है। मानवीय बुद्धि अपने उपयुक्त सीमाओं
 में ही क्रियाशील होती है। हम निर्धिष्ठ रूप से एक अनुभूतिज्ञान बुद्धि की
 मान्यता दे सकते हैं, ऐसी बुद्धि के लिए 'आपातिक' और 'अनिवार्य' के बीच

१. जैक्स फ्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् जॉफ़ कर्मेट, पार्ट-२ क्रिटिक् जॉफ़
 टिलियालॉजिकल कर्मेट, पृ० ५६

किसी प्रकार का मोह नहीं है अर्थात् इसके लिए सम्भव और यथार्थ अभिन्न है ।

कान्ट यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य विचारशील होने के साथ संवेदनशील भी है । एक ओर तो नैतिक कर्ता होने के कारण वह स्वतंत्र है तथा दूसरी ओर अपने प्राकृतिक शरीर के कारण वह ऋण्ड नियमों से बंधा हुआ है । अतः हमारी सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि प्रज्ञा जब प्रकृति के मूल अधिष्ठान के रूप में बहुतिबद्ध अप्रतिबद्धा अनिवार्यता के प्रत्यय को मान्यता देती है, तब हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा भी अपनी स्वतंत्रता या अप्रतिबद्ध कारणता को मान्यता प्रदान करती है । व्यावहारिक तर्क बुद्धि प्रज्ञा की स्वतंत्रता इसके अपने नैतिक वादर्स 'सम्बन्धी' नेतना में ही निहित होती है । सैद्धान्तिक प्रज्ञा की अप्रतिबद्ध अनिवार्यता तथा व्यावहारिक प्रज्ञा की अप्रतिबद्ध कारणता की भिन्नता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक कार्य, जो नैतिक दृष्टि से अनिवार्य होता है, वह भौतिक दृष्टि से आपात्तिक सम्भवा जाता है क्योंकि नैतिक बाध्यता भौतिक घटना के रूप में स्वतंत्र कार्य के परिणाम से युक्त नहीं होती है । व्यावहारिक तर्क बुद्धि नैतिक नियमों को निरपेक्ष वापेक्ष व कर्षणों के रूप में प्रस्तुत करती है । किन्तु वस्तुतः सैद्धान्तिक और व्यावहारिक नियमों में कोई भेद नहीं है क्योंकि 'है' और 'होना' वास्तविक अभिन्न हैं । व्यावहारिक नियम कार्य करने में समर्थ हैं जो सैद्धान्तिक नियम यथार्थ को स्पष्ट करने में समर्थ हैं । जो परम शुभ है, उसे ही तर्क बुद्धि प्रज्ञा, हम पर आरोपित करती है, केवल यही संभव है, यही यथार्थ है । जब हम नैतिक नियमों की नेतना द्वारा एक बाधायम्य ज्ञात के स्वरूपिक अवस्था के रूप में स्वातंत्र्य के अस्तित्व का अनुमान करते हैं तब यह हमारे लिए एक अतीन्द्रिय धारणा ही जाती है और फलस्वरूप यह हमारे कर्मा को निर्धारित करने वाली संघटक शिक्षान्त के रूप में कार्य नहीं करती है । इसका कारण यह

१. जॉन वाटसन, पि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्सप्लैन्ड, पृ० ४५७

२. वही, पृ० ५६

है कि हमारे कर्म सैद्धान्तिक रूप से गौण प्रकृति के अंत होते हैं। प्राकृतिक दृष्टिकोण से कुछ बातें हुए हम वांछित रूप से दृष्टिगोचर नहीं हैं, किन्तु विचारणीय होने के कारण हम स्वतंत्र भी हैं। स्वतंत्रता एक सार्वभौमिक नियामक सिद्धान्त है, किन्तु यह नियामक सिद्धान्त हमारी स्वतंत्रता की प्रकृति को परतुल्य रूप से निर्धारित नहीं करता है। यह प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति को स्वातंत्र्य के प्रत्यय के अनुरूप इस प्रकार कार्य करने का आदेश देता है जैसे कि यह अनात्मक सिद्धान्त है। बूँकि हमारी बुद्धि अनुभूतिगत न होकर रचनात्मक हो जाती है और सामान्य से विशेष की ओर गमन करती है, इसलिए हम प्रकृति के यादृच्छिक नियम और प्रयोजनमूलक नियम में भेद करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। कान्ट का ज्ञान है कि हम केवल विशेषों के समूह द्वारा ही ज्ञान नहीं कर सकते हैं। हमारे पास साध्य तक विशेष की अनुकूलता का कोई ज्ञान नहीं है, इसलिए हमारा निर्णय तब तक निर्धारित नहीं हो सकता जब तक कि वह एक ऐसे सार्वभौमिक सिद्धान्त से कुछ नहीं होता जिसमें वह विशेष को समाहित कर सके। हमारी तर्क-बुद्धि प्रज्ञा भी अपने आपकी विशेषता से रिक्त किसी नियम से संतुष्ट नहीं कर सकती है। विशेष और सामान्य में संगति नहीं होती है, इसलिए हमारे लिए विशेषों को सार्वभौमिक नियम में सम्मिलित करना असम्भव हो जाता है। जहाँ कहीं भी सार्वभौमिक सामान्यों द्वारा विशेषों को आपातिकता दिनायी जाती है, वहाँ हम उन वर्गों की अनुरूपता द्वारा ही प्रगति पर बढ़ सकते हैं। अब: यहाँ यह व्यक्त होता है कि प्राकृतिक उत्पत्तियों की चारणा सौदेश्य है, उनमें अनुकूलता है। हमारे विशेष एक अनुलंघनीय तथा अपरिहार्य नियम को अनुकूलित करते हैं और ये नियम निर्णय के लिए अनिवार्य होते हैं, किन्तु हम नियमों के प्रत्यय को स्वयं वस्तु-विचार्यों पर आरोपित नहीं किया जा सकता है। प्रयोजन का प्रत्यय तर्क बुद्धि प्रज्ञा का एक वास्तवनिष्ठ एवं नियामक सिद्धान्त

है। वन; कान्ट का कथन है कि प्रयोजनमूलक मिथ्या के विप्रतिपक्षों के समाधान के लिए हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि यांत्रिक और प्रयोजन-मूलक दोनों ही सिद्धान्त नियामक सिद्धान्त हैं तथा विन्तन के केवल आत्म-निष्ठ सिद्धान्त हैं। इनका प्रयोग करके हम वस्तु-स्वलक्षणों के विषय में कुछ नहीं कह सकते। मानव-मरिक्क उपरोक्त दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का प्रयोग उनके उचित स्थान पर कर सकते हैं।

निर्णय केवल विचार को ही एक शक्ति नहीं है, यह अनुभव जगत से भी सम्बन्धित होता है, इसलिए यह सार्वभौमिक तथा विशेष दोनों प्रकार के नियमों से युक्त होता है। निर्णय अपने भाव-बोध को शक्ति द्वारा प्राकृतिक धारणाओं के क्षेत्र तथा स्वातंत्र्य की धारणा के क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित करता है। मानव मरिक्क इस अन्तर्गत विस्तृत गौर प्रकृति के एक तार्किक व्यवस्था की मांग करता है क्योंकि वह उसे जानने में प्रसन्न है। निर्णय-शक्ति स्वयं अपने आत्म-निष्ठ नियमों के साथ विन्तन के सिद्धान्त में प्रकृति के एक प्रागनुमवी विधि को निर्मित करता है। प्रकृति की सम्भाव्यता के लिए ही यह प्रागनुमवी सिद्धान्त से युक्त होता है। कान्ट का यह विश्वास है कि निर्णय-शक्ति से ही प्रकृति एक तार्किक व्यवस्था के रूप में अनुसार तानुमविक नियमों के अन्तर्गत अपने सार्वभौमिक नियमों का विशेष रूप से उल्लेख करती है। गौर प्रकृति में विभिन्न वस्तुओं की व्यवस्था दृष्टिगत होती है। ये वस्तुएं निश्चित रूप से सप्रयोजनता से युक्त प्रतीत होती हैं। प्रयोजन के प्रत्यय को हमें साध्य के

१. एन० डब्लू० कैसरर, ए कर्मेटी ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ जजमेंट, पृ० ३४४.

"... Kant's solution of the antinomy is this. Mechanical and teleological principles are both merely subjective principle of reflection; and in applying them we do not assert anything about things as they are in themselves. The view which is put forward by him in our section is that the human mind may employ both principles, each in its proper place."

२. जेम्स फ्रीड मेरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ जजमेंट, पृ० २४

३. एन० डब्लू० कैसरर, ए कर्मेटी ऑन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ जजमेंट, पृ० ११६-

अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं और साध्य के साधनों के अर्थ में भी प्रयुक्त कर सकते हैं। एक वस्तु जब स्वयं ही अपना कारण और कार्य होती है अर्थात् वह स्वयं अपना कारण होती है तभी वह प्राकृतिक साध्य हो सकती है। हमारा अनुभव निर्णय शक्ति को एक वस्तुनिष्ठ भौतिक प्रयोजन के कारण की ओर ले जाता है, यही कारण प्रकृति में साध्य की कारणता है। यह साध्य की कारणता एक ऐसे प्रत्यय के रूप में अस्तित्वपूर्ण होती है जो वस्तुओं द्वारा विधेयित नहीं की जा सकती है। किन्तु फिर भी प्राकृतिक साध्य के प्रत्यय के अनुरूप प्राकृतिक उत्पत्ति का प्रकृति में अस्तित्व है, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि हम प्राकृतिक साध्य का प्रयोग एक संघटक सिद्धान्त के रूप में कर सकते हैं। कान्ट कहते हैं कि तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के आत्मा, ईश्वर आदि अन्य प्रत्ययों से सम्बन्धित कोई भी वस्तु-विषय हम प्रकृति में नहीं प्राप्त करते हैं, अतः प्राकृतिक साध्य के प्रत्यय तथा तर्क-बुद्धि के अन्य प्रत्ययों में एक दूरपष्ट भेद है। प्राकृतिक साध्य का प्रत्यय निर्णय-सापेक्ष है, इसलिए अनुभव के वस्तु-विषयों को सम्भव बनाने के लिए सामान्यतया यह केवल हमारी बुद्धि का प्रयोग है। इस सम्बन्ध में निर्णय निर्धारित नहीं होते वरन् केवल चिन्तनात्मक होते हैं। प्राकृतिक साध्य का प्रत्यय स्वयं वस्तु-विषय को निर्धारित नहीं कर सकता है, यह वस्तु-विषयों को प्रयोजन के नियामक या आत्मनिष्ठ सिद्धान्त के अन्तर्गत लाने के लिए स्वयं चिन्तनात्मक रूप से प्रयुक्त होता है। अतः यह हमारे मानवीय बुद्धि की ही एक विशिष्टता है कि हम प्राकृतिक वस्तुओं का निर्णय प्रयोजन के प्रत्यय के निर्देश द्वारा करते हैं। कान्ट का कथन है कि हमारी एक उच्च अनुभूतिमान बुद्धि को रचना के अनुसार ही हम प्रकृति के उत्पादन या वस्तुओं को प्रयोजनों के रूप में जानते हैं। इसके विपरीत हमारी एक उच्च बुद्धि यह

"The specific principle of judgement is therefore as follows: Nature specifies its universal laws into empirical laws in accordance with the form of logical system on behalf of the faculty of judgement."

१. जॉन वाटसन, दि फिलॉसफी ऑफ कान्ट, पृ० ३२४

२. एच० डब्ल्यू० कैथरि, कर्नो जॉन कान्ट्स क्रिटिक ऑफ जजमेंट, पृ० ३७३-७४

भी स्वीकार करती है कि एक अन्तिम प्रयोजन कारण के आश्रय के अभाव में भी यन्त्रवाद-धारणा द्वारा वस्तुओं की व्याख्या हो सकती है। इस प्रकार हमारी बुद्धि और इसके निर्णय-शक्ति के सम्बन्ध में एक विशिष्ट आपात्किता दिसायी जाती है, इस आपात्किता के उद्घाटन का निवारण ही हमारी अपनी बुद्धि और अन्य की बुद्धि में भेद प्रदर्शित करता है।

उपरोक्त तथ्य के स्पष्टीकरण में हम यह कहते हैं कि हमारी बुद्धि का एक ऐसा स्वरूप भी है जो वैयक्तिक बुद्धि को निर्मित करने में सामान्य है विशेष की ओर अप्रसर नहीं होती, क्योंकि इसके अन्तर्गत बुद्धि और प्रकृति के विशेष नियमों के बीच एक स्वरोक्ष सम्बन्ध अवश्य होता है और इसीलिए यहाँ किसी प्रकार की आपात्किता की स्थान नहीं मिलता है। ऐसी बुद्धि को हम अनुभूतिकाम बुद्धि कह सकते हैं। इसी बुद्धि की धारणा के कारण ही हम अपनी निर्णय-शक्ति से प्राकृतिक वस्तुओं की अनुकूलता को सम्भाव्यता पर विचार करने में समर्थ होते हैं। इस बुद्धि के अन्तर्गत वस्तु-विषयों का उसी रूप में विचार किया जाता है, जिस रूप में वे प्रत्यक्षतः प्रस्तुत होते हैं, इसीलिए यहाँ यथार्थ और 'संभव' के बीच भेद नहीं होता है। निर्णय-शक्ति और प्राकृतिक सिद्धान्तों के बीच के भेद को हम पुनः इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं कि प्राकृतिक नियमों को निर्णय-शक्ति से इस प्रकार अनुरूपित होना है कि प्रयोजन की नियामक कारणा के अन्तर्गत माध्यम से हम अपने अनुभव को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध बना सकें।

हम जानते हैं कि निर्णय-शक्ति हमारी बुद्धि से पृथक् एक अनुभूतिकाम बुद्धि के प्रत्यय का बहिष्कार नहीं करती, इसीलिए यह अनुभूतिकाम बुद्धि 'संपूर्ण' को उपरोक्षतया सम्पन्न होने पुर संश्लेषणात्मक सामान्यों से विशेषों की ओर

१. जेम्स क्रीड मैरिथि, कान्दस क्रिटिक् ऑफ़ कज़मैट, पार्ट-२, क्रिटिक् ऑफ़ टिलियोलॉजिकल कज़मैट, पृ० ६१।

गमन करती है। जिन सामान्या के साथ यह कार्यात्म्य करती है, उनसे परे जाकर इसे सामान्य के लिए विशेषों को प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह बुद्धि समग्र को अंशों से या अंशों से समग्र को पृथक् नहीं समझती है, परिणामस्वरूप अंशों के सम्बन्ध में इसके लिए कोई भी जापातिरक्ता नहीं है। किन्तु हमारी बुद्धि तार्किक व विमर्शात्मक होती है, इसलिए यह हमें प्रकृति के अन्तर्गत प्रत्येक यथार्थ समष्टि को यान्त्रिक व्यवस्था के रूप में देखने के लिए बाध्य कर देती है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अपने बुद्धि के स्वरूप के कारण हम प्रकृति में उपलब्ध किसी भी समष्टि को अंशों की संयुक्त प्रेरक शक्तियों के परिणाम के रूप में ग्रहण करते हैं। इस प्रकार हम अंशों से समग्र की ओर दृष्टिपात करते हैं, किन्तु इसके विपरीत हमारी जादिरूपित या अनुभूतिप्राम बुद्धि अंशों को, उनके सम्बन्ध और उनकी विशिष्ट प्रकृति की दृष्टि से समग्र में ही ग्रहण करती है। जहां तक हमारी सम्मूलक बुद्धि का सम्बन्ध है, इसके अनुसार अंशों का सम्बन्ध समग्र को पूर्वमान्यता नहीं देता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि एक समग्र का 'प्रत्यय' है जो अंशों के सम्बन्ध में और स्वरूप की व्याख्या करता है। इस स्थिति में समग्र को परिणाम या उत्पत्ति के रूप में तथा उसके प्रत्यय को उत्पत्ति के कारण के रूप में ग्रहण किया जाता है क्योंकि उत्पत्ति को साध्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। अपने बुद्धि के स्वरूप के ही कारण हम निश्चित प्राकृतिक उत्पत्तियों को प्राकृतिक नियमों द्वारा नहीं स्वीकार करते वरन् यान्त्रिक कारणता से भिन्न एक अन्तिम प्रयोजन कारण के प्रत्यय द्वारा उत्पन्न मानते हैं। यह अन्तिम कारण के प्रत्यय का उपयोग भी हमारी बुद्धि की वैन है इसलिए इसे वस्तु-स्थलताओं पर आरोपित नहीं किया जा सकता है। यह हमें गोबर वस्तुओं का भी ज्ञान नहीं दे सकता है। चूंकि हम वस्तुओं का ज्वलोकन साधनों और साध्यों के रूप में करते हैं इसलिए हमारी बुद्धि उन्हें निर्धारित करने के लिए विवश हो

१. जैम्स कीट मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ जर्मेनट, पार्ट-२, क्रिटिक ऑफ़ टिलियोलॉजिकल जर्मेनट, पृ० ६४

जाते हैं। इस प्रकार हम सम्पूर्ण प्राकृतिक उपलब्धियों को अभिव्यक्त करने की एकमात्र विधि के रूप में जन्तुत्वपूर्ण प्रयोजन कारण को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु यही कुछ विश्वास ही असंतोष का कारण बन जाता है। यहां ठंड आदिरूपित बुद्धि के अस्तित्व को सिद्ध करना अनावश्यक ही प्रतीत होता है। यहां यह पिछाना ही उचित है कि हम आदिरूपित ज्ञाना अनुभूतिमान बुद्धि के विपरीत अपनी बुद्धि के सापेक्ष और सीमित स्वरूप को खोज करते हैं। एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करने वाले विभिन्न अंशों द्वारा उत्पन्न समष्टि को धारणा हम एक यन्त्रवाद का प्रत्यय प्रदान करती है। यह प्रत्यय समष्टि को धारणा को साध्य के रूप में तबों उपलब्धित करता है, हसीति यह संगठित सत्ताओं के विशिष्ट लक्षण को अभिव्यक्त करने के लिए अपर्याप्त है। इस व्यवस्थित सत्ताओं में ही वस्तु-विषय प्रस्तुत रहते हैं। इन वस्तु-विषयों की सम्भाव्यता की व्याख्या उस समष्टि के प्रत्यय से प्रयुक्त नहीं कर सकते, जिसके द्वारा अंशों के संयोग और वाकार निर्धारित होते हैं। किन्तु इसका तात्पर्य - यह वही है कि संगठित एवं व्यवस्थित सत्ताएं यान्त्रिक-शक्ति की उत्पत्ति हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संगठित एवं व्यवस्थित सत्ताएं यान्त्रिक-शक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उन्हें यान्त्रिक शक्ति की उत्पत्ति न मानना तो इस तथ्य का समर्थन करना है कि कोई भी बुद्धि सम्भवतः यह विचार नहीं कर सकती कि वंश हवाई में संयुक्त हैं। कान्ट स्पष्ट करते हैं कि यदि हम भौतिक सत्ताओं की वस्तु-स्वरूपाणां के रूप में समझने का अधिकार रखते हैं तो प्राकृतिक व्यवस्थाओं की यान्त्रिक उत्पत्ति सम्भव ही जाती है, क्योंकि इस स्थिति में तो इस प्रकार की हवाई, जो प्राकृतिक वस्तुओं के स्वरूपों की सम्भाव्यता के अधिष्ठान को बनाती है, वैयक्तिक हवाई को भांति हो जाती है। इस वस्तुओं के उत्पत्ति का यथार्थ अधिष्ठान नहीं है, यह केवल उनकी

१. एबोडवूड कैथिरर, ए कर्मदी जॉन कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ जर्जमेट, पृ० ३८२

२. वैम्स क्रीड मेरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ जर्जमेट, पार्ट-२ क्रिटिक् ऑफ टिलिओलाजिकल जर्जमेट, पृ० ६५

वाकारिक नहीं है। देश के अन्तर्गत कोई भी अंश निर्धारित नहीं होते हैं, अंश सम्मिश्र के साथ अपने सम्बन्ध में ही निर्धारित होते हैं अतः समष्टि का प्रस्तुतिकरण हो अंशों के प्रस्तुतिकरण की नहीं है।

हम प्राकृतिक जगत के यथार्थ अधिष्ठान और अतीन्द्रिय के एक प्रत्यय को प्राप्त करते हैं। इस अधिष्ठान को ज्ञान द्वारा अनुभव की व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध गौरव जगत से है, हम याम्बिक नियमों का ही प्रयोग करते हैं। ये नियम ही देश व काल के अन्तर्गत प्रस्तुत होने वाली वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते हैं। प्रकृति का सम्बन्ध केवल गौरव पर ही लागू होता है, इसलिए प्रकृति के वाकारों व विशिष्ट नियमों की उकाई तथा सामंजस्य का बहिष्कार नहीं किया जाता है। प्रकृति का अतीन्द्रिय अधिष्ठान तर्कबुद्धि प्रज्ञा का एक वस्तु-विषय है। जब स्वयं गौरव के विभिन्न लक्षणों को गौरव के अतीन्द्रिय अधिष्ठान के प्रत्यय के साथ मिला देते हैं, तब हम दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए हमारे समक्ष केवल अन्तिम कारण का प्रत्यय ही रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रयोजनमूलक निर्णय-वृत्ति बुद्धि और तर्कबुद्धि प्रज्ञा द्वारा प्रकृति के वस्तुनिष्ठ अर्थात् वास्तविक सप्रयोजनता की कल्पना करती है। याम्बिक और प्रयोजनात्मक—इन दो विभिन्न सिद्धान्तों द्वारा प्रकृति पर निर्णय दिया जाता है। याम्बिक सिद्धान्त गौरव के रूप में परिलक्षित होने वाले वस्तु-विषयों पर प्रयुक्त सबसे अधिक होता है तथा प्रयोजनमूलक सिद्धान्त गौरव और अगौरव के सम्भाव्य सम्बन्ध के लिए अपेक्षित होता है, अतः ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के प्रतिकूल नहीं होते हैं। इस प्रकार प्रयोजनमूलक सिद्धान्त एवं प्राकृतिक

१. एन० डब्ल्यू कैसिरर, ए कर्मेटी रॉम कान्ट्स क्रिटिक् वॉफ़ जर्मेनट, पृ० ३८३-८४

२. जेम्स फ्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् वॉफ़ जर्मेनट, पृ० ३४

“...The teleological judgement...is meant...the faculty of estimating the real finality (objectivity of nature) by understanding and reason.”

वस्तुओं के एक यान्त्रिक उद्भव के सिद्धान्तों में कोई व्याघात नहीं दृष्टिगत होता है। जब प्रकृति की वस्तुओं का विशेष लक्षणों से युक्त होने के कारण हम प्राकृतिक साध्यों के रूप में ग्रहण करते हैं, तब यान्त्रिक नियमों द्वारा उनकी व्याख्या करना असम्भव हो जाता है। कान्ट यह प्रतिपादित करते हैं कि कोई भी मानवीय स्वीकृत बुद्धि यान्त्रिक कारणों द्वारा सरलतम संगठित सत्ता की उत्पत्ति के लिए उदाहरण नहीं होती, इसलिए इस प्रकार की वस्तुओं से सम्बन्धित हमारे निर्णयों में अन्तिम कारण का सिद्धान्त अपरिहार्य एवं आवश्यक हो जाता है जहाँ ज्ञान के विस्तार के लिए यह अनिवार्य है। इस प्रकार विश्व-कारण के रूप में इस सप्रयोजनता-सम्बन्धी स्वतंत्र स्रोत को हम मौलिक बुद्धि में ही प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसी अन्तिम कारण की शक्ति में हम ईश्वर के अस्तित्व को नैतिक सिद्धि प्रदान करते हैं।

एक मौलिक प्रयोजनवाद के आधार पर हमारी सैद्धान्तिक तर्क बुद्धि ज्ञात के एक बुद्धिमान कारणों का स्वीकार करती है। नैतिक-प्रयोजनवाद के आधार पर व्यावहारिक तर्क-बुद्धि द्वारा हम नैतिक नियमों से युक्त होते हैं; ये नैतिक नियम जहाँ अपने आप में ही युक्त कारणता को मान्यता देने के लिए बाध्य कर देते हैं। कर्म की प्रेरणा की दृष्टि से नैतिक प्रयोजन। प्राकृतिक ज्ञात से पूर्णतया स्वतंत्र है किन्तु कर्म के परिणाम की दृष्टि से यह प्राकृतिक ज्ञात से सम्बन्धित होता है। नैतिक नियमों के अनुसार हमारे कृत कर्म प्राकृतिक मौलिक बानावरण पर प्रभाव डालते हैं। हम जानते हैं कि मानव एक स्वतंत्र नैतिक कर्ता होने हुए भी संवेदनशील प्राणी है, प्राकृतिक प्राणी है, इसलिए कर्म में नैतिक उद्देश्यों का स्पष्टीकरण उसकी अपनी संवेदनशील प्रकृति पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। मानव कर्मों के प्रभाव से बाध्य ज्ञात भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है। यहाँ हमारी तर्क-बुद्धि प्रश्न एक ऐसे सिद्धान्त की शक्ति करने के लिए बाध्य हो जाती है, जिसका विश्व से परे एक स्वतंत्र अस्तित्व हो और जो नैतिकता के अन्तिम साध्य और प्रकृति की

१. जैम्स क्रीड मैरेडिथ, कान्ट्स क्रिटिक् आफ जर्नेट, पृष्ठ ६६

अभाव नहीं रहता है, किन्तु नैतिक प्राणी के रूप में यह अपने लिए परम रूप से अनिवार्य साध्य को नियत करता है। प्रयोजनात्मक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि--मिन्नमशील बुद्धिजीवी प्राणी के लिए निरपेक्ष नैतिक नियमों के अन्तर्गत रहने वाला अन्तिम साध्य ही है जिसे वह अपने लिए निर्धारित करता है। इस प्रकार नैतिक नियम के अन्तर्गत बौद्धिक सत्ताएं संपूर्ण दृष्टि के अन्तिम साध्य हैं।

प्राकृतिक व यान्त्रिक रूप से व्यवस्थित जगत का निवासी होने के कारण विवेकशाल प्राणी अपने कर्मों के फलस्वरूप सानन्वता के जाकांक्षी होते हैं। सानन्वता के साथ सद्गुण का उत्कृष्ट सम्बन्ध ही हमारा स्वार्थ्य निःश्रेयस है, यही हमारा विवक्षित साध्य है, यही नैतिक नियम की अनुरूपता में परम रूप है। हम जानते हैं कि प्राकृतिक अनिवार्यता के स्वरूप में कोई भी वस्तु हमें यह कहने का अधिकार नहीं प्रदान करती कि नैतिक नियम के व्यावहारिक अनिवार्यता की साधना अनुप्राप्ति ही रहता है। यदि हम अपनी तर्क बुद्धि की समस्त मार्गों को पूर्ति करना ही और परम निःश्रेयस की सद्गुण और सानन्वता के अनुपात में गृहण करना ही तो हमें प्रकृति से मिन्न एक ऐसे कारण की

१. जॉर्ज टिपले क्षियटनी और बावर्स, वि. गेरिटेज़ ऑफ़ कान्ट, पृष्ठ २३६

"That 'rational beings under the moral law' are the final end of all creation is a conclusion to which Kant thought even 'the commonest understanding' would give consent. Without men the whole of nature would be a waste and 'in vain.' But it is not merely as a natural object--that he is the final end, for what worth he has in this respect is conditioned on his animal nature and is bestowed on him by his environment. What gives man absolute worth and thereby fits him to be the final end he owes to the value reason has--to the specifically moral value he acquires by living up to his character as a rational being. Of man so far as he is moral the question 'why he ...exists' is therefore meaningless. This is implied in the very meaning of morality."

मान्यता केनो बाहिर जो सामान्यता और नैतिकता दोनों साध्यों की एकताबद्ध करने सामंजस्य में लावे । यह कारण नैतिक ही हो सकता है, यौगिक कारण नहीं हो सकता है । इस प्रकार परम साध्य की धारणा एक नैतिक कारण के अस्तित्व को या ज्ञात के रक्षिता के अस्तित्व को पूर्ववकीकृति देती है । इस प्रकार हमारे समस्त नैतिक वेतना का ही अधिष्ठान है जिसके बावज़र पर हम यह प्रतिष्ठित एवं प्रतिपादित कर सकते हैं कि सृष्टि के एक अंतिक कारण अथवा परम साध्य का अस्तित्व है । कहने का तात्पर्य यह है कि एक नैतिक प्रयोजन का अस्तित्व है ।

परम साध्य की अनुमति होनी बाहिर; तर्क बुद्धि प्रज्ञा की इस अपरिहार्य मांग को औचित्यपूर्ण बनाने के प्रयत्न में ही हमें नैतिक प्रयोजनवाद से हठधर-मीमांसा की ओर अगसर जाना पड़ता है । जब तक हम यह नहीं स्वीकार करते कि बौद्धिक और नैतिक गुणों से युक्त हठधर ने ही प्रकृति तथा हमारे नैतिक परम साध्य में संपत्ति उत्पन्न की है, तब तक हम तर्क बुद्धि प्रज्ञा द्वारा अपेक्षित प्रकृति और नैतिक साधन के सामंजस्य की सम्भाव्यता की नहीं जान सकते हैं । इस विषय से सम्बन्धित मिश्रित निष्कर्ष निकाले जाते हैं अपितु अनुपेक्षितवात्सक्य मिश्रित होते हैं । मिःसम्वैद परम नैतिक नियमों की स्थापना करने वाली तर्कबुद्धि प्रज्ञा उस तर्कबुद्धि से पूर्णतया स्वतंत्र है, जो उस प्रकृति में अनुगन्धनों को प्रस्तुत करती है जिसमें नैतिक नियमों की अनुमति की जा सकती है । दूसरे प्रकार की तर्क-बुद्धि प्रज्ञा सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि प्रज्ञा से सम्बन्धित होती है, व्यावहारिक प्रज्ञा से नहीं । परन्तु हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि ज्ञात के सर्वांग बुद्धिमय कारण में ही सैद्धान्तिक और व्यावहारिक तर्कबुद्धि प्रज्ञा के विरोध की भांति एक विरोध है और उसमें भी परम साध्य के लिए प्राकृतिक साध्यों द्वारा अपेक्षित कारणता से भिन्न एक कारणता अपेक्षित है । अतः हम इस प्रकार का अनुमान नहीं कर सकते कि ज्ञात का सर्वांग कारण एक नैतिक प्राणिक है, जो विशिष्ट साध्यों के प्रत्यय को स्थापित करता है तथा उनकी अनुमति के लिए जाने बढ़ता है । हम इस तथ्य की भी मान्यता नहीं दे

सकते हैं कि--सर्वाच्च कारण की सहायता एक ऐसी सहायता है, जो प्रयोजनयुक्त होकर ही प्रकृति के अनुकूल व्यवस्था बनाती है, इसलिए नैतिक नियमों के साथ इसका सम्बन्ध हो जाता है। हमारे लिए यह जानना सर्वप्रथम हो जाता है कि तर्कबुद्धि की रचना द्वारा परम साध्य और सापेक्षिक साध्यों के विरोध को किस प्रकार समाप्त करते उनमें संगति एवं सामंजस्य लाया जा सकता है, क्योंकि इसे ही नैतिक नैतिक नियमों के साथ प्रकृति को अनुकूलता द्वारा ही निष्पादित किया जा सकता है। अतः जगत का सर्वाच्च कारण नैतिक जगत का रचयिता या शासक नहीं है वरन् विश्व की नैतिक नियम प्रदान करने वाला भी है। हमारा तर्कबुद्धि अपने मौलिक स्वरूप के विरुद्ध ईश्वर के स्वयं का निर्धारण निर्धारित निर्णयों के सिद्धान्तों द्वारा करता है तथा व्याघात उत्पन्न होता है। अन्तिम कारण या प्रयोजन के प्रत्यक्ष के द्वारा ही हम अपने शप की परम सहाय के स्वरूप की अनुभूति करा सकते हैं, किन्तु ये सिद्धान्त केवल नियामक हैं, रचनात्मक या सृष्टिकर्ता नहीं। अतः प्रयोजनमूलक निर्णयकत्वन्वयी विपत्तिरहित को समाप्त हम यांत्रिक कारणवाद तथा प्रयोजन कारणवाद दोनों भिन्नतात्मक सिद्धान्तों को नियामक मानकर ही कर सकते हैं। अतः इस प्रकार सिद्ध होना है कि प्रयोजनमूलक निर्णय-शक्ति, बुद्धि और तर्कबुद्धि प्रकाश द्वारा प्रकृति के वस्तुनिष्ठ अंतिम सप्रयोजनता का अनुमान करती है।

अध्याय--५
=====

शंकर के दर्शन में द्रन्दन्याय का प्रयोग

जब तक हम इस विषय के निरूपण में पूर्णतया व्यस्त थे कि दार्शनिक कान्ट के कुछ बुद्धि, कृत्य बुद्धि तथा मिथ्य-सम्बन्धी सीमासाक्षात् में द्रन्दन्याय का क्या प्रयोग है ? तत्सम्बन्धी विषय में हमारा जो कुछ भी धियेन है पुनः उसकी वास्तुिक करना अनावश्यक है, यहाँ हमें केवल यह अवलोकन करना है कि कान्ट की सम्पूर्ण कृतियों में द्रन्दन्याय का कार्य ही उनके दर्शन का कार्य है, और यही वह जालीबना है, जिसके द्वारा वे तर्क-बुद्धि प्रज्ञा के मतानुष्ठीय सैदान्तिक प्रक्रिया को समझते हैं क्योंकि तर्क-बुद्धि के प्रत्येक ऐन्ड्रिय या अतीन्ड्रिय क्षेत्रों में प्रभाव रखने के दावे को समझते हैं। जब उनके जालीबनात्मक अभिप्राय का प्रमुख अभिप्राय एक प्रागनुमयी विधि से तर्क बुद्धि के विस्तार अथवा सीमा को निर्दिष्ट करना होता है, तब यह अपने पीछे एक अवशेष भी छोड़ जाती है, यह अवशेष ज्ञान का अवशेष है तथा यह वस्तु-विषयों का ऐसा संज्ञान है जो व्यवहार या गौर के क्षेत्र की रचना करता है। यह संभव हो सकता है कि कान्ट की जालीबना का प्रमुख लक्ष्य तर्क-बुद्धि की अज्ञात विश्वास के दावे को सुरक्षित रखना था, क्योंकि वह कहते भी हैं कि " मैं ज्ञान का परिसीमन इसलिए कर रहा हूँ ताकि अज्ञात को स्थान दे सकूँ।" परन्तु ऐसा करने में वह सफल नहीं हो सके क्योंकि ज्ञान क्या है; इसे वह प्रतीति नहीं बता सके। इसलिए हम कह सकते हैं कि कान्ट के दर्शन में द्रन्दन्याय का एकमात्र समर्पित एवं प्रमुख लक्ष्य अतीन्ड्रिय या अगोचर अथवा परमार्थ या अप्रतिबद्ध को ज्ञान की परिधि से निष्कासित करके उसकी रक्षा करना था। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान की सीमा में कान्ट ने इसे स्थान ही नहीं दिया। जब द्रन्दन्याय बुद्धि-युक्त मनोविज्ञान के तर्कानुसृत विरोधों, बुद्धि-युक्त सुष्टि-विज्ञान के विप्रतिषेधों, अथवा ईश्वर एवं नैतिकता, अमिथ-वि तथा

प्रयोजन इत्यादि के चीजों से सम्बन्धित विषयों के बौद्धिक प्रमाणों की न्याय-असंगतता को अभिव्यक्त करता है, तब कान्ट इसे केवल एक बालोचना का ही स्तर प्रदान करते करते हैं, जिसका वास्तविक उद्देश्य तर्क-बुद्धि प्रज्ञा की चेतना के सैद्धान्तिक स्तर पर उसकी सीमाओं का बोध कराना है। यहाँ अज्ञात के ज्ञात तथा तर्क-बुद्धि के ज्ञात चीजों की मौलिक रूप में इस प्रकार भिन्न हो जाते हैं कि उनके बीच की इस भिन्नता को, उन्हें ज्ञान के अन्तर्गत लाकर कुछ दूर नहीं किया जा सकता है क्योंकि उनके बीच की खाई को ज्ञान द्वारा पाटा नहीं जा सकता है। हम जानते हैं कि किसी भी प्रकार की नैतिक, वा-व्याप्तिक अथवा सौन्दर्यात्मिक आनन्द की अनुमति को तार्किक या बौद्धिक साधे में नहीं ढाला जा सकता है। तर्क केवल ज्ञान के चीज के अन्तर्गत ही क्रियाशील होता है तथा उपरोक्त स्थितियाँ अति-बौद्धिक हैं, इसलिए वे ज्ञान से परे हैं और इसी कारण तर्क से भी परे हैं, अतः परमार्थ या अतीन्द्रिय के लिए कोई तर्क नहीं है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कान्ट ने प्रयत्न किया और अज्ञात के ज्ञात को मान्यता दी। यह कहा जा सकता है कि कान्ट द्वारा गृहीत अज्ञात के ज्ञात की न्याय-वाचित्यता अतीन्द्रिय और अप्रतिबद्ध के लिए एक अंतिम तर्क है परन्तु फिर भी कान्ट अपने प्रयत्न में केवल असफल ही नहीं रहे बल्कि उन्होंने अज्ञात का ज्ञान के साथ, ज्ञान का नैतिकता के साथ और ज्ञान का वा-व्याप्तिक अनुमति के साथ सामंजस्य हो सकता है इसे पुनः पूर्वक अस्वीकार कर दिया।

१. लेविस् व्हाइट बैक, हमें कान्ट, क्रिटिक ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न, पृष्ठ १४

२. एच० डब्ल्यू० कैथरिन, ए कर्नली जॉन कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ जजमेन्ट, पृष्ठ ५३

"We may now conclude our examination of the transcendental dialectic. We have learned from it that Kant's investigation into reason and it's concept has confirmed the fact that the human mind is excluded from our knowledge of supersensible objects. Our field is the world of experience."

शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय जो स्थिति उत्पन्न करता है वह पूर्णतया एक मिन्न स्थिति है । हम शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय के व्यापक लक्ष्य और कार्य के बारे में विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे परन्तु इस सम्बन्ध में हम जो कुछ भी संकेत कर सकते हैं, वह यह है कि कान्ट तथा शंकर के द्वन्द्वन्याय-सम्बन्धी विचारों में मूलतः विभिन्नता है । द्वन्द्वन्याय के प्रयोग द्वारा शंकर जो कुछ भी दर्शाते हैं, वह तर्क बुद्धि की मतागुही व सैद्धान्तिक प्रक्रिया नहीं है बल्कि इसके द्वारा वह ज्ञानन्दमय जीवन के उस आवर्त से संलग्न विभिन्नताओं की न्याय कर्मगतता को दर्शाते हैं जिसे आवर्तों को हमें खोजना होता है । पुनर्-निवारण की जागृति की अवस्था में रह कर हम जीवन और वस्तुओं के प्रति वस्तुगत दृष्टिकोण द्वारा निर्धारित अवस्थाओं के साथ अपने आपकी स्वरूपित करके उस आवर्तों को पाने के लिए बाध्य रहते हैं । शंकर के द्वन्द्वन्याय का लक्ष्य केवल वस्तुगत दृष्टिकोण के जात्मघाती स्वरूप को खिलाना है । यह वस्तुगत दृष्टिकोण इस अर्थ में आत्म-वसिष्ठ है कि यह ज्ञानन्दमय जीवन या मुक्त जीवन से अलग है । ज्ञानन्दमय जन्तुजानि अर्थात् जीवन-दृष्टि जिसमें सम्पूर्ण कामनाएं पूर्ण एवं शान्त हो जाती हैं और जिसमें भय, दुःख या अपाव नहीं होता वह दृष्टि नित्यानन्द के लिए द्वैत, नानात्व आदि बाधक तत्त्वों को कोरे भी स्थान नहीं देती । यहाँ हम अपने प्रतिपादित एवं विवेचित विषय का एक संक्षिप्त तथा सांकेतिक विवरण देते हैं । शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय आलोकना करने के लिए एक समीक्षा नहीं है जैसा कि हम कान्ट तथा माध्यमिक दर्शन में प्राप्त करते हैं । यहाँ द्वन्द्वन्याय के प्रमुख दो लक्ष्य हैं -- (१) यह खिलाना कि केवल अद्वैत दर्शन ही उस मोक्ष के लिए एक उचित बीजमंत्र है जो सम्पूर्ण मूर्खों का मुख्य है । केवल शंकर के दर्शन में ही नहीं जिसे कि हमें स्पष्ट करना है वरन् सब कथित अद्वैत इतर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में भी अद्वैत ही बीजमंत्र है,

(२) यह सिखाना कि मुक्ति ही जिसे कैवल्य और निर्वाण के रूप में वर्णित किया गया है, जीवन का आदि एवं अन्त अर्थात् सब कुछ है, सर्वोत्तम एवं सर्वोच्च लक्ष्य है, परम निःश्रेयस^१ है। अन्य यद्वैत दर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदाय बाह्य वह शास्त्र-सम्मत हों या शास्त्र-विरुद्ध, बाह्य वैदिक हों या अवैदिक, बाह्य वेद-सम्मत हों या वेद-विराधी, सभी एक साठकर्म एवं सामंजस्य रखते हुए भी आंशिक दृष्टिकोणों से युक्त हैं तथा सभी ने एक पूर्ण दृष्टि से इस आनन्दमय अस्तित्व को देखा है। शंकर के दर्शन में द्वन्द्वन्याय का प्रमाण केवल दृष्टि-सम्बन्धी इसी मूल की प्रदर्शित करना है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की उनके द्वारा आलाचना का उद्देश्य उनका खंडन करना तथा उन्हें निरर्थक प्रदर्शित करना नहीं था^२। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रयत्न केवल यह सिद्ध करना है कि यदि मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य तथा निर्वाण इत्यादि ही सब दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य है तो इससे यही स्पष्ट होता है कि इनमें एक अपेक्ष दृष्टि ही कार्यशील होगी। इसलिए स्पष्ट रूप से हमें यह तथ्य प्राप्त होता है कि शंकर द्वारा विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की आलाचना करने का प्रमुख लक्ष्य उनकी विभिन्नताओं को पिछाने की अपेक्षा उनमें निहित भारतीय आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक जेतना की एकता का उपलक्षित करना था।

१. पद्मपाद की पंचपादिका, बाल्यूप सी-७, अनुवादक डी. वेंकटरमहया,
सम्पादक श्री ० मद्राचार्य, पृ० ३७ (भूमिका में)

"The realisation of the Atman's identity with the
Absolute is the highest human end--Paramapurusārtha."

२. श्री एस. एस. ० राय, दि रीटिज आफ शंकर, पृ० १५५

"Without standing in a situation antagonistic to other systems of Indian philosophical thought, the Advaita only helps to invest them with a transparency, which they lack in a false perspective."

३. स्वामी अनुमानवेश जी केरुशास्त्री हिन्दी व्याख्याकार, महाकवि श्री हर्ष-
पूजित, बण्डमठ, बाराणसी, श्री शंकर मिश्र विरचित 'शंकरो' सहित 'तत्त्व-

अतः शंकर के अद्वैत दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों के बीच जो अक्षमता है, उसकी उपेक्षा किसी भी भारतीय दार्शनिक विचार एवं कान्ट के दर्शन के बीच एक महान् अन्तर है। इसलिए कान्ट के विचार दर्शन तथा भारतीय विचार-दर्शन के मध्य एक अन्यन्त गलम खाई दृष्टिगत होती है।

शंकर के अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की उनकी आलोचना के विषय में द्वन्द्वन्याय का क्या प्रयोग है, यहाँ हम इसी का विवेचन करेंगे। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय-सम्बन्धी शंकर की द्वन्द्वन्यायात्मक आलोचना का विवेचन हम निम्न दो समुदायों में करेंगे —

(१) सास्त्र-सम्मत समुदाय जिसमें सांख्य, वैशेषिक तथा अन्य आस्तिक दर्शन सम्मिलित हैं।

(२) सास्त्र-विरोधी समुदाय जिसमें बौद्ध तथा जैन आदि दर्शन सम्मिलित हैं।

शंकर द्वारा सांख्य दर्शन की आलोचना

प्राचीन भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सांख्य दर्शन की भी गणना एक अत्यन्त प्राचीन सम्प्रदाय के रूप में की जाती है^१। एक ऐसा दर्शन सम्प्रदाय है जो दो प्रकार के प्रमाणों का दावा करता है :—(१) शास्त्र-सम्मत होने के कारण यह दर्शन अग्रिम्या, शास्त्रों व द्युति का समर्थन प्राप्त करने का दावा करता है और (२) उत्कृष्ट रूप से निगमनात्मक या तर्कमूलक स्वरूप का होने के कारण कैसा कि इसका नाम भी 'सांख्य दर्शन' है इसकी तर्क की वृत्ति उपलक्षित होती है। वस्तुतः यह एक ऐसा दर्शन सम्प्रदाय है जिसके अविचार्य ज्ञेयत्व तथा वैचारिक रूप इत्यादि अनुमान या तर्क से ही व्युत्पन्न हुए हैं। यह एक अनुमान-

१. डा० ब्रजमोहन जसुवैदी, सांख्यकारिका (हंसवरकृष्ण-विरचिता सांख्यकारिका की विस्तृत भूमिका एवं भाषा-भुवाद सहित 'वदुराधा' संस्कृत-हिन्दी विश्व व्याख्या) पृ० १६

२. वही, पृ० २८-२९

प्रधान दर्शन है। परन्तु फिर भी सांख्य के विषय में जो कुछ कहा जा सकता है यह यह है कि सांख्य दर्शन पर वेद-शास्त्र के वर्णों का प्रभाव है क्योंकि इसके प्रमुख सिद्धान्त किसी भी पदार्थ में द्युति-वर्णों से विराध एवं अलगता नहीं रखते।

वस्तुतः ज्ञान-दर्शन के समर्थक के रूप में शंकराचार्य जी सांख्य दर्शन की आत्यन्तिक विशेषताओं तथा उसके विस्तृत विवेक को दम्बन्यायात्मक परीक्षा का विषय बनाते हैं। दम्बन्यायात्मक परीक्षा का तात्पर्य है एक ऐसी परीक्षा जो पूर्णरूपेण तर्क पर आधारित है। ब्रह्मसूत्र पर की गयी अपनी व्याख्या में शंकर ने यह दिखाया है कि सांख्य दर्शन के प्रथम सिद्धान्त, उद्देश्य तथा अन्य सिद्धान्त सम्बन्धी विस्तृत विशेषताएं द्युति के अभिप्राय एवं उचित ज्ञान से सामंजस्य नहीं रखते, संगति नहीं रखते।

द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में सांख्य-दर्शन के सैद्धान्तिक आख्यायिका के अन्तर्गत एक विशुद्ध बौद्धिक या तार्किक समीक्षा की गयी है। यह संभव है कि एक मन्द-बुद्धि व्यक्ति अपनी अल्प-बुद्धि से सांख्य दर्शन जैसे किसी भी दर्शन से प्रभावित हो सकता है, इसलिए तार्किक रूप में यह दर्शना व प्रमाणित करना अत्यावश्यक हो जाता है कि सांख्य दर्शन के सिद्धान्त तथा मत सर्वोच्च ज्ञान के स्वरूप से अलग होते हुए बौद्धिक रूप से अस्वीकार्य हैं जबकि केवल यह ज्ञान ही सर्वोच्च लक्ष्य अर्थात् मुक्ति की अनुमति के लिए सहायक भी है। अतः शंकराचार्य द्वारा की गयी सांख्य दर्शन की आन्वीक्षात्मक परीक्षा का उद्देश्य इसका खण्डन मात्र करने के लिए ही सांख्य-बौद्धिक सिद्धान्तों का खण्डन करना नहीं है। यहाँ पर विवक्षित लक्ष्य वैशान्त मत के सारभूत सिद्धान्तों की रक्षा प्रतिपक्षी की अलगता को सिद्ध कर करना है, परन्तु प्रतिपक्षी की यह अलगता केवल द्युति के वर्णों से ही नहीं पिताना है बल्कि वैध अनुमान के सिद्धान्तों व मापपण्डों से भी दृष्टिगत कराना है। इसके अतिरिक्त सांख्य द्वारा प्रतिपादित अनुमान तथा सिद्धान्तों का खण्डन करने में शंकर का प्रमुख स्वीकृत एवं प्रकट लक्ष्य यह

१. यतिवर श्री मौलै बाबा, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य-रत्नप्रभा भाषानुवाद सहित,
भाग दो, अध्याय २ पा-१, अधि-१ सू० १ पृ० ६३६

विश्वरहित करना है कि सांख्य दर्शन सम्प्रदाय की प्रमुख भूल यह है कि हमने अपने संपूर्ण विचार एवं सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों को तर्क पर ही निर्मित किया है। तर्क तो केवल बुद्धि का सहायक ही हो सकता है, यह स्वयं अपने आप सदा वध्वा सत्य का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकता है। जब तार्किक रूप से स्वीकृत किसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए तर्क का प्रयोग किया जाता है, केवल तभी तर्क को एक त्रुटिपूर्ण स्थान नहीं दिया जाता है।

प्रस्तुत विवेचित विषय के प्रसंग में ये दो बातें महत्वपूर्ण एवं विचारणीय हैं—

(१) सांख्य-दर्शन की जाहानना से उत्पन्न प्रमुख सिद्धान्तों व तथ्यों को सांख्यिक रूप में प्रस्तुत करना।

(२) यह विस्तार कि कहाँ तक सांख्य दर्शन के विचार-दृष्टि में सुधार करके और उसे पुनर्व्यवस्थित करके इस पक्ष का समर्थन किया जा सकता है कि पार्श्वसांख्य दर्शनों की अपेक्षा सब भारतीय दर्शन-व्यवस्थाएं अद्वैत दर्शन के अधिक समीप हैं। अतः यहाँ हम सांख्य दर्शन को अद्वैत दर्शन के अत्यधिक समीप लाने का प्रयत्न करेंगे परन्तु यह व्यक्त करते समय हमें इस तथ्य को विस्मृत नहीं कर देना है कि जिस रूप में सांख्य दर्शन प्रस्तुत किया गया है, वह अज्ञेयताओं एवं विरोधों से युक्त है तथा सर्वोच्च ज्ञान के लक्ष्य एवं प्रयोजन के विरुद्ध बला जाता है।

अद्वैत तथा सांख्य दोनों ही दर्शनों द्वारा स्वीकृत यह सर्वोच्च ज्ञान मोक्ष अर्थात् सर्वोच्च पुरुषार्थ या अंतिम मूल्य का समविस्तारी है।

(१)

सांख्य दर्शन का एक बौद्धिक पुनर्परीक्षा के रूप में वर्णित करने की आवश्यकता क्यों उत्पन्न होती है तथा इसमें क्या-क्या त्रुटियाँ व कमियाँ निहित हैं, इनकी संक्रावायें जो वापरायण रचित ब्रह्मसूत्र के रचनानुपत्यधिकरणम् की अपनी समीक्षा में निम्न प्रकार से निरूपित करते हैं —

१. पी. नागराज राव, इन्स्टीट्यूट ऑफ वेदान्त, पृ० ३४-३५ तथा पृ० ११३-१४

जब सांख्य विचारक उस मूलभूत कारण के स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयत्न करते हैं जिस प्रभु कारण से ज्ञात की रचना हुई है तब वे यह युक्ति देते हैं कि उस कारण को एक ऐसी सामान्य विशेषता से युक्त होना चाहिए जिससे हम संपूर्ण रचना या कार्यों में उपस्थित पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण ज्ञात में सामान्य परिलक्षित होने वाला तत्त्व ही ज्ञात का मूल या अंतिम कारण होना चाहिए। दृष्टान्त के रूप में वे कहते हैं कि जिस प्रकार सभी पार्थिव रत्नारंज जैसे घट इत्यादि पार्थिव होने के सामान्य गुण से युक्त होती हैं क्योंकि मृत्तिका का होना उनमें सामान्यतया व्याप्त है, इसलिये निश्चित ही उनके कारण के रूप में मृत्तिका को ही स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञात-सम्बन्धी आन्तरिक एवं बाह्य सभी अनुभूतियाँ जिनसे हम सम्बन्धित होते हैं, उन सर्वसामान्य अनुभवात्मक गुणों से युक्त है, जिनमें सुप्तपुनः, दुःसप्तपुनः तथा मोह के नाम से वर्णित किया जाता है। अतः सांख्य के अनुसार यह स्वीकार करना अवश्यपूर्ण है कि ज्ञात का मूल कारण सुप्त-दुःसप्त तथा मोह से निर्मित एक सामान्य अधिष्ठान ही है। अतः में सांख्य पार्श्विक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि प्रधान या प्रकृति सुप्त-दुःसप्त व मोह इन तीनों गुणों से युक्त है क्योंकि ज्ञात में सभी पदार्थ इनसे परिपूर्ण दृष्टिगत होते हैं तथा किसी भी पदार्थ की भाँति यह प्रकृति अवैतन भी है इसलिये ज्ञात का अन्तिम मूल सर्वसामान्य कारण प्रकृति है। उदाहरणस्वरूप एक मृत्तिका का ढेर तथा इसके विभिन्न रूपान्तरण घट इत्यादि जिसे हम इसके परिणामी कार्यों के रूप में समझते हैं, वैतन घुलान या वात्पार्श्वों के प्रयोजनों तथा आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। सांख्य का यह मत है कि ज्ञात में सब बाह्य एवं आन्तरिक विकार सुप्त, दुःसप्त मोहात्मकता से युक्त हैं इसलिये हमका आधारण कारण भी इन्हीं तीनों गुणों से युक्त होना चाहिए, जो सुप्त-दुःसप्त मोहात्मक सामान्य है वह त्रिगुणात्मक प्रकृति प्रधान ही है।

१. डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, सांख्यकारिका, मृत्तिका में, पृ० ८२

२. वही, पृ० ८३-८४

मुष्का की भांति यह अवैतन पुरुष के योग और केवल्य रूप अर्थों को सिद्ध करने के लिए अपने स्वभाव से ही विचित्र विचार रूप से कार्यशील रहती है। सब प्रकृत या प्रत्यक्ष तथा कार्यगत परिणामों या वस्तुओं की सीमा पर आधारित अन्य विशिष्ट तर्क विचार अप्रकृत प्रधान या प्रकृति के विषय में स्वीकृत अनुमान का ही समर्थन करते हैं, अतः सांख्य यह अनुमान करते हैं कि शुल-दुःस मोहात्मक प्रधान ही ज्ञात का मूल हेतु है।

सांख्य की इस स्थिति के विरुद्ध हमें इस तथ्य का समर्थन करना है कि अवैतन प्रधान या प्रकृति से इस विचित्र ज्ञात का निर्माण असम्भव है क्योंकि प्रकृति ज्ञात का मूल कारण नहीं है।

हम देखते हैं कि सांख्य भूत का अनुमान अनुभव एवं निरीक्षित वृष्टान्तों पर ही आधारित है परन्तु वस्तुतः ज्ञात में कहां भी हमें कोई ऐसा वृष्टान्त एवं अनुभव नहीं प्राप्त होता जिसमें प्रकृति के समान एक अवैतन तत्त्व एक वैतन नियन्त्रणकर्ता तथा निर्वक्ष के अभाव में किसी भी कार्यगत परिणाम को उत्पन्न करे तथा मानव को विभिन्न विशेष आवश्यकताओं को तृप्त करने में समर्थ हो। हमें स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ज्ञात में सर्वत्र परिष्कृत होने वाली वस्तुओं जैसे मवन, मण्डल, शयन आसन तथा विभिन्न अट्टालिकाओं की रचना एक बुद्धिमान कलाकार ही काल के एवं आवश्यकता के अनुसार शुल की प्राप्ति एवं दुःस का निवारण करने के लिए अवैतन प्राकृतिक पदार्थों द्वारा ही करता है। इतना ही नहीं संपूर्ण वास्तव ज्ञात में मानव के बुद्धिमान अनेक भिन्न-भिन्न कर्मफल के उपयोग के लिए एक उपयुक्त स्थल प्रधान करने के प्रयोजन से पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि जैसे अनेक तत्त्व भी प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त मानव तथा अन्य जीव पशु इत्यादि की भी सृष्टि में हमें वैविध्य प्रसिद्ध होता है, हमारा शरीर विभिन्न असाधारण अवयवों से युक्त है तथा विभिन्न जानियों से युक्त असाधारण अवयवों से सुसज्जित

१. संस्वरकृष्ण विरचित, भाषानुवाद एवं अनुराधा संस्कृत-हिन्दी व्याख्यापेता,
सांख्यकारिका, पृ० ५६

२. डाक्टर ब्रजमोहन चतुर्वेदी, सांख्य कारिका, मुष्का, पृ० ८२-८३

एवं उचित तथा वनेक कर्मकारों के ~~अनुसृत~~ अनुभव के अधिष्ठान रूप उद्दिष्टमान शरीर से युक्त सभी प्राणिमात्र हत्यादि बाध्यात्मिक जात की रचना में भी वैधिय्य दृष्टिगत होता है, क्या ऐसे अव्युत्त विश्व का सृजन एक जैतन जड़प्रधान द्वारा रबीकार करना हमारे लिए संभव एवं उचित है ? किसी भी जैतन पदार्थ जैसे मिट्टी, पत्थर हत्यादि में हमें इस प्रकार की उक्ति नहीं दी जाती कि वह जैतन कुम्भकार या शिल्पी के अपाव में ही घट या मल्ल का निर्माण कर दे, इसके लिए एक जैतन कर्ता का होना अत्यन्त आवश्यक है । अतः यदि हम प्रधान को ही अव्युत्त जात का मूल कारण रबीकार करते हैं, तब हमें भी एक अन्य जैतन तत्त्व से अधिष्ठित मानना होगा तथा यह युक्ति प्रस्तुत करनी होगी कि जैतन प्रधान या प्रकृति भी एक जैतन तत्त्व द्वारा ही नियन्त्रित व मार्गदर्शित होकर ही जात का एक विविध कार्यरूप परिणाम में सृजित करती है । जब हम जात के प्रसूततया मूल कारण के निर्धारण का प्रयत्न करते हैं तब हमें इसके उपादान व निमित्त सभी कारणों का विचार करना चाहिए क्योंकि ऐसा कोई भी नियम तथा औचित्य नहीं है कि घट के कारण पर विचार करते समय हम केवल उसके उपादान कारण मिट्टी को ही प्रसूतता प्रदान करें तथा उसके जैतन बुद्धिमान निमित्त कारण का परित्याग कर दें । हमें एक जैतन बुद्धिमान कारण को अपरिहार्य रूप से मान्यता देनी चाहिए । ऐसा करने में हम किसी भी प्रधान जैसे धृति, वेद आदि का विरोध नहीं करते बल्कि उनका अनुशील ही करते हैं, क्योंकि धृति स्वयं ही एक क्रियाशील जैतन कारण को मान्यता प्रदान करके उसका प्रतिपादन करती है । अतः संक्षेप में हमें यह ख्याति होगी कि प्रधान जात का मूल कारण नहीं हो सकता क्योंकि इसकी वैधिय्यपूर्ण कृति इसके सामर्थ्य से परे की वस्तु है ।

१. यतिवर श्री मौलैबाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रभा भाषानुवाद सहित,

भाग चौ, अध्याय-२ पा० २, अधि० १ सू० १, पृ० ११२१

२. पृ० ११२१ तथा स्वामी श्री अनुमानवास जी षट्शक्ति व्याख्याकार, एवं डा० बीरमणिप्रसाद उपाध्याय भूमिका लेखक, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, ब्रह्मतत्त्वविमर्शनी हिन्दी व्याख्यासहितम्. अ० २ पा० २. प० ४५७ ।

सांख्य-विचारक यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि समग्र आन्तरिक एवं बाह्य कारणों में सुख-दुःख तथा मोक्ष ही व्यापक गुण हैं, इसलिए उनका प्रसूत तथा मूलभूत कारण प्रधान या प्रकृति भी इन्हीं गुणों से विशेषित तत्त्वों को अपने में समाहित करेगी। परन्तु इस कथित तथ्य का निराकरण हमारे अनुभव द्वारा हो जाता है। हम जानते हैं कि सुख दुःख इत्यादि हमारी आन्तरिक दशाएं तथा अनुभूतियां हैं और वे कभी भी बाह्य पदार्थों को विशेषित नहीं करती। इन वस्तुओं का गुण विशेष इन्का रंग-रूप, आकार विस्तार तथा शब्द आदि हैं परन्तु ये सुख दुःख के समान कभी नहीं हो सकते हैं। बाह्य पदार्थ भले हो हमारे सुख दुःख व आसक्ति के उत्पन्न कारण हो सकते हैं किन्तु वे स्वयं सुख सुख नहीं हो सकते हैं। हमें स्पष्ट रूप से यह परिलक्षित होता है कि एक ही विषय-वस्तु विभिन्न व्यक्तियों में पुरुष-वासना के वैविध्य से किसी में सुख दुःख, किसी में दुःख दुःख तथा किसी में आसक्ति या मोक्ष-वृत्ति उत्पन्न करते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न मानसिक अवस्थाओं तथा रुचियों के कारण विभिन्न वृत्तियां उत्पन्न करती हैं, उदाहरण स्वरूप एक ही ध्वनि एक व्यक्ति के लिए सुखप्रद होती है, दूसरे के लिए दुःखप्रद तथा एक तीसरे व्यक्ति के लिए सुख दुःख रहित उपेक्षण्य होती है। अतः उपरोक्त युक्ति भी वृत्तिपूर्ण है।

प्रधान को ज्ञात के मूल कारण के रूप में मान्यता देने के लिए सांख्य दार्शनिक इसके समर्थन में यह तर्क भी देते हैं कि तत्त्वों के संयोग तथा संलग्न के कारण ही अनेक आन्तरिक तथा बाह्य विषयों की असीमता एवं परिमितता अथवा पृथक्ता निर्धारित होती है क्योंकि सीमित वस्तुएं जैसे एक वृक्षा का जड़ रूप में आना तथा उसका अंकुरित होना इत्यादि कई तत्त्वों के संलग्न से ही सम्भव होता है। ये सभी वस्तुएं षट्पि व मिश्रित स्वरूप की होती हैं तथा उनके निर्माण में भी अनेक षट्पि तत्त्व ही कार्यशील रहते हैं, अतः इनका कहना है कि चूंकि त्रय एक अद्वैत, असीमित तत्त्व है और वहाँ तत्त्वों की अनेकता का कोई

१. डा० ब्रजमोहन चट्टोपाध्याय, सांख्यकारिका, मुद्रिका प० ८३

२. जार्ज बीडू, दि वेमान्स सूत्र (दि द कर्मादी बाई संकराचार्य) पार्ट-१, ७०वां, पृ० १, पृ० ३६६

भी स्थान नहीं है, इसलिए कुछ नहीं बरम्ब सत्य, रस व तम तथा इन जटिल तथा मिश्रित तत्वों को समाहित करने वाली प्रधान प्रकृति ही उनका मूल कारण हो सकती है ।

अद्वैत दर्शन-धारणा के अनुसार सांख्य की उपरोक्त युक्ति भी तर्कसंगत नहीं है । इनकी युक्ति-अनास्तित्वता का दावाते हुए उनका यह कहना है कि यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि सद्योमत्ता या परिमितता रसर्ग की पूर्व अपेक्षा करती है तब हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि सत्य, रस व तम इन गुणों को भी एक दूसरे से परिमित होने के कारण अर्थात् इनमें समान परिमितत्व होने से इनका भी संयोग या रसर्ग का पूर्वमान्यता देनी होगी तथा उत्पन्न होने के लिए अनेक तत्वों की जाकांका करनी होगी । परन्तु सांख्य के अनुसार ये तीनों ही गुण किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करते बल्कि स्वयं ही अन्तिम कारण शिशुण्मयी प्रकृति की रचना करते हैं, अतः संसर्गाभाव ही भी प्रकृति ज्ञात का कारण नहीं सिद्ध होती है । इसके अतिरिक्त कारण-कार्य के शरल सम्बन्ध से भी बाह्य एवं आन्तरिक समुच्चय वस्तुओं के अनुभव के लिए प्रधान जैसे एक अवैतम आदि कारण की सिद्धि व अनुमिति नहीं होती है । अपि अपेक्षापूर्वक निर्मित शब्द शास्त्र आदि वस्तुओं के सम्बन्ध में कार्य-कारण भाव वृत्तिगत होता है तथापि यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि उनकी उत्पत्ति केवल उपादान पदार्थों से ही सम्भव है, कहने का तात्पर्य यह है कि अस्वविग्न रूप शैश्वर्य निमित्त वेतन कारण की अपेक्षा भी कर सकते हैं, जिसके अभाव में कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता है । अतः इस प्रकार भी सांख्य का अवैतम प्रधान ज्ञात का मूल कारण नहीं हो सकता है ।

१. यतिवर ओ भौलैबा, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, रत्नप्रभा भाषानुवाकसहित, भाग बी,
अ०२ पा० २ अधि-१ सू०१, पृ० ११२३-२४

२. वही, पृ० ११२३-२४

३. व्याख्याकार स्वामी श्री हनुमानदास जी अद्भुतारत्री तथा डा० वीरमणिप्रसाद
उपाध्याय (भूमिका लेखक), ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यपु, ब्रह्मसूत्र कृतत्व विमर्शनी
हिन्दी व्याख्यासहितपु, अध्याय २, पा० २, पृ० ४४७

संसारार्थ की प्रधान कारणवाद की अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि हम विश्व-रचना की समस्या पर विचार न भी, तब भी हम इस तथ्य से अवगत नहीं हो सकते कि जड़ प्रकृति या प्रधान में रचनादि कार्यों के लिए किसी प्रकार की प्रवृत्ति या क्रियाशीलता किस प्रकार संभव है, क्योंकि ज्ञात की रचना करना तो बुरा को बात है, जड़ प्रकृति में किसी भी प्रवृत्ति का होना भी असंभव प्रतीत होता है। हम जानते हैं कि सत्त्व, रजस व तमस इन तीनों की साम्यावस्था ही प्रकृति या प्रधान है और यही प्रकृति की स्वाभाविक तथा अव्यक्त अवस्था है, जिसमें इसके संघटक तत्व एक दूसरे के विरुद्ध संतुलित रूप में विद्यमान रहते हैं, इसलिए इनमें से किसी को भी एक दूसरे पर कोई प्रधानता या आधीनता नहीं रहती है। परन्तु प्रवृत्ति या प्रधान में सजीवात्मक प्रवृत्ति तब प्रारंभ होती है जबकि साम्यावस्था में विघाट हो जाए और उसके संघटक त्रिगुण परस्पर आधीनता एवं श्रेष्ठता के द्वारा सम्बन्धित हो जायें किसी गुण का प्राधान्य या तिराभाव होने के कारण अन्य गुणों का अभाव, श्रेष्ठत्व हो। यह मौलिक प्रवृत्ति जड़ एवं जैतन है। कोई भी जड़ पदार्थ जैसे मृत्तिका, काष्ठ, वस्त्र, रथ तथा घट आदि किसी जैतन या बुद्धिमान कर्ता जैसे कुम्हार या कारीगर इत्यादि के अभाव में किसी भा कार्य में प्रवृत्त होने की प्रारम्भिक या पहल-शक्ति नहीं रखता है। हम वृष्ट से ही किसी अवृष्ट को समझ सकते हैं तथा सिद्ध कर सकते हैं कि चूंकि हम किसी भी जैतनतन्त्र जड़ वस्तु में किसी मौलिक प्रवृत्ति को कभी भी नहीं देख सकते जब तक कि वह किसी जैतनकर्ता द्वारा अधिष्ठित न हो इसलिए शास्त्र द्वारा प्रतिपादित जैतन प्रधान में भी प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती है। अतः जैतन प्रधान भी स्वतंत्र रूप से स्वयं ही ज्ञात का कारण नहीं हो सकता, इस प्रकार भी शास्त्र के प्रधान कारण का अनुमान अवार्जित सिद्ध हो जाता है।

शास्त्र विचारक पुनः यह वाक्योप प्रस्तुत कर सकते हैं कि केवल जैतन में भी प्रवृत्ति नहीं वृष्टिगत होती है। इसमें उक्त में संकर यह कहते हैं कि उपरोक्त

१. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । - शास्त्र प्रवचनसूत्र १।६१

२. यत्किंवा श्री मौल बाबा, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य - रत्नप्रभा माधवाचार्य सधित, भाग दो, अ० २, पृ० १००, " जैतन प्रधान की साम्यावस्था प्रवृत्तिरूप प्रवृत्ति की जैतन के बिना उपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए भी प्रधान ज्ञात का कारण नहीं हो सकता । - पृ० ११२५ ।

सुक्ति सत्य है परन्तु हमें इस सत्य पर भी विचार करना चाहिए कि चैतन्य तथा अचेतन के परस्पर सम्बन्ध से ही सृष्टि की प्रवृत्ति होगी, कहने का अविप्राय यह है कि रथ हत्यादि अचेतन पदार्थ सारणी बावि चैतन पदार्थों की संयुक्तता से ही प्रवृत्त होते हैं। जब चैतन तथा जड़ दोनों एक दूसरे के संघर्ष में ही प्रवृत्त होते हैं तब हमारा यह प्रश्न पुनः अनिर्णयित ही रह जाता है कि प्रवृत्ति का अधिष्ठाता कौन है—चैतन या जड़ क्योंकि चैतन भी तो अचेतन के साध्योग से ही क्रियाशील प्रतीत होता है। सांख्य विन्तक प्रधान-कारणवाद का प्रतिपादन करते हुए यह सुक्ति बते हैं कि प्रवृत्ति प्रत्यक्षा रूप से रथ, वैह हत्यादि अचेतन में ही परिलक्षित होती है, अवृष्ट चैतन में नहीं, इसलिए प्रवृत्ति उसी की है जिसमें यह दृश्य है। उनकी सुक्ति का तात्पर्य यह है कि केवल चैतन ही रथ तथा हरिण की गांति किसी प्रवृत्ति के बाध्य के रूप में दृष्टिगत नहीं होता है, हम किसी जड़ पदार्थ के साधक्य एवं संयोग से ही चैतन का अनुमान भी करते हैं, चैतन से चैतन के संयोग द्वारा नहीं, दृष्टान्त स्वरूप हरिण से आत्मा का अनुमान होता है, आत्मा से आत्मा का नहीं। वस्तुतः हरिण ही प्रवृत्तिमान होता है, बावकि पार्श्विक भी उसी सुक्ति का समर्थन करते हुए यह कहते हैं कि चैतन की प्राप्ति वैह के सम्बन्ध से ही होती है। इसलिए सांख्य-पार्श्विक इस निष्कर्ष की मान्यता बते हैं कि प्रत्यक्षा, दृष्ट बाध्य अचेतन वस्तु में ही प्रवृत्ति की उपपत्ति संभव है, अवृष्ट चैतन में नहीं इसलिए अचेतन ही प्रवृत्ति का अधिष्ठाता है।

उपरोक्त वर्णित सांख्य मत के विरुद्ध अज्ञेय पार्श्विक शंकर चैतन को ही प्रवृत्तिशील मानते हुए इसी को सम्पूर्ण क्रियाशीलता अथवा प्रवृत्ति का अन्तिम व एकमात्र अधिष्ठाता स्वीकार करते हैं। सांख्य मत की अनिचित्यता को सिद्ध करते हुए वह कहते हैं कि हम इस तथ्य का विरोध नहीं करते कि प्रवृत्ति अचेतन में दृष्टिगत होती है, परन्तु इसके साथ ही हम इस तथ्य की भी अस्वीकार नहीं

१. स्वामी श्री हनुमानप्रसाद जी 'भट्टशास्त्री' (व्याख्याकार) तथा डा० श्री० प्र० उपाध्याय (भूमिका लेखक), जलध्वज शांकर भाष्यम, जलतत्त्वविमर्शिनी- विन्दी व्याख्यासहित, ७०२ पा० २, पृ० ४४६

२. जार्ज यीजू, वैदान्त सूत्र (शांकरभाष्य सहित) पार्ट-१ अं० २ पा० २ सू० २, पृ० ३६८।

कर सकी कि—अवैतन में प्रवृत्ति चेतन के कारण ही सम्भव है क्योंकि चेतन के अस्तित्व से ही अवैतन का अस्तित्व है। चेतन के अभाव से अवैतन का अभाव भी प्रत्यक्षतः दिखायी देता है जैसे—बाह्य एवं प्रकाश लकड़ी या ईंधन में भी दृष्टिगत होते हैं केवल अग्नि में नहीं, परन्तु उनका अस्तित्व अग्नि से ही सम्भव है, लकड़ी का अग्नि से संयोग होने पर ही बाह्य एवं प्रकाश दिखायी देता है विद्योग होने पर नहीं इसलिए कोई भी व्यक्ति उनसे अस्तित्व की कल्पना केवल ईंधन या लकड़ी से नहीं कर सकता है। चेतन का शरीर के साथ संयोग होने पर ही शरीर में प्रवृत्ति दिखायी देती है। बाबाई दार्शनिक भी वैद्य तथा चेतना को एक ही उपकृतो हुए इस तथ्य को गान्ध्या प्रदान करी है कि चेतन शरीर को चैतन्य रूप का प्रवर्क होता है। अतः अद्वैत दार्शनिक प्रवृत्ति का प्रवर्क चेतन को ही स्वीकार करते हैं तथा सांख्य मत के प्रधान-प्रारणवाद को तर्क-संगत नहीं करते हैं।

सांख्य दर्शन में पुरुष का निष्क्रिय तथा उदासीन माना गया है, इसलिए वे उपरोक्त अद्वैत सिद्धान्त पक्ष के विरुद्ध अपना यह प्रतिपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि एक द्रुत चेतन निष्क्रिय पुरुष किन्तु प्रकार किसी भी वस्तु में क्रिया प्रवृत्त कर सकता है अथवा वह निम्न प्रकार क्रियाशील या प्रवृत्तिशील हो सकता है। अपने प्रतिपक्षों को इस युक्ति का निराकरण करते हुए शंकराचार्य जी कहते हैं कि यदि अन्य पदार्थ प्रवृत्ति-रहित निष्क्रिय पदार्थों के साथ उचित सम्पर्क रखते हैं तब वे प्रवृत्तिविहीन पदार्थ अन्य पदार्थों के प्रवर्क हो जाते हैं, उदाहरणस्वरूप लोह-तुम्बक लोहे के समीप जाने पर लोहे का प्रवर्क हो जाता है तथा रूप, रंग आकार आदि विषय प्रवृत्तिरहित होने पर भी चेतन के प्रवर्क हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार समुद्र बरतुर्गा में अन्तर्धामी, सर्वव्यापी, सर्वज्ञाता, सर्ववृष्टा तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर भी ज्ञात की समस्त वस्तुर्गा तथा सत्तार्गा को प्रवृत्तिरहित होते हुए भी प्रवृत्त एवं परिवर्तित करता है। इस सम्बन्ध में एक यह समस्या

१. यतिधर ओ मोलैबाना, कृष्णन शंकरभाष्य—रत्नप्रभा—भाषानुवाद संहिता, द्वितीय भाग, ७०२, पृ० २ अधि० १ सू-२, पृ० ११३०-३१)

उत्पन्न हो जाती है कि जब संकर का वैदान्त जड़ैत या एकत्व का प्रतिपादन करता है तब परिचालक ईश्वर और परिचालित ज्ञात का द्वैत किंसा है ? इसके समाधान के लिए जड़ैती संकर कहते हैं कि यह द्वैत तो त्रिविधा के कारण है । जनेक स्थलों पर इसका विराकरण करते हुए संकर ने हमें इस तथ्य से अवगत कराया है कि त्रिविधा से कस्मिन् नाम-रूपात्मक माया के बशीमत् हाँकर ही हम ईश्वर, जीव, ज्ञात आदि त्रय प्रकार के द्वैत को ज्ञात की व्यावहारिक सहा में देखते हैं, यही गौहर है । पारमार्थिक दृष्टिकोण से तो त्रैक ब्रह्म ही है, न तो ज्ञात है और न उसका परिचालक, व्यावहारिक दृष्टि से ही परिचालक और परिचालित, कारण व कार्य का भेद है । यह भेद भी हमारी अज्ञानता के कारण है, अन्य शब्दों में सदा के प्रति हमारे दूषित व विकृत दृष्टिकोण के कारण है, अतः चेतन कारण में ही प्रवृत्ति की उपपत्ति हो सकती है, प्रधान कारण में नहीं ।

सांख्य-विम्लक जैवतन प्रकृति को प्रवर्क के रूप में स्वीकार करते के लिए एक जन्म युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रकृति या प्रधान की क्रियाशील होने के लिए जिसो अन्य उल्लेख कारण की अपेक्षा नहीं है, वह स्वतः प्रवर्तित है । ये तर्क इस दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—जिस प्रकार जैवतन द्रव्य स्वभाव से ही बड़ई की वृद्धि व पुष्टि के लिए प्रवृत्त होता है तथा जैवतन जल स्वभाव से ही सदा के उपकार व कल्याण के श्रि स्वतः ही नहीं, निर्भीर आदि में प्रवाहित होता रहता है ठीक उसी प्रकार जैवतन प्रधान की भी स्वभावानुसार रूप से पुनरुत्थान की शक्ति के लिए प्रवृत्ति हो सकती है अर्थात् जड़ प्रकृति भी ज्ञात के रचना के कार्य में चेतन के बिना स्वयं ही प्रवृत्त हो सकती है। उन दृष्टान्तों द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि कोई भी जैवतन वस्तु चेतन के अभाव में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवृत्तिशील नहीं हो सकती है इसलिए सांख्य के प्रधान को प्रवृत्तिमान नहीं स्वीकार किया

१. डा० एच० राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ स्पिरिटुअल लाइफ़, पृ० २६ ।

२. ब्रह्मसूत्रनिमित्तं सारस्ययथा प्रवृत्तिस्तस्य ।
पुरुषविमर्शानि निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥१७॥—सांख्यकारिका
जगदीश्वर वसुदेवा, सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण विरचिता सांख्यकारिका की विस्तृत भूमिका एवं भाषानुवाद सहित अनुराधा संस्कृत हिन्दी विश्व व्याख्या, पृ० १८७-८८ ।

जा सकता है। चेतन गाय के घन में दूध का कारण उसका वात्सल्य प्रेम तथा चेतन बड़े का दूध पीना है, जल के प्रवाहित होने में भी शक्ति यह है कि वह सदैव नीची भूमि-तलह की ओर ही बहता है, ठीक-कल्याण के लिए वह रव्यं उठ कर ऊपर नहीं बहा जाता, चेतन मनुष्य अपने लाभ हेतु जल-प्रवाह की किसी भी दशा में मोड़ सकता है अतः चेतन ही प्रवृत्ति का कारण है। श्रुति-वाक्य भी सुस्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि समस्त जड़-पदार्थों का परिवारक चेतन ही है। रथ भी चेतन सारथी के द्वारा ही चलायमान होता है। किसी भी निजीव जड़ पदार्थ में क्रियाशालता का कोई वास्तव उल्लेख कारण ही होता है। प्रवृत्ति में सदैव चेतन का अपेक्षा रखती है इसलिए सांख्य का जड़-प्रधान स्वतः जात की दृष्टि में प्रवृत्त नहीं आता है। श्रुति की स्पष्ट घोषणा के अनुसार ईश्वर ही सम्पूर्ण वस्तुओं में व्याप्त वह चेतन है जो ज्ञा, नधी, निर्भीर, दुःख इत्यादि समस्त वस्तुओं की प्रवृत्ति का संवाक्य एवं नियन्ता है। दुःख व जल की रव्यं गतिशीलता के लक्षण से इस तथ्य का भी पूर्ण विरोध ही जाता है कि किसी भी वस्तु में प्रवृत्ति या रूपान्तरण अथवा परिणाम किसी बाह्य उल्लेख के अभाव में स्वतन्त्रता पूर्वक होता है। गरन्तु यह श्रुति गति-दृष्टि है मनुष्य के सामान्य अनुभव पर भासितकार शारद-दृष्टि से एक परम शारीरिक दृष्टिकोण द्वारा हम सर्वत्र ईश्वर की ही उपेक्षा करते हैं तथा निर्विरोध एवं लाट्य रूप से चेतन ईश्वर को ही सम्पूर्ण जात का प्रवर्तक मानते हैं।

सांख्य विचारक प्रधान को रक्षक एवं निरपेक्ष मानते हैं तथा इसी बाहर किसी वस्तु का इस पर कोई प्रभाव नहीं स्वीकार करते एतद्विषय वे यह नहीं शकता सकते कि प्रधान को प्रवृत्ति में जैसे प्रवृत्त होता है। तान गुणा की साम्यावस्था ही ही प्रधान निर्मित है, उनकी साम्यावस्था को दृष्ट्य करने के लिए करि बाह्य तत्त्व नहीं है इसलिए भी प्रधान में कोई प्रवृत्ति नहीं आ सकती।

१. यनिवर श्री मोहो बाबा, प्रसूत्र तानरभाष्य रत्नप्रभा-भाषानुवाच सन्ति,

न०२ पा० २ अधि० १ सू० ३, पृ० ११३२-३३

२. वही, पृ० ११३४

पुरुष या निश्चय तथा उदासीन होता है इसलिए का प्रवर्तक या निवर्तक नहीं हो सकता है। प्रधान तत्त्वधारणित है इसलिए यह निश्चय एवं सिद्ध नहीं हो पाता है कि सांख्य कहां और क्यों किस प्रकार से कर्मा मल्ल जादि अपने विभिन्न परिणामों या विकारों में परिणत होता है, कर्मा नहीं होता है। ईश्वर तो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञाता है एवं मायाशक्ति से युक्त है इसलिए स्वतः तथा भाग के अनुसार उसके प्रवर्तक तथा निवर्तक होने में कोई विरोध नहीं है। यदि जात की सृष्टि करना प्रधान का स्वभाव है, तब गुणों की सांख्यविरोधा या प्रलय का कोई स्थान ही नहीं रह जाता है और यदि सृष्टि उसका स्वभाव नहीं है तब उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः इस प्रकार भी प्रधान कारणवाद बहुत सिद्ध होता है।

अपने पक्ष के समर्थन में सांख्य-विचारक पुनः यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार तृण, घास जादि किसी कार्य स्थापन के अवसर में भी कदाचित् किसी बाधका वस्तु को अक्षयता के बिना ही स्वाभाविक रूप से दूध में परिवर्तित हो जाते हैं उसी प्रकार प्रधान भी किसी सहायक या निमित्त कारण की अपेक्षा क्रिये बिना ही मल्ल, तन्मात्राओं इत्यादि विभिन्न शेष विकारों में स्वाभाविक रूप से रूपान्तरित होता है। उनकी यह युक्ति भी असाक्षिक है क्योंकि तृण जादि का दूध में रूपान्तर विशेष दशावर्त में सम्भव है, गाय द्वारा उपभुक्त तृण ही दूध में परिणत होते हैं, किसी प्रकार के मल्ल तृण या बैल एवं घाड़े जादि से उपभुक्त तृण दूध के रूप में नहीं परिणत होते हैं। प्रधान की स्वाभाविक

१. जार्ज धीड्ड, वेदान्त सूत्र, पार्ट १, ज०२ पा० २-५, पृ० ३७०-३९१,

"The activity and non-activity (by turns) of the Lord, on the other hand, are not contrary to reason, on account of his omniscience and omnipotence, and his being connected with the power of illusion (Maya)."

२. स्वामी श्री हनुमानदास जी षट्शस्त्री व्याख्याकार तथा डा० पी० प्र० उपाध्याय मुमिका लेखक, कृतसूत्र शांकरभाष्यम्, 'अतएव विमर्शनी'; हिन्दी-व्याख्या संहिता, ज०२ पा० २, पृ० ४५१.

३. यतिवर श्री मोलेशास्त्री, कृतसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रसा माधवाध्याय संहिता, ज०२, पा० २ अधि० १ सू० ५, पृ० ११३७।

प्रवृत्ति का सम्पन्न करने के लिए सांख्य तर्क करते हैं कि ब्रूँकि हम किसी भी ऐसी वस्तु का ज्ञान नहीं रखते जो तृण का दूध में परिवर्तित कर दे, इसलिए हमें यह स्वीकार करना होगा कि घास निरपेक्ष रूप से दूध में परिवर्तित होती है। यदि हम किसी ऐसी वस्तु से अवगत होते तो हम अपनी हज्जानुसार उपरोक्त प्रकार के परिवर्तन को सम्भव बना कर वह घास से दूध प्राप्त कर लेते परन्तु ऐसा सम्भव नहीं होता इसलिए तृण का दूध में परिणत होना सुस्पष्ट रूप से यह ही दिग्दर्शित करता है कि यह परिणति स्वाभाविक है। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि इसी प्रकार प्रधान भी स्वाभाविक रूप से तथा निरपेक्ष रूप से अपने विभिन्न विकारों में परिवर्तित होता है। सांख्य विचारकों का यह तर्क भी संगतपूर्ण नहीं है क्योंकि हम जानते हैं कि घास गाय द्वारा ही लायी जाने पर दुग्ध में परिणत होगी, बेल, पाँड़े इत्यादि के खाने से अथवा अन्यत्र कहीं इसे झोड़ देने से यह दूध में नहीं परिवर्तित होगी, अतः स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि घास को दूध में परिवर्तित करने के लिए अनिवार्यतया एक बाह्य कारण की अपेक्षा रहती है। अतः से कार्य मानव द्वारा सम्पादित होते हैं तथा बहुत से कार्य देवी शक्ति या विधान द्वारा सम्पादित होते हैं, परन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि यदि अपनी हज्जानुसार मनुष्य तृण को दूध में परिवर्तित नहीं कर सकता तो यह परिवर्तन स्वाभाविक, निरपेक्ष एवं निमित्तरहित हो। इसके अतिरिक्त मनुष्य अपनी हज्जा से गाय को पुष्ट चारा देकर दूध की मात्रा में वृद्धि भी कर सकता है, इसलिए सांख्य का यह कहना कि जिस प्रकार तृण दूध में परिवर्तित होता है उसी प्रकार प्रधान भी स्वाभाविक एवं निरपेक्ष रूप से अपने समस्त विभिन्न विकारों में परिवर्तित होता है, युक्ति संगत एवं तर्क संगत नहीं है।

१. यतिवर श्री माँई बाबा, ब्रह्मसूत्र सांकर भाष्य रत्नप्रभा भाषानुवाद सहित,
व०२, पा०२, अधि०१ सू० ५ पृ० ११३८ ।

यद्यपि यह सिद्ध एवं स्पष्ट है कि प्रधान स्वाभाविक प्रवृत्ति है विहीन है परन्तु फिर भी यदि हम यह स्वीकार कर भी लेते हैं कि प्रधान स्वाभाविक प्रवृत्ति से कुछ होकर ही अपने विभिन्न विकारों में परिवर्तित होता है, तब भी हम इस परिवर्तन का कोई प्रयोजन नहीं दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार प्रधान को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति में किसी सहायक तत्त्व की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार इसी किसी प्रेरक तत्त्व या प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं होगी। परन्तु ऐसी स्थिति में सार्वत्र्य वार्शनिका की इस मान्यता का कोई मूल नहीं रह जावेगा कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के भाग और अपूर्ण अर्थात् कैवल्य के लिये होती है। यदि वे यह कहते हैं कि प्रधान सहायक कारण की अपेक्षा नहीं रहता किन्तु प्रयोजन की अपेक्षा या आवश्यकता से तो कुछ है ही क्योंकि सहकारी से निरपेक्षा होने का तात्पर्य प्रयोजन-निरपेक्षता नहीं है, तब भी उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजन क्या है -- पुरुष का भाग अथवा कैवल्य या भाग तथा कैवल्य दोनों हो। यदि यह प्रयोजन भाग है तब यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रधान संभवतः किस प्रकार के भाग के प्रयोजन से कुछ हो सकता है जबकि इसमें किसी प्रकार की वृद्धि इसकी सत्ता के लिये नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जाय कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के भाग के प्रयोजन के लिये है तब यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि झूठ जादि से अतिशय रहित, निर्लिप्त, असंग, निर्धकार, निर्मल तथा नित्य-बुद्ध-बुद्ध व कुछ पुरुष का भाग किस प्रकार होगा क्योंकि यदि भाग होगा भी है तो वह भाग के बन्धनों से कभी मुक्त नहीं हो सकेगा। यदि प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजन बंधन से पुरुष की मुक्ति ही है तो प्रधान की प्रवृत्ति से पहले ही पुरुष के मुक्त होने के कारण प्रधान की प्रवृत्ति निरर्थक एवं अनावश्यक होगी, रहता ही नहीं भाँसा को प्रयोजन मानने से रूप, रस, गन्ध, रस, तथा शब्द इत्यादि संवेदन स्वरूप भाग का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। यदि प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजन भाग व अपूर्ण दोनों ही हैं तब असीमित एवं अनन्त भाग्य पदार्थों का अस्तित्व होगा तथा भाग का कभी अन्त नहीं होगा और परिणामस्वरूप भाँसा का

प्रयोजन नष्ट हो जावेगा। यह मानना भी संभव नहीं है कि प्रधान की प्रवृत्ति अपनी जिज्ञासा या उत्सुकता की निवृत्ति व सन्तुष्टि के लिए है, क्योंकि अवैतन प्रधान में जिज्ञासा व इच्छा का अभाव है तथा निरील एवं अंगेय पुरुष में भी जिज्ञासा व उत्सुकता नहीं हो सकती है। इस तथ्य को स्वीकार करके भी समस्या का हल नहीं मिलता कि प्रधान अपनी क्रियात्मक या सर्गशक्ति की सार्थकता हेतु तथा पुरुष की ज्ञानात्मक तथा कृत्शक्ति की सार्थकता के लिए प्रवृत्ति से युक्त है क्योंकि दोनों ही शक्तियाँ के नित्य होने के कारण मौक्त सम्भव नहीं होगा, जिस प्रकार पुरुष की बुद्धि व ज्ञान शक्ति नित्य है उसी प्रकार प्रधान की कृत या सर्गशक्ति के नित्य होने से संसार का विनाश सम्भव नहीं होगा और फलस्वरूप मौक्ता का अभाव बना रहेगा, अतः यह युक्ति कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के प्रयोजन के निमित्त है, तर्कसंगत नहीं है।

साम्य दार्शनिक पुरुष-प्रकृति के संयोग द्वारा पुरुष को प्रधान के प्रवर्तक के रूप में दर्शाते हैं तथा इसके लिए वे इस प्रकार का साम्यानुमानिक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—जिस प्रकार वर्तन-शक्ति से युक्त परन्तु गमन-शक्ति से रहित एक पशु पुरुष, गमन शक्ति से युक्त किन्तु वर्तन शक्ति से विहीन एक अन्य पुरुष के कन्वे पर बैठ कर पारस्परिक साम्योपयोग द्वारा दोनों ही अपनी यात्रा सम्पादित करते हैं जबकि उनमें से प्रत्येक अलग-अलग इसे पूरा करने की सामर्थ्य नहीं रखता और जिस प्रकार लौक-बुद्धिक स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ भी लोहे को अपनी ओर प्रवृत्त करता है उसी प्रकार वैतन परन्तु निष्क्रिय पुरुष अवैतन परन्तु क्रियाशील प्रधान को प्रवृत्त करता है। परन्तु ~~यह~~ ये युक्तियाँ उनकी आधारभूत मौलिक परिकल्पना को ही ध्वस्त कर देती हैं तथा असंगत बना देती हैं क्योंकि इनके विचारानुसार तो प्रधान स्वयं ही निरपेक्षा रूप से प्रवृत्त होता है, इसलिए पुरुष द्वारा प्रवर्तित होने से इसकी निरपेक्षाता समाप्त हो जाती है और इन्द्रा पुरुष भी उदासीन एवं निष्क्रिय होने के कारण प्रधान को प्रवृत्त नहीं कर सकता है। अन्यथा व्यक्ति तो अपनी ही शब्द-वाणी वैतना द्वारा पशु व्यक्ति

का मार्ग-निर्देशन करता है परन्तु सार्वत्र्य के पुरुष में कुछ भी प्रवृत्ति क्रिया नहीं है क्योंकि वह निर्गुण एवं निष्क्रिय है। यह कहना भी सुवि-संगत नहीं है कि लोह-बुध्क के समान प्रकृति की समीपता व सामिध्य से पुरुष उसे प्रवृत्त करता है क्योंकि पुरुष के अपेक्षित नित्य सामिध्य से प्रधान की प्रवृत्ति में भी नित्यता होगी और यह कभी नष्ट नहीं होगी। लोह-बुध्क व लोह का अपेक्षित सामीप्य अनित्य एवं वाकस्मिक है, नित्य नहीं है तथा यह सामिध्य किसी क्रिया द्वारा सन्निहित किया जाता है, इसके अतिरिक्त परिमार्जन आदि द्वारा लोह को किसी क्रिया के योग्य बनाया जाता है। इस प्रकार लोह-बुध्क व लोह का तथा पैरु व अन्य व्यक्ति का समदृष्टान्त पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध में वस्तुतः प्रयुक्त नहीं हो सकता है।

सार्वत्र्य के प्रधान तथा पुरुष अवैतन एवं उदासीन है और वे किसी तीसरी तत्व को स्वीकार नहीं करते इसलिए इनके अनुसार प्रकृति पुरुष के किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की व्याख्या नहीं की जा सकती है। यदि चित् और जड़ शक्तियाँ से युक्त होने के कारण पुरुष को दृष्टा, भाँटा आदि योग्यताओं से परिपूर्ण तथा जड़ प्रधान को दृश्यरूप एवं भाँग्य की योग्यताओं से परिपूर्ण मान कर उनके सम्बन्ध की व्याख्या की जाती है, तब हम बताते हैं कि दोनों की विभिन्न योग्यताएं नित्य होंगी और ऐसा होने से पुरुष सदैव भाँटा तथा प्रकृति सदैव भाँग्य पदार्थ बनी रहेगी और पुरुष के लिए भाँटा कभी संभव नहीं हो सकेगा। इस प्रकार पूर्ण आरोप के समान यहाँ भी प्रयोजन के उपाय की समस्या बनी रहेगी। ब्रह्म मत के अनुसार तो परम ब्रह्म अपने स्वरूप में उदासीन, निर्विकार तथा निष्क्रिय है किन्तु माया के आश्रय से वह प्रवृत्त है, क्रियाशील है।^२

१. घडी पृ० ११४३-४४ तथा डा० चन्द्रधर शर्मा, बौद्ध दर्शन और वैदान्त, पृ० १६७-६८

२. जार्ज धोबू, वैदान्त सूत्र पाठ १, पृ० ३७७

हम उस प्रमुख तत्त्व से अवगत हैं कि सत्य, रजस व तमस इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रधान की अवस्था है, अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रधान की स्वाभाविक अवस्था में तीनों गुण अपने मूल रूप में अलग अलग रहते हैं तथा परस्पर अपेक्षारहित रहते हैं। इस प्रकार की स्थिति में किसी भी प्रकार की दृष्टि अथवा प्रवृत्ति असम्भव है क्योंकि गुणों में अनपेक्षता होने के कारण ज्ञान नहीं हो सकता और अंगानिर्माण नहीं बन सकता, यहाँ कोई अन्य बाह्य शक्ति भी नहीं है जो उनमें ज्ञान उत्पन्न करे अतः ऐसी अवस्था में स्वयं प्रवृत्ति का अभाव होगा और गुणों की विभक्तता से उत्पन्न होनेवाले महत् आदि विकारों की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

यदि सांख्य के पक्ष में इस प्रकार तर्क प्रस्तुत किया जाय कि हम प्रकृति तथा उसके गुणों के बारे में पूर्वाज्ञ प्रकार से विचार न करके जगत के अनुभव से अपना विचार प्रारम्भ करें और जगत के कार्यों के स्वरूप से इसके प्रमुख कारण का अनुमान करते हुए यह कहें कि सांख्य ने गुणों को या प्रधान के तत्त्वों को कूटस्थ, निरपेक्ष तथा निष्क्रिय एवं अपरिवर्तनीय नहीं माना है वरन् कार्यों के अनुसार गुणों का स्वभाव स्वीकार किया है और उन्हें गंवल एवं परिवर्तनीय मानते हैं इसलिए परिवर्तनीय होने के कारण साम्यावस्था में भी वे विभक्तता को प्राप्त करते हैं तथा द्रव्य होते रहते हैं तब भी सांख्य का प्रधान इस प्रकार से द्रव्यस्थित जगत की रचना करने में असमर्थ है क्योंकि यह जड़ वस्तु तथा बुद्धिहीन है। इनके प्रधान की ज्ञानशक्ति अथवा बुद्धि से युक्त कर देने पर इनकी स्थिति वेदान्त के समान हो जावेगी। यह मान लेने पर भी कि साम्यावस्था की दशा में भी गुणों में ज्ञान उत्पन्न हो सकता है तथा तीनों गुण अनुमान होकर द्रव्य होते हैं, विभक्तता प्राप्ति के योग्य गुण साम्यावस्था में एक निमित्त या किसी ऐसे कारण के अभाव में जो उनमें ज्ञान उत्पन्न करे विभक्तता को नहीं प्राप्त होगी। क्योंकि

१. जार्ज थीड, वेदान्त सूत्र, पार्ट-१, पृ० ३७४-७५

२. वही, पृ० ३७५

यदि विषमता का सार्वत्रिक कारण या निमित्त के अभाव में भी संभव होगा तब परिणामरूपक यह वैषम्य संभव बना रहेगा और साथ ही सृष्टि का भी अस्तित्व संभव बना रहेगा, इस प्रकार की स्थिति में मोक्ष पुनः असंभव हो जावेगा^१।

शंकराचार्यजी का कहना है कि सार्वत्रिक वर्तन अनेक अलग-अलग स्वरूप परस्पर विरुद्ध शिक्षान्तरों से युक्त है जतः इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कभी तो ये हृन्दित्रियाँ को संख्या सात बताते हैं और कभी पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन को मिला कर ग्यारह बताते हैं। किसी स्थल पर ये सूक्ष्म तत्त्व तन्मात्राज्ञा की उत्पत्ति महत् से तो कहीं अहंकार से बताते हैं, कहीं पर ये विचारक मन, बुद्धि व अहंकार इन तीनों अन्तःकरणों को स्वीकार करते हैं, कहीं पर केवल बुद्धि को ही स्वीकार करते हैं^२। इस प्रकार ये ईश्वर को ज्ञात का अन्तिम कारण मानने वाली श्रुति और इसका अनुगमन करने वाली स्मृतियों के विरोधी हो जाते हैं, जतः इनका मत समीचीन एवं तर्कसंगत नहीं है।

सार्वत्रिक दार्शनिक वैशान्त वर्तन की दृष्टिपूर्ण शिक्षाने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि वैशान्तित्रियों का एक ब्रह्म जो सब पूर्वार्थों का कारण है तथा सब की वात्सा है, यह कर्ता, मोक्षक वाचि गुःली जीव तथा बुद्ध देने वाले भोग्य पदार्थ ज्ञात के द्वैत को समाप्त कर देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इनका अद्वैत ब्रह्म जीव और ज्ञात को दो विभिन्न कौटिल्यों न प्रदान करके उन्हें एक ही वात्सल्य के दो विशेष पर्यायों या विकारों के रूप में दर्शाता है। ऐसी स्थिति में वात्सा कभी भी इन विशेष पर्यायों से मुक्त नहीं होगी, क्योंकि वे पर्याय इसी तादात्म्य रखते हैं और इस प्रकार श्रुति या शास्त्र वक्तों के इस वाणी का कोई अर्थ नहीं रह जावेगा कि हमें उचित ज्ञान द्वारा बुद्ध से छुटकारा मिल सकता है^३। किसी वस्तु में निहित उसके स्वभाव से उसे वैचित नहीं किया जा

१. एस० राधाकृष्णन्, ब्रह्मसूत्र, पृ० ३७२

२. यतिवर श्री मोलै बाबा, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य-रत्नप्रभा, भाषानुवाद संहिता, भाग-द्वी अ० २ पा० २ अधि० १ सू० १० पृ० ११४८-४९

३. वही पृ० ११४६

४. वही पृ० ११५०

सकता है। एक दीपक से उसके प्रकाश तथा उसकी उज्ज्वलता को पृथक् नहीं किया जा सकता है। जल की तरंगें तथा लहरें भी जल के साथ-साथ नित्य हैं। यद्यपि कभी-कभी जल के शान्त रहने पर उसकी तरंगें भी विलोम प्रतीत होती हैं तथापि जल से उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता है, जल के अस्तित्व के साथ उनका भी अस्तित्व रहता है। सांख्य विचारक कहते हैं कि जीव और ज्ञात यानी दुःखभागा एवं दुःतमय संसार दोनों में स्पष्ट भेद है, जबकि वैशान्त दर्शन में एक सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म के साथ सम्पूर्ण भेदों की उपेक्षा करे इस भेद को समाप्त कर दिया गया है। पूर्वपक्षी क्लृप्ता-सांख्य का यह भी कहना है कि अर्थ और अर्थों अर्थात् ज्ञाता व ज्ञेय में भी स्पष्ट भेद स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि यदि सीजने वाले अर्थों से उसका प्राप्य अर्थ भिन्न नहीं होता तो उसके लिए अपने अर्थ को प्राप्त करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है, दीपक के लिए प्रकाश की प्राप्ति निरर्थक है क्योंकि प्रकाश रूप दीपक का प्रकाश उसके साथ नित्य रहता है। हम जानते हैं कि अप्राप्त अर्थ में ही अर्थों का अस्तित्व रहता है। अन्य शब्दों में यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु की प्राप्ति का प्रयत्न करता है तब उसकी प्राप्य वस्तु उससे भिन्न होती चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर वह स्वयं की प्राप्ति का प्रयत्न करेगा अर्थात् विषयी व विषय दोनों एक ही हो जायेंगे। सम्बन्ध सर्वत्र ही होता है एक वस्तु में नहीं इसलिए अर्थ और अर्थों का सम्बन्ध उनके भिन्न-भिन्न अस्तित्व द्वारा स्थापित हो चुका होता है।

पूर्वपक्षी सांख्य दार्शनिकों का यह भी कहना है कि भेद केवल विषयात्मक दृष्टि से ही नहीं है बल्कि विषयात्मक दृष्टि में भी है। जिस हम प्राप्त करना चाहते हैं वह प्राप्य तो हमसे भिन्न है ही परन्तु जिससे हम संबंधित रहना चाहते हैं वह भी हमसे भिन्न है। जिस प्रकार अर्थ व अर्थों भिन्न हैं उसी प्रकार अर्थ व अनर्थों भी भिन्न हैं। हमारे अनुकूल विषय शुभ तथा प्रतिकूल विषय अशुभ कहलाते हैं किन्तु प्रतिकूल विषयों के आधिक्य में शुभ भी अशुभ हो जाते हैं अर्थात्

१. जार्ज थीड्स, वैशान्त सूत्र, पार्ट १, जे २ पाठ २, सू १०, पृ ३७

"...The two ideas (and terms), 'object of desire' and 'desiring person,' imply a relation (are correlative), and a relation exists in two things, not in one only."
२. यादविर सांख्यशास्त्रेण शंकराचार्य-रत्नप्रभाषायां श्रीनृसिंह सहित, भाग-
७०२ पाठ २ अधि १ सू १०, पृ ११५२।

अर्थ भी व्यर्थ हो जाते हैं और इस प्रकार स्वीकारात्मक तथा निष्कामात्मक सभी विषय दुःख के कारण हैं तथा हमारी आत्मा उनका दुःखमोछा है । हमें दुःख के कारण विषय तथा दुःख मोछा आत्मा को भिन्न मानना चाहिए क्योंकि अभिन्न मानने से दोनों सबैव ही रथायी बने रहेंगे और फिर हमारे समस्त दुःख निवृत्ति का कोई भी प्रयास निरर्थक होगा । सांख्य दार्शनिकों ने उपरोक्त प्रकार से वेदान्त दर्शन की अनौचित्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया है ।

वेदान्त दर्शन के प्रति सांख्य द्वारा लाये गये सभी आक्षेप प्रामाणिक एवं अवितर्कपूर्ण होते, यदि यह दर्शन जीव और ज्ञात का तत्त्व या तापक के द्वैत को स्वीकार करता, परन्तु वेदान्त तो अद्वैत ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है । संकर कहते हैं कि कैवल्य अग्नि का ही अस्तित्व है यद्यपि अग्नि में उष्णता, प्रकाश आदि धर्म हैं परन्तु फिर भी वह अपने आपका नहीं जलाती, नहीं प्रकाशित करती है, क्योंकि उसमें तथा उसके गुणों में लक्ष्य है । नित्य कृत्स्न ब्रह्म में तत्त्व तथा तापक का द्वैत भाव सम्भव ही नहीं है । हम कहते हैं कि ताप या दुःख चेतनयुक्त मानव शरीर को होता है तथा सूर्य ताप देने वाला तापक है । ताप से तात्पर्य दुःख है और यह दुःख चेतनसत्ता को होता है न कि अचेतन शरीर को, क्योंकि यदि दुःखमोछा शरीर होता है तो इसके चिन्त हो जाने पर दुःख की भी निवृत्ति हो जाती है और तब किसी भी व्यक्ति को दुःख निवृत्ति के लिए किसी आध्यात्मिक साधन की आवश्यकता कदापि न होती । यहाँ यह कहा जा सकता है कि जड़ शरीर के अभाव में बिजु चेतन को भी दुःख नहीं होता तथा सांख्य के अनुसार ताप या दुःख रूपी विकार न तो चेतन को हो सकता है और न तो शरीर व चेतन के संघात को हो सकता है, क्योंकि शरीर के साथ संयुक्त हो जाने से चेतन पुरुष के शुद्धता की हानि होती । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य विचारधारा के अनुसार भी तत्त्व-तापक भाव सिद्ध नहीं है

१. यतिवर श्री मोलैवावा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाष्यानुवाक सहित, भाग-२
अ० २, पा० २, अ० १ सू० १० पृ० ११५२

पाता है । ज्ञेयभाव की स्थापना के लिए सांख्य दार्शनिकों का यह कथन भी संभव नहीं हो सकता कि प्रधान में निहित सत्त्व गुण को दुःख व प्रकाश का धोतक है वही तप्य या दुःखमांछा है तथा रजस को किसी भी दुःखपूर्ण क्रियाओं का धोतक है, यह तापक या दुःख देने वाला है क्योंकि केवल चैतन ही किसी प्रकार को अनुभूति करता है और उसका इन तत्त्वों से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है ।

वैदान्ता पुनः कहते हैं कि सांख्य विचारक बुद्धि के अनुरोध से भी चैतन को दुःखमांछा नहीं मान सकते अर्थात् यह कहना भी संभव नहीं है कि चैतन पुरुष सत्त्व गुण में अपने को प्रतिपिम्बित करके दुःखमांछा दुःख-वा प्रतीत होता है, क्योंकि अपने पारमार्थिक रूप के कारण वह दुःख नहीं हो सकता है । इसके लिए हमें इस वैवान्त-सम्मत सिद्धान्त की स्वीकार करना होगा कि आत्मा या चैतन परतुतः दुःखमांछा नहीं है, जगिषा या अज्ञानता से ऐसा प्रतीत होता है कि वह दुःखमांछा है ।

स्मरान्वयों जो कहते हैं कि सांख्य दार्शनिक दुःख को यथार्थ रूप में स्वीकार करते हैं तथा यह प्रतिपादित करते हैं कि चैतन आत्मा एवं जड़ प्रधान में एक विशिष्ट विलक्षण संयोग होने से हो दुःख होता है किन्तु उन दोनों की संयोग के लिए एक कारण या निमित्त की अपेक्षा रहती है । यह कारण अविवेक या अज्ञान है और इसका अधिष्ठान प्रधान का एक नित्य तत्त्व तमोगुण है । इस प्रकार सांख्य का तप्य, तापक तथा अज्ञान अर्थात् सत्त्व, रज एवं तम तीनों ही गुण नित्य हैं, इनके नित्य होने से ताप या दुःख भी नित्य होगा और परिणामस्वरूप दुःख-निवृत्ति का संभावना नहीं रहेगी । इतना ही नहीं सांख्य दृष्टिवैता तो सृष्टि या मानव-जीवन का प्रारम्भ साम्यावस्था में गुणों के सामं से ही स्वीकार करते हैं, किन्तु विषमता या अंगानिमाव द्वारा गुणों का उद्भूत एवं लय अनियमित रहता है इसलिए प्रधान तथा चैतन आत्मा का संयोग व वियोग भी अनियमित

१. एस० राधाकृष्णन्, ब्रह्मसूत्र, भा० २ पा० २ सू० १० पृ० ३७२

* The distinction between the two, the suffering soul and the cause of suffering, is the product of Avidya."

रूप से ही होता रहता है अतः इनके मतानुसार तो कैवल्य अर्थात् मोक्षा की सिद्धि ही ही नहीं संभव है ।

सार्वभौम तत्त्ववेत्तार्थों की मान्यताओं के विरुद्ध संकराचार्य का अद्वैत दर्शन विषयी-विषय, ज्ञाता-ज्ञेय तथा जीव-जगत् इत्यादि के द्वैत का स्थान रख ही नहीं देता । इनके मतानुसार इनका परम तत्त्व ब्रह्म सम्पूर्ण विभिन्नताओं से मुक्त है इसलिए न तो यह दुःख तत्त्व या दुःखमोक्षण है और न तो तापक या दुःख देने वाला है । सदा में कोई बन्धन तथा दुःख नहीं है, संपूर्ण विषयों से मुक्त काल की प्रतीति कुछ नहीं है, यह केवल हमारे भ्रमात्मक विचारों या अज्ञानता द्वारा निर्मित मिथ्या कल्पना है । किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अद्वैतवादी संकर व्यावहारिक जीवन को अव्यवहार करते हैं । गौतम में व्यावहारिक रूप से जो कुछ भी विषय-विषयिभाव अर्थात् तत्त्वतापक भाव हम प्राप्त करते हैं वहाँ सब कुछ वैसा ही है इसलिए बन्धन तथा तत्त्वज्ञान से उनके निवृत्ति की सिद्धि भी होती है । अतः उपरोक्त प्रकार के अण्डन-मण्डन की कोई आवश्यकता नहीं ही नहीं है ।

(२)

संकराचार्य जी ने सार्वभौम दर्शन की जालीबन्ना करके इसकी अज्ञानता को विवक्षित किया है । उनकी उक्त जालीबन्ना का अंतिम विवेक प्रस्तुत करने के पश्चात् अब हमें यह देना है कि अज्ञान मान्यताओं से मुक्त होते हुए भी सार्वभौम दर्शन किस प्रकार अद्वैत दर्शन के समीप है ।

सार्वभौम दर्शन का और दृष्टिपात कते की प्रस्तुत दो विधियाँ हैं । प्रथम तो हम इसे एक ज्ञातावादी सत्तामीमांसा के सिद्धान्त के अन्तर्गत रूप में देख सकते हैं जिसमें दो तत्त्वों का नित्य विरुद्धाधीन विरोध निहित है —

१. कैश्री० मट्टाचार्य, स्टडीज इन फिलॉसफी, वाल्थूम-१ पृ० ११३

२. यतिवर श्री मोलै बाबा, ब्रह्मसूत्र सांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाष्यानुवादसहित, अ० २ भा० २ अधि० १ पृ० १०, पृ० ११५७

(१) पुरुष तत्त्व जिसका स्मभाव किसी भी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता अर्थात् जो निष्क्रिय तथा अपरिवर्तनीय^१ है और (२) प्रकृति तत्त्व जिसे गुणवती कहा गया है तथा जो सम्पूर्ण रूपात्मक सत्ताओं की आधारी^२ है। पुरुष बुद्ध चेतन है तथा प्रकृति में चेतना का अभाव है। जब हम सांख्य दर्शन की ओर दूसरी विधि से दृष्टिपात करते हैं, तब हम उसका विचार उत्कृष्ट रूप से एक मूल्यात्मक सिद्धान्त के रूप में करते हैं। यह सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसमें व्यक्ति अपने अस्तित्व सम्बन्धी निःश्रेयस से प्रेरित है। इस दृष्टिकोण से दो सिद्धान्तों को सम्पूर्ण मान्यता को दो प्रकार की सत्ताओं का उल्लेख करना चाहिए। व्यक्ति के रूप में एक वह सत्ता जो दुःख, सुख व मोह की अनुभूति करने वाली है तथा व्यक्ति के रूप में दूसरी वह सत्ता जो सुख, दुःख तथा मोह से विमुक्त^३ है। सत्ता के दूसरे प्रकार को चेतन तथा प्रथम को अचेतन या जड़ के रूप में वर्णित किया गया है। इस अन्वय में अचेतन का अर्थ यह नहीं है कि पुरुष अपनी सम्पूर्ण वैश्विकता से रहित हो जाता है। पुरुष के अचेतन होने दुःख, सुख तथा मोहादि का अनुभव करने का अर्थ, अपने से अन्य किसी वस्तु के लिए अचेतन होना है। यह प्रकृति है जो इस दृष्टि से वस्तु या बुद्धि में उपलब्ध होती है। इस प्रकार की चेतना एक दूसरे तत्त्व के द्वारा क्रिया, ज्ञान तथा भावना इन तीन दृष्टिकोणों में सीमित हो जाती है। इस सीमा या बन्धन के प्रति सच्चा होना ही दुःख का अनुभूति करना है और चिन्तनशील होकर दुःख-निवृत्ति की सम्भाव्यता के ज्ञान से मुक्त होना है अर्थात् उस पुरुषत्व की अनुभूति करना है, जो प्रत्येक सम्भव रूप में मुक्त^४ है। स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि इसका तात्पर्य किसी व्यक्ति की स्वयं अपने आप की ऐसी अनुभूति है जो किसी अन्य द्वारा सीमाबद्ध नहीं होती अर्थात् जो किसी अन्य

१. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, सांख्यकारिका, अनुराधाप्रयाग्योपेता, संस्कृत हिन्दी विश्व व्याख्या, पृ० ८६

२. राधाकृष्णन् और मूर, ए सोर्स बुक इन इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ४२४

३. कै०सी० भट्टाचार्य, स्टडीज़ इन फिलॉसफी वा ल्यूम-१, पृ० १६०-६१

४. वही, पृ० १४३

विषय का ज्ञाता नहीं है तथा दुःख, सुख एवं मोह के रूप में किसी आसक्ति या भावना की संवेदना से युक्त नहीं होता यानी यह कर्म, ज्ञान व आसक्ति के विषयों से मुक्त है। अपने विकारों के सम्पूर्ण पहलुओं में प्रकृति के गुण रूप में अवैतना का अर्थ यह नहीं है कि यह पूर्ण रूपेण वेतना से रिक्त है वरन् इसका अर्थ यह है कि यह केवल अज्ञ व परिच्छिन्न वेतना से युक्त है तथा ऐसी वेतना से युक्त है जो किसी अन्य विषय का विद्यारवलीन करती है। सांख्य पार्श्विक जो कुछ भी कल्पना चाहते हैं वह केवल यह है कि प्रकृति पुरुष के मोक्ष या कैवल्य के लिए ही विकार रूप में विकसित होती है। अतः विकारयुक्त स्थात्मक सत्ता निरपेक्ष स्थिति से सापेक्ष स्थिति में वेतन के साय एवं ज्ञात को प्रतीकारात्मक रूप में प्रकट करती है किन्तु यहाँ वेतनशून्यता का अर्थ वेतना का अज्ञान व अप्रतिष्ठित होना नहीं है। विकारयुक्त स्थात्मक अवस्था में पुरुष के स्वरूप में अवैतना केवल एक तिरस्कृत उपाधि है जिसका प्रयोग पुरुष के अधःपतन एवं विकृति को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है। परन्तु यहाँ यह अविस्मरणिय है कि एक अर्थ में पुरुष तपरिच्छिन्न एवं निर्बद्ध वेतन के रूप में केवल एक आदर्श है तथा जिसे एक ऐसी सत्ता प्राप्त करती है जिसकी सुख, दुःख व मोहादि से युक्त अनुभूति ने स्वयं उसमें एक ऐसी प्रवृत्ति प्रेरित की है जिसके द्वारा वह सुख, दुःख मोहादि से युक्त सत्ता बन जाना चाहती है अर्थात् उदासीन एवं निर्विकार बन जाना चाहती है। उसकी सुख, दुःख, मोहादि से युक्त विकारयुक्त तथा गन्धपूर्ण होने की वेतना और सुख, दुःख व मोहादि से विमुक्त होकर युक्त होने की वेतना दोनों ही उसकी वेतन बुद्धि अपरि विन्मनात्मक बुद्धि के अन्तर्गत निहित रहती है अन्यथा विवेक द्वारा कैवल्य प्राप्त निरर्थक हो जाती।

यदि सांख्य दर्शन पर मूल्यात्मक दृष्टिकोण से विचार करते हैं तब हम पुरुष व प्रकृति को दो स्वतंत्र अस्तित्वयुक्त तात्त्विक सत्ताओं के रूप में अपनाते

१. अष्टमोक्ष बह्वेदी, सांख्यकारिका, अनुराधा व्याख्यापिता, संस्कृत हिन्दी विश्व व्याख्या, पृ० ६४।

के लिए ह्यङ्गुल नहीं होते, वरन् उन्हें मूल्यात्मक रूप से विन्यासित सत्ता के दो प्रकार के प्रतीकों के रूप में अपनाते हैं। यदि वस्तुतः ऐसा है तब एक से दूसरे में अवतरण चिन्तनशील एवं विवेकयुक्त ज्ञान के द्वारा ही होता है। यह ज्ञान एक अधिप्राणित चेतना के वन्तर्गत ही दुःखद तथा दुःखयुक्त सत्ता की चेतना को समझता व जानता है। अद्वैत वेदान्ती शंकर का सांख्य दर्शन के मूल्यात्मक दृष्टिकोण से कोई अन्तिम विरोध नहीं हो सकता है। इसमें हर्न कोई विरोध नहीं प्राप्त होता और न ही एक विरोधी के रूप में वे इसकी जाहानना ही करते हैं। अद्वैत दर्शन का अधिप्राय केवल सांख्य की वस्तुन्मुख अधिवृत्ति को आन्वीक्ष्यात्मक व आत्मगत दृष्टिकोण द्वारा अतीन्द्रिय तथा पारमार्थिक अधिवृत्ति में परिवर्तन कर देना है। रघ्यास के सिद्धान्त द्वारा भी शंकर का उद्देश्य केवल नित्य-नित्य वस्तु-विवेक की स्थापना करना ही है। अद्वैत वेदान्त

१. श्री एस०एस० राय, बलाहावाव यूनिवर्सिटी स्टडीज़, १९६८

"The symbolism of person has found its most adequate expression in the ~~the~~ Sāṅkhya metaphysics of the Purusa and Prakriti. The Sāṅkhya could not be understood more grossly than by being understood as a system of dualistic ontology, swearing by two realities, Spirit (Purusa) and Nature (Prakriti). Purusa (Spirit) Prakriti (nature) are not two realities. They are simply the symbols of two kinds of being the same. "Person" can have--being in bondage understood in the triple situation of pleasures (Sukha), Pain (Dukha) and infatuation (Moha) and being--as--Freedom, understood as the transcendence of this 'triplidity' (nistraigunya)."

२. पंचपादिका बाष्पा पद्मपाद, गायकवाड़्स औरियन्टल सीरीज़, बाल्यम १०७,
पृ० २१५।

में वस्तुन्मुख अभिवृद्धि का परमार्थ में उत्कर्ष उपलब्धित किया जाता है ।

सांख्य दर्शन तथा जड़त्वैवान्त में समानताओं के होने हुए भी जड़त्व दार्शनिक शंकर द्वारा सांख्य दर्शन का सांगीपाण सण्डन किया गया है, इस स्थिति की पर्याप्त व्याख्या यह कह कर नहीं दी जा सकती है कि इसका कारण केवल भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान ही है । यद्यपि सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन का एक शास्त्र-विरुद्ध दर्शन सम्प्रदाय नहीं है, किन्तु फिर भी यह अपने दुःखपूर्ण, त्रासितयुक्त अथवा बन्धनयुक्त सत्ता की व्याख्या पृथ्वार्थिक दृष्टिकोण से नहीं परन्तु मयार्थार्थिक दृष्टिकोण से करता है । सांख्य के लिए ब्रह्म अपरिवर्तनीय, अपरिवर्तनीय तथा अविकारी सिद्धान्त है । परन्तु क्योंकि परिवर्तन के बिना विश्व में दुःख, दुःस, मोहादि से युक्त विषयी सत्ता जोय की व्याख्या नहीं की जा सकती है, इसलिए सांख्य विकारसैवा पर्याय या स्वात्मिक विकारयुक्त सत्ता के एक ऐसे नित्य सिद्धान्त की आवश्यकता का अनुभव करते हैं जो परिवर्तन, रमान्तर या विकार आदि की व्याख्या कर सके । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य दार्शनिक उपनिषद् के कूटस्थ, नित्य ब्रह्माव के सुबद्ध सिद्धान्त को दो स्वतंत्र विभागों में विभाजित कर देते हैं -- (१) अविकारी और (२) विकारी । इन दोनों विभागों की अभिवारणा में भारतीय दर्शन के दो बरम सिद्धान्त मिलते हैं जिनमें पृथ्वार्थिक तथा मयार्थार्थिक दर्शनों के नाम से प्रसृत किया जाता है । इनमें से प्रथम का पृष्ठान्त वैदिक दर्शन में तथा दूसरे का पृष्ठान्त बौद्ध दर्शन के सन्तान सिद्धान्त में प्राप्त होता है । निर्विकार पुरुष तथा विकारयुक्त प्रकृति इन दो भागों में उपनिषद् के ब्रह्म का विभाजन दो प्रकार की सत्ताओं की व्याख्या के लिए प्रयुक्त प्रतीकों या रूपों की भांति निर्विष्ट किया गया है । यदि हम यत्नमानें कि सांख्य द्वारा यह विभाजन किया गया है तब भी हमें यह मानना ही होगा कि उनके दर्शन की व्यवस्थित रूप से दो

१. दि कम्पारल हेरिटेज आफ इण्डिया (रामकृष्ण मिशन) पृ० २७-२८

सहस्रांश्वत दुर्व्या के सिद्धान्त के रूप में व्याख्या की गयी है। जब सार्वभ्य के पुरुष व प्रकृति को उनके सत्तात्मक पहलुओं में चेतन तथा अचेतन के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करने वाले दो स्वतंत्र सहस्रांश्वत दुर्व्या के रूप में समझा जाता है तब किसी भी व्यक्ति को अद्वैतवादी शंकर द्वारा इसके विरुद्ध ब्याये गये सभी आरोप स्पष्ट हो जाते हैं। किसी भी व्यक्ति के लिए यह पृथक् स्वाभाविक ही जाता है कि वस्तुतः मुझे पुरुष क्यों और किस प्रकार बन्धनग्रस्त हो जाता है और इस प्रकार पुरुष के बन्धन की व्याख्या करने के लिए सार्वभ्य द्वारा निहित सम्पूर्ण दृष्टि-रचना एक ऐसी अविश्वसनीय गल्प-कथा या एक परिकल्पना प्रतीत होती है जो किसी भी प्रकार के विश्वास व विश्वय है रहित है। सार्वभ्य दर्शन में एक यह तथ्य इसके तथा अद्वैतवादी विचारधारा के विरोध को दृढ़ बना देता है कि पुरुष का वैयक्त्य (मोक्ष) प्रकृति के जाविर्भाव प्रक्रिया के विनाश को अपने में समाहित करता है। इसका तात्पर्य है--प्रकृति के विकार तत्त्वों का प्रकृति में लय हो जाना अर्थात् मलत्त आदि विकारों का प्रकृति में विलीन हो जाना। साम्यावस्था में वर्णित प्रकृति की यह स्थिति पुरुष के स्वातंत्र्य या मोक्ष के साथ सहविरुद्ध होती है। सार्वभ्य तथा अद्वैत दर्शन का विषेद इसी सत्त्व-विवार में निहित है। जब विकार या परिणाम प्रकृति में समाहित हो जाते हैं तब वह प्रकृति पुरुष के साथ एक हो जाती है और उसमें एक अव्यक्त अन्तःशक्ति के रूप में निहित होती है तथा यह प्रकृति-पुरुष को दूषित व विकृत करने में असमर्थ हो जाती है। सार्वभ्य के विचारदृष्टि को इसी रूप में स्वीकार करने से इनकी प्रकृति तथा अद्वैत दर्शन के माया में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। परन्तु सार्वभ्य विचारक तो साम्यावस्था में भी प्रकृति के स्वतंत्र व निरपेक्ष अस्तित्व का तात्त्विक रूप से वृत्तापूर्वक अनुमान करते हैं, इसीलिए अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं और शंकर द्वारा उनके विचार सिद्धान्तों को खाली बना दी जाती है। इस प्रकार हमें दो भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में कारणता-सम्बन्धी दो भिन्न विचारधाराएं प्राप्त होती हैं--सार्वभ्य का परिणामवाद तथा अद्वैतवाद का विवर्तवाद। अद्वैतवादी दार्शनिक सार्वभ्य द्वारा प्रतिपादित परिणामवाद को खाली बना करते हैं, इनकी यह खाली बना सर्वगत एवं अनिवार्यपूर्ण भी है। ऐसा

प्रतीत होता है कि कम से कम व्यक्ति के मुक्त और सब जीवन के प्रतीकों
वर्षात् पुरुष और प्रकृति के रूप में जिन तत्त्वों का प्रयोग किया गया है
का दो प्रत्या की सजा को एक मतागुहा भिन्नान्त में दृढ़ बना देना है ।

यहां हमने सांख्य दार्शनिक व्यवस्था का एक सम्भव पुनर्विचरण प्रस्तुत
किया है । इस प्रकार की पुनर्व्यवस्था का तात्पर्य सांख्य दर्शन-विचार के
वास्तविक अर्थ से परे जाना होगा क्योंकि इसके लिए हमें कोई आधार प्राप्त
नहीं है । वरन् यदि हम इन दोनों दार्शनिक व्यवस्थाओं में निहित प्रयोजनों
की आत्मन्तिक समानता दर्शाने में सफल हुए हैं तो इसका कारण केवल यह
है कि ऐसा साधारण रूप से समझा गया है उसका अपेक्षा हमने इन दोनों
विचारधाराओं को एक दूसरे के समीप लाने को चेष्टा की है । कहने का अर्थ
है कि दोनों में धनियता स्थापित करने का प्रयत्न किया है । ये दोनों
दार्शनिक सम्प्रदाय मूल्यात्मक विचारधाराओं में ही ^{समीपस्थ} स्थित हैं । किन्तु हमारे
समक्ष इन सम्प्रदायों का केवल मूल्यात्मक पहलू ही नहीं है । यह तो शंकर
द्वारा ल्याये गये आक्षेपों से सांख्य दर्शन को मुक्त करने में सफल होने का हमारा
एक अतिरंजित सुप्ताव है ।

यद्यपि सांख्य दर्शन को महत्वा प्रदान करने के लिए ऐतिहासिक निरन्तरता
एवं प्रमाण का अभाव है, परन्तु फिर भी श्रीकृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का कहना है
कि कल्पना के माध्यम से एक दार्शनिक व्यवस्था का रचना करने के लिए एक
माध्यमकार ही सांख्य दर्शन में अधिक विस्तार प्राप्त होगा है । कल्पना द्वारा
इस रचना में इस विश्वास के लिए हमें एक आधार प्राप्त हो जाता है कि
सांख्य दर्शन का मूल्यात्मक विवेचन अन्य दर्शनों को अपेक्षा इस शंकर वैद्वान्त-
दर्शन के अधिक समीप ले जाता है । हमें केवल इसी तथ्य पर कल्पपूर्वक प्रकाश

हालना है कि केतन और षड् (आत्मा और पदार्थ) इन दो द्रव्यों के एक तत्त्व-दर्शन के रूप में सांख्य की कोई भी व्यार्थ व्याख्या ॥३॥ द्वैतवाद की एक ऐसी समस्या प्रदान करने के लिए बाध्य हो जाती है जिसका प्रतिरूप पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट को दार्शनिक व्यवस्था में विद्यमान है । डेकार्ट के मन व दैत के द्वैतवाद की समस्या व्यर्थ हो अपने समाधान के लिए अनेक पद्धतियाँ को उत्पन्न कर देती है, ये पद्धतियाँ अन्तरक्रिया-प्रतिक्रियावाद, समानान्तरवाद तथा लाइब्नीज़ के पूर्व-स्थापित सामंजस्यवाद से थामस रीड, मैकाश, प्रिंगिल पैट्रिक्स तथा एस०एस० हॉरो गार्डि के व्यार्थवाद के रूप में प्राप्त होती है । सम्पूर्ण उल्लेखों, कौतुहलपूर्ण समस्याओं के साथ काटीज़ियन द्वैतवाद के विचार-विमर्श के लिए सांख्य दर्शन में कोई उचित आधार नहीं है, क्योंकि प्रमाणित रूप से यह दृष्टिगत होता है कि काटीज़ियन परम्परा द्वारा कथित एवं निरीक्षित किन्हीं भी समस्या के लक्ष्य से सांख्य दर्शन की द्वैतवाद की समस्या का लक्ष्य स्पष्ट रूप से भिन्न है । डेकार्ट का दर्शन मुख्य दो परिभाषा से प्रारम्भ होता है, सुख, दुःख, मोह आदि के विन्मन के साथ नहीं जिसमें ज्ञान, कर्म व भावना से युक्त सत्ता की सीमाबद्ध किया गया है । मानव केतना को यह सोमा सत्त्व, रजस व तमस इन तीनों गुणों द्वारा प्रतीक रूप में वर्णनीय व प्रस्तुत की जाती है । ये गुण ही सुख, दुःख तथा मोह के अधिष्ठाता हैं । दुःख से मुक्त होने का अर्थ है सुख और मोह से मुक्त होना क्योंकि उनमें से प्रत्येक सीमा या बन्धन के अन्तर्गत है । सांख्य का कैवल्य सम्पूर्ण सोमाओं का अतिक्रमण कर जाता है जिसमें एक तत्त्व द्वारा एक तत्त्व की प्राप्ति होती है । परम रूप से स्वतंत्र मुक्त अस्तित्व की यह अवस्था वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म से भिन्न अवस्था नहीं है ।

सहमत या असाहमत रूप से सांख्य तथा अद्वैत दर्शन में निम्न प्रकार का एक संभव सम्मिलन एवं संयोजन दृष्टिगत होता है -- दोनों के ही मतानुसार बोधन के अन्तिम विश्लेषण में जो ब्रह्म भी वास्तविकता व तथ्य है, वह कैवल्य या मोक्ष है । सांख्य विचारक इसे विवेक का नाम देते हैं तथा अद्वैत वेदान्ती

अपरीक्षा ज्ञान का नाम देते हैं। ज्ञान ही धर्मों दर्शनों का आदिष व अन्त है अर्थात् सर्वत्र है। सांख्य दर्शन का स्वरूप प्रमुख रूप से बुद्धिप्रधान है, हसलियर वे विश्व को मोगे एवं मोक्ष धर्मों के बीच निहित एक मेघ की चिन्तन प्रक्रिया द्वारा आच्छादित समझते हैं। ये मोक्ष को ही अन्तिम लक्ष्य स्वीकार करते हैं जिसमें सुख दुःख तथा मोक्ष की तीन वृत्तियाँ से युक्त सम्पूर्ण वस्तुओं का अनुभव करने वाली समस्त प्रवृत्तियों का अतिश्रमण हो जाता है। अतः तथा सांख्य धर्मों की सम्प्रदाय निवृत्ति या मुक्ति की अन्तिम अवस्था में मन की शान्ति पर बल देते हैं। जन्म देवल उनके निवृत्ति का अभिव्यक्ति में है--इसी अभिव्यक्ति करते हुए सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि मनुष्य बुद्धि राशि विकारों का अव्यक्त प्रकृति में विश्व हो जाना ही मोक्ष है तथा अज्ञेयवादी दार्शनिक कहते हैं कि स्वयं उस वृत्त में ही सम्पूर्ण आपेक्षिक चेतना या चोष का नाश हो जाना मोक्ष है जो कुछ इस रूप में समस्त मेदों व प्रपंच का अधिष्ठान है कि केवल यही उन प्रपंचों का दृष्टा, परिवालक एवं विनाशक है।

अतः तथा सांख्य दर्शनों के बीच मेघ कारणता के सिद्धान्त द्वारा भी उत्पन्न हो जाता है। यह सिद्धान्त अज्ञेय परमार्थवाद के स्तर पर कार्य कर नहीं होता है। सांख्य का यह कारणता सिद्धान्त परिणामवाद है जो एक कार्यवाद का एक रूप है, इसके अनुसार कार्य का अपने कारण में पूर्व अस्तित्व होता है अर्थात् कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। इस प्रकार सत्कार्यवाद अर्थात् परिणामवाद के कारणता सिद्धान्त की यथार्थवादी व्याख्या केर सांख्य अज्ञेय प्रकृति पुरुष की सहनिरन्तरता को स्वीकार करते हैं। इसका तात्पर्य है--जो वृत्तों का सिद्धान्त या ज्ञेयवादी सिद्धान्त। जब मिश्रित पुरुष प्रकृति में निहित सम्पूर्ण कारणता को ही विरोधी स्थितियाँ उत्पन्न कर देती हैं--(१) या तो कोई सृष्टि या विकास गंगा ही नहीं (२) या एक अन्त सृष्टि या विकास गंगा। ये धर्मों की विरोधी वृत्तिकाण सांख्य दर्शन में निर्धारित होते हैं, यद्यपि सांख्य का प्रमुख विचार-दर्शन है जिस पर शंकराचार्यजी ने तत्त्वधिक बहाराघात किया है। किन्तु अतना होते हुए भी सांख्य में अनेक

ऐसी उक्तियाँ प्राप्त हैं जो कम से कम इसे एक अध्यात्मवादी व्यवस्था के अन्तर्गत स्थान देती हैं। जीव जन्मा पुरुषा में विवेक के आविर्भाव से हो सम्भव होते हैं कि नर्तकी के रूप में प्रकृति का निवर्तन हो चुका है। इसका अभिप्राय यह है कि सार्वत्र्य वार्षनिक व्यवस्था, जो प्रकाशानन्द जी द्वारा उनके वेदान्त सिद्धान्त के लक्ष्य है कि दृष्टि ही दृष्टि^१ है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है कि जो कल्ले के 'वृक्ष ही सदा है' इस मत के तथा Douglas Fawcett के Imagism के समान है जो विशेष रूप से योगवाचिक दर्शन से प्रभावित है।

सार्वत्र्य दर्शन का क्षेत्र तारा का नयी आन्वीक्षात्मक परीक्षा के एक विवेकन के लिए प्रस्तुत है। क्षेत्र का प्रकाश उद्देश्य तथा निष्कर्ष यह है कि यदि हम सार्वत्र्य वार्षनिक विचार का अध्ययन मूल्यों के दर्शन के रूप में करते हैं तो हमारा प्रारम्भिक धिन्नु लर्न पुरुषा और प्रकृति के क्षेत्रवादी दर्शन में नहीं प्राप्त होता है बल्कि दुःख, दुःख तथा मोक्षानुति के धिन्नु में प्राप्त होता है, जो वाच में उक्तो सोमार्क के बोध तारा हो प्रवर्तित होता है। यदि मोक्ष बंधन से ही दृष्टि है तथा मोक्ष हो यथार्थ है तब हीना या बन्धन का यह अनुभव ही एक व्याप्ति ज्ञाना मम है और केवल ज्ञाना सुधार ही विवेक कलाता है। इस विवेक में ही जीव का पुरुषार्थ मोक्ष या पूर्णस्वीकृति निमित्त है। विवेक के आविर्भाव से ही प्रकृति निर्मुक्त या निवृत्त हो जाती है तथा पुरुषा अपने स्वयं में स्थित हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि यदि सार्वत्र्य के वार्षनिक तत्त्व विचार को भावनात्मक वाच्यतात्मिक दृष्टि से अपनाया जाता है तो यह नवैत दर्शन के मायावाद के अधिक निकट जा जाता है। हम जानते हैं कि अद्वैत दर्शन को प्रत्येक दृष्टि से समझने के लिए माया का ही सिद्धान्त एक तार्किक कुंजी या मापकण्ड के रूप में प्राप्त है। अतः यदि सार्वत्र्य दर्शन में भी ऐसी ही है, तब तो संभव है एक नर्तकी के निवर्तन को मांति विश्व के संभव से सार्वत्र्य

१. प्रकाशानन्द, वेदान्त सिद्धान्त सुभाषली (अन्युत ग्रन्थमाला) पृ० ४३

२. दि कल्चरल हैरिटेज बापा इण्डिया वाल्यूम-३ पृ० ४२८

की प्रकृति के निवर्तन का यह अर्थ होना चाहिए कि पुरुष के साथ सहस्राश्चय होते हुए भी प्रकृति सुत, दुःख व मोह पादि की प्रान्तिपूर्ण अनुभूति करने के लिए एक अनिवार्य सहायक तत्त्व है, यह दुःख प्रविण्ण स्वरूप का है और यह एक अप्रविण्ण आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकता ।

शंकर द्वारा वैशेषिक दर्शन की आलोचना

~~~~~

हम जानते हैं कि किता भी भारतीय वार्शनिक सम्प्रदाय तथा पाश्चात्य वार्शनिक कान्ट के विचारों में किता प्रकार की असमानता प्राप्त होती है, ठीक उसी प्रकार की असमानता शंकर के जड़त दर्शन तथा कान्ट के दर्शन में भी प्राप्त होती है, क्योंकि जड़त दर्शन तथा अन्य सभी भारतीय दर्शनों में एक जैव दृष्टि ही कार्य करती है । पूर्व प्रकरण में हम इस तथ्य का यथासंभव स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि समान विवक्षित लक्ष्य की प्राप्ति भी सम्पूर्ण दर्शनों का अनीष्ट है, परन्तु फिर भी सब ने जांशिक दृष्टिगोचरों से उस जड़त लक्ष्य को देखा, इसलिए जड़त दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शन दृष्टि-सम्मत सिद्धान्तों से अलग प्रतीत होने लगते हैं । अतः शंकर ने ज्ञान्वीक्ष्यात्मक व्याख्या द्वारा उनकी इस अलगता को दूर करके तथा उन्हें उनकी जांशिक दृष्टिमेव सम्बन्धी मूल की दिशा का वैधान्त मत की रक्षा की । प्रधान कारणवाद की अलगता को दिताने के पश्चात् ब्रह्मसूत्र के 'महदूर्गमधिकरणम्' के अपने भाष्य में न्याय-वैशेषिक दर्शन का एक तार्किक एवं वांछित विवेचन प्रस्तुत किया है तथा इनमें निहित दोषों व तार्किक अलगताओं का निम्न प्रकार से निरूपण किया है —

प्रधान कारणवाद के पश्चात् शंकराचार्य की परमाणुवाद की परीक्षा करते हैं । परमाणुवादी वैशेषिक विचारक वैधान्त मत की अलग सिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए यह कहते हैं कि जैतन वृक्ष द्वारा जैतन फल की रचना सम्भव है । उनका कथन है कि परमाणुओं में गुणात्मक तथा जातिगत या संस्थात्मक तथा दृढगत दोनों प्रकार के भेद हैं, इसलिए सिद्धान्त यह होना चाहिए कि कारण वृक्ष में मिलित गुण कार्य वृक्ष में अपने समान जातिवाले अन्य गुणों

को उत्पन्न करते हैं क्योंकि कारण और कार्य में समान गुण ही होना चाहिए जैसे श्वेत तन्तुओं से श्वेत वस्त्र की तथा रक्तिम तन्तुओं से रक्तिम वस्त्र की उत्पत्ति होती है। लेकिन ध्रुव जलवन जलत का उपादान कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों में समान गुण नहीं है। वेदान्तों शंकराचार्य न्याय वैशेषिक दर्शन-विचार की स्थिति को ही माध्यम बना कर उपरोक्त आक्षेप को निराधार एवं असंगत सिद्ध कर देते हैं। ये कहते हैं कि परमाणुवादी वैशेषिक के अनुसार समवायि, असमवायि और निमित्त इन तीनों कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है, सृष्टिकाल में कार्य को सिद्धि के लिए परमाणु, जो नित्य व निरवयव है तथा रसायि गुणों से युक्त है, समवायिकारण बनते हैं, इनका परस्पर संयोग असमवायि-कारण बनता है तथा अद्रष्ट या ईश्वरीयज्ञान निमित्त कारण बनते हैं। परमाणु का अत्यन्त सूक्ष्म माप ही परिमण्डल है, जब अद्रष्ट से प्रेरित ईश्वर इसके इनमें गति का संचार करते हैं तब ही परमाणु या पारिमाण्डव्य मिल कर द्व्यणुक बन जाते हैं तथा तीन द्व्यणुक मिल कर एक त्र्यणुक का निर्माण करते हैं और चार त्र्यणुक मिल कर एक चतुरणुक का सृजन करते हैं। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि अत्यन्त सूक्ष्म परिमण्डल या परमाणुओं से अणु व द्रव्य द्व्यणुक उत्पन्न होते हैं और उन द्व्यणुक अणुओं से मल्ल व दीर्घ त्र्यणुकों की उत्पत्ति होती है। इसी क्रम से ज्ञात के स्थल पदार्थों की सृष्टि होती है। वैशेषिकों

१. वैशेषिक, स्व० राधाकृष्णन्, कृष्णन्, दि फ़िलासफ़ी आफ़ स्पिरिटुअल लाइफ़  
पृ० ३७३

"The Vaiśeṣika argues that the qualities which inhere in the substance constituting the cause reappear in the substance constituting the effect...If the intelligent Brahman is the cause of the world, intelligence must be present in the effect also. But this is not the case. So the intelligent Brahman can not be the cause of the world."

२. सम० धिरियन्ना, दि एसेन्सियल्स आफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी, पृ० ६

के उपरोक्त विचार का निराकरण करने के लिए वैदान्ती यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार सूक्ष्म परमाणु परिमण्डल से जण्ड व द्रव्य द्व्यण्डों की उत्पत्ति होती है, परिमण्डल की नहीं, द्व्यण्डों से त्र्यण्डों की उत्पत्ति होती है, द्रव्य तथा जण्ड की नहीं, उसी प्रकार जेतन से जेतन नहीं बरन् त्वजेतन की उत्पत्ति भी संभव हो सकती है<sup>१</sup>।

वैशेषिक विचारक पुनः कहते हैं कि हम यह स्वीकार करते हैं कि द्व्यण्डों आदि कार्य उच्च विरोधी तथा भिन्न परिमाण से व्याप्य हैं इसलिए परिमण्डल आदि उनके कारणक या उत्पादक नहीं हो सकते हैं। परन्तु तब भी निहित जेतना का ज्ञात के किसी भी ऐसे गुण द्वारा विरोध नहीं होता जो एक कारण के रूप में तबो कारणक बनाने के लिए किसी कारणगत जेतना कार्य में अन्य जेतना का प्रारम्भ न करे। ज्ञात त्वजेतन या जड़ है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह जेतना का विरोधी कोई गुण है, इसका अर्थ यह है कि त्वजेतन या जड़ कैवल जेतना का समाधेय मात्र है। चूंकि जेतना परमाणु परिमण्डल आदि एक गुण से भिन्न है, इसलिए इसका प्रयोग परमाणुओं की भाँति नहीं किया जा सकता है। यदि हम वस्तुतः ज्ञात का कारण है तथा ज्ञात के किसी गुण द्वारा इसका विरोध नहीं होता, तब इसकी जेतना ज्ञात के कार्य का प्रारम्भ कर सकती है<sup>२</sup>।

परमाणु का निराकरण करते हुए शंकर कहते हैं कि वैशेषिक विचारक परमाणु को ज्ञात का कारण स्वीकार करते हैं। कोई भी कार्य बिना कारण के उत्पन्न नहीं हो सकता है। मगर ज्ञात में यह दृष्टिगत होता है कि कोई भी साध्यक उच्च अपने बहुकूल संयोगबुद्ध इव्यां से ही उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण ज्ञात साध्यक है, हम ज्ञेयवर्ग का विश्लेषण करने से ज्ञेय स्वका निरन्तर विभाजन करते हैं हम अनन्त लक्षता तक पहुँचते हैं। वैशेषिकों के अनुसार यह अन्तरीक्षीन लक्षता या विभाजन की प्रक्रिया सीमा तथा मूल परिमाण की सीमा की परमाणु है, ये परमाणु ही ज्ञान का कारण हैं। ऐसा समझा जाता है कि भौतिक पदार्थ पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के ही मूल परमाणुओं की भी वार

१. जार्ज वी. डू, मैक्स सूत्र पार्ट १, अध्याय २, पाठ २, सू० ११ पृ० ३८३

२. अश्विन श्री भाँडे बाबा, ब्रह्मसूत्र सांख्यसाध्य-रत्नप्रभा--भाषानुवाद संहिता,

अ० ५० २, अधि० २ सू० ११, पृ० ११६४-६५।

श्रेणियाँ हैं। वैशेषिका की यह मान्यता है कि सृष्टि के समय वायु के परमाणुओं में अवृष्ट प्रवृत्तियों के कारण गति या कर्म उत्पन्न होता है, तब वायु के परमाणु परस्पर संयुक्त होकर द्रवणुक तथा द्रवणुक और अन्त में महान वायु की निमित्त करते हैं फिर शीघ्र ही महान जल को उत्पन्न करते हैं और उसके पश्चात् महान पृथ्वी तथा अग्नि प्रकट होती है, वही प्रकार इन्द्रिय-सहित शरीर उत्पन्न होता है। जिस प्रकार वस्त्र तन्तुओं के रूप से उत्पन्न होता है उसी प्रकार वण्ट में रहने वाले रूपादि द्रवणुक, द्रवणुक इत्यादि की उत्पन्न करके ज्ञात की रचना करते हैं। सृष्टि से पूर्व विभाग को अवस्था में परमाणु असंयुक्त रहते हैं तथा उनका संयोग किसी कर्म की अपेक्षा करना है। अतः इस तथ्य के सम्बन्ध में संकर प्रश्न उठते हैं कि कर्म का कोई निमित्त है या नहीं। यदि निमित्त की अवसीकार करते हैं तब कर्म का प्रारम्भ नहीं होगा क्योंकि निमित्त का अभाव है तथा वैशेषिका के मतानुसार प्रत्येकाल में परमाणु निश्चल रहते हैं। यहां वृष्ट निमित्त की स्वीकार करना भी संभव नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी प्रयत्न या कर्म शरीरधारी आत्मा का ही गुण हो सकता है परन्तु वैशेषिका के अनुसार सृष्टि के पूर्व तो वृष्ट शरीर ही असंभव है, अतः इस प्रकार वृष्ट निमित्त का प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि किसी अवृष्टरूपी तत्त्व को कर्म का निमित्त अथवा कारण माना जाय तो प्रश्न उठता है कि अवृष्ट का निवास कहाँ है, अधिष्ठान कहाँ कहाँ है? एक गुण के स्वरूप का होने के कारण इसे किसी द्रव्य में होना चाहिए। अब यदि यह अवृष्ट जीवात्मा में सम्भाव्य सम्बन्ध से रहने वाला है तब यह परमाणुओं को प्रभावित नहीं कर सकता, क्योंकि प्रथम तो अवृष्ट भी अवैतन है और वैशेषिक मत में आत्मा भी शरीर धारण से पूर्व अवैतन है, हम जानते हैं कि अवैतन चैतन्य से संयुक्त होकर ही क्रियाशील हो सकता है, द्वितीय आत्मा में रहने पर भी अवृष्ट परमाणुओं से सम्बन्धित नहीं होता इसलिए भी वह परमाणु में कोई क्रिया नहीं प्रवृत्त कर सकता है। यदि वह परमाणुओं में है तब भी बुद्धिसम्पन्न या चैतन्य न होने से वह परमाणुओं को गति नहीं प्रदान कर सकता है। अब यदि हम यह विचार करें कि अवृष्ट से युक्त जीवात्मा का सम्बन्ध परमाणुओं से है अर्थात् जीवात्मा परमाणुओं में सम्भाव्य सम्बन्ध से रहती है तथा वह अवृष्ट से युक्त



है, तब ऐसी स्थिति में सम्बन्ध भी सदा बना रहेगा और क्रियाशीलता भी नित्य हो जायेगी तथा कर्म का कोई नियत निमित्त नहीं होगा इसलिए कर्म का प्रारम्भ नहीं होगा । परिणामस्वरूप कर्म के संयोग का क्भाव होगा, इसलिए द्व्यणुक त्र्यणुक इत्यादि कार्य भी नहीं होंगे और हमारे अमुष फल का कोई अस्तित्व नहीं होगा । इतना ही नहीं संकराचार्य जी परमाणुओं की पारस्परिक संयुज्जता को भी असंगत सिद्ध करते हैं । वे कहते हैं कि यह समझना कठिन है कि किस प्रकार उनका परस्पर संयोग कार्यान्वित होता है । वैशेषिकों के अनुसार तो परमाणु विभाजन की अन्तिम सीमा है अतः ये अविभाज्य तथा निरवयव हैं । सामान्य अमुष से ज्ञात होता है कि संयोग सदैव विभागयुक्त वस्तुओं में ही होता है । हमारे समस्त परमाणु-सम्बन्धी दो विकल्प स्पष्ट होते हैं—(क) परमाणु एक दूसरे के साथ पूर्ण रूप में संयुक्त होते हैं अथवा (ख) अंशों या हिस्सों में संयुक्त होते हैं । प्रथम विकल्प के अनुसार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि परमाणु एक दूसरे से पूर्णरूपेण संयुक्त ही जाते हैं तब एक का अस्तित्व दूसरे में समाहित हो जायेगा और ऐसी वशा में उनके परिमाण में वृद्धि नहीं होगी, केवल अणुमान ही शेष रहेगा जबकि परमाणु के संयोग से द्व्यणुक व त्र्यणुक की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है । द्वितीय विकल्प के अनुसार यदि हम इनका एक पैर या हिस्से से संयोग मानते हैं तब हम परमाणुओं को निरवयव या प्रवैशस्त्य नहीं कह सकते हैं जैसा कि वैशेषिकों का सिद्धान्त है । यदि हम परमाणुओं में कल्पित वैशों को स्थापना करते हैं तो कल्पित सदैव कल्पित ही रहेगा, अवस्तरूप रहेगा इससे वस्तु-रूप कार्य के संयोग या असम्वायी कारण का क्भाव ही जावेगा और इस प्रकार द्व्यणुक त्र्यणुक कार्य वृद्धि की उत्पत्ति असम्भव हो जायेगी । जब संयोग या उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है तब

विभाग अथवा विभाग या फ़ूल भी वर्णित हो जाता है । उस प्रकार अदृष्ट से सर्व तथा फ़ूल की सिद्धि नहीं होती है और निमित्त के अभाव से भी ज्ञात की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं स्पष्ट किया जा सकता है ।

शंकराचार्यजी परमाणु कारणवाद का खण्डन करने के लिए एक अन्य युक्ति देते हैं । वे कहते हैं कि वैशेषिकों के सिद्धान्तानुसार अस्तुकार्य अर्थात् कारण से कार्य उत्पन्न भिन्न है फिर भी समवायिकारण और कार्य का पारस्परिक सम्बन्ध सम्वाय सम्बन्ध ही होता है । सम्वाय का तात्पर्य है अद्वैतसिद्धि अर्थात् अलग-अलग न रहने वाली वस्तुओं में सम्बन्ध होना जैसे अंश और अंश, गुण व द्रव्य तथा क्रिया व कर्ता आदि में सम्वाय सम्बन्ध है । ज्ञानी ये लोग कहते हैं कि दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाला द्व्यणुक नामक कार्य अपने कारण परमाणुओं से भिन्न होकर भी सम्वाय सम्बन्ध द्वारा इसी सम्बद्ध होता है । जिस प्रकार द्व्यणुक अपने कारण परमाणुओं से भिन्न होता है उसी प्रकार सम्वाय भी सम्वायी से भिन्न होता है । अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भिन्नता या भेद की दृष्टि से दोनों में उत्पन्न साम्य है । यहाँ पर शंकराचार्यजी कहते हैं कि जिस प्रकार कारण परमाणुओं से उत्पन्न भिन्न होते हुए भी सम्वाय सम्बन्ध द्वारा कार्य द्व्यणुक उसी सम्बन्धित होता है उसी प्रकार सम्वाय भी सम्वायी से एक अन्य नवीन सम्वाय द्वारा सम्बन्धित होगा । अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि दो सम्बन्ध होने वाली वस्तुओं से भिन्न सम्वाय स्वयं उन दोनों वस्तुओं से सम्बन्ध होने के लिए एक अन्य सम्वाय की अपेक्षा करेगा, इस प्रकार यह क्रम निरन्तर अन्य, अन्य की माँग करते हुए अनन्त की स्थिति पर पहुँच जावेगा और अवस्था दोष की सिद्धि हो जावेगी<sup>१</sup> । अतः सम्वाय का अभाव सिद्ध हो जाने से परमाणुओं से

१. यतिशर श्री मोहो बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य रत्न-प्रभा-भाषानुवाद संहिता, व०२पा०२ अधि० ३ सू०१२, पृ० ११७६

२. वही, पृ० ११८०

३. वही, पृ० ११८१

द्वयणुक्त आदि के उत्पत्ति के क्रम से ज्ञात की रचना असंभव नहीं जाती है । यदि पूर्वपक्षी वैशेषिक विचारक अपने पक्ष के समर्थन में यह कहें कि सम्भाव्य सम्भाव्यी से निम्न नहीं है धरत उसका स्वरूप ही है । इसलिए दोनों में नित्य सम्बन्ध है, उन्हें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है । यह भी शंकर के अनुसार तर्कसंगत नहीं है क्योंकि उपरोक्त परिस्थिति में संयोग संयोगियों का नित्य सम्बन्ध अर्थात् संयोग भी संयुक्त वस्तुरूप ही जावेगा और किसी अन्य की अपेक्षा से रहित होगा, परन्तु इस प्रकार वैशेषिकों का संयोग की गुण तथा सम्भाव्य की कृष्ण रूप में स्वीकार करना असिद्ध ही जावेगा अतः अन्वयार्थ ही उनकी रक्षा नहीं हो सकती और इस प्रकार इनका परमाणु कारणवाद भी असिद्ध हो जाता है ।

असूत्र शांकरभाष्य में द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के चौदहवें सूत्र द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि परमाणुओं की पारस्परिक संयुक्तता का प्रश्न हम डीढ़ दें तब भी निम्न बार विकल्पों द्वारा वैशेषिकों की यह मान्यता कि 'परमाणुओं द्वारा ज्ञात की सृष्टि संभव है' असिद्ध हो जाती है-- (१) परमाणु क्रियाशील, बल अथवा प्रवृत्ति स्वभाव वाले हैं या (२) निष्क्रिय, स्थिर अथवा निवृत्ति स्वभाव वाले हैं या (३) दोनों ही अर्थात् प्रवृत्ति, निवृत्ति स्वभाव से युक्त हैं या (४) दोनों में से कुछ भी नहीं है अर्थात् प्रवृत्ति निवृत्ति स्वभाव से रहित है । प्रथम स्थिति में क्रियाशील होने से सृष्टि नित्य एवं शाश्वत हो जावेगी और प्रलय असंभव हो जावेगा, दूसरी स्थिति में निष्क्रिय होने से सृष्टि रचना ही असंभव हो जावेगी, तीसरी स्थिति में एक ही वस्तु परस्पर विरोधी हो जाती है जो पूर्णतया असंगत है तथा अन्तिम स्थिति में क्रियाशीलता एवं निष्क्रियता का अभाव होने पर अन्य बाह्य निमित्त कारण की स्वीकार करना होगा । वृष्ट निमित्त तो सृष्टि के अनन्तर ही सम्भव हो सके

है अतः यह निमित्त अवृष्ट होगा किन्तु यह भी स्थायी रूप से बुर या समीप होने के कारण नित्य प्रगुति तथा नित्य निवृत्ति को उत्पन्न करेगा । इस प्रकार शक्तिर वेदान्त मत के अनुसार उपरोक्त बार विकल्पा द्वारा भी परमाणु कारणवाद सिद्ध नहीं होता है ।

वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार ज्ञात के निर्माणक तत्त्व वायु, जल, पृथ्वी तथा अग्नि आदि बार प्रकार के परमाणु हैं । ये नित्य, निरवयव, अविनाशी तथा अविभाज्य हैं परन्तु स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों से भी युक्त हैं । शंकर कहते हैं कि एवं रूप, रस इत्यादि गुण गोबर बस्तुजों से स्थूल रूप से दिखाई देते हैं तथा ये अनित्य होते हैं और उनका कोई न कोई उपादान कारण होता है जो उनसे सूक्ष्म होता है और स्थूल वस्तु से उसका कारण तत्त्व सूक्ष्म होता है तथा अनित्य भी होता है । उसी प्रकार यदि वैशेषिकों की परमाणु रूपादि गुणों से युक्त हैं तब अवश्य ही उनका भी कोई कारण होगा जो इनसे सूक्ष्म होगा तथा ये परमाणु अनित्य होंगे । यदि इनकी रूपादि गुणों से युक्त नहीं मानते तो रूपादि गुणों को कार्या में सिद्धि नहीं होती । गुणों से युक्त मानने पर इनको नित्यता सिद्ध नहीं होती ।

वैशेषिकवेदान्ती शंकर एक अन्य युक्ति द्वारा भी परमाणुवाद को असंगत ठहराते हैं । वैशेषिक विचारक रूप, रस, स्पर्श व गन्ध आदि गुणों से युक्त पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि आदि भूत तत्त्वों की स्थापना करते हैं । तब हमारे समक्ष इन भूतों तथा इनके आरम्भक परमाणुओं से गुणों की स्थिति का अनुमान करना होगा । इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष कई स्थितियाँ होती हैं, जैसा कि वैशेषिकों ने स्वीकार किया है पृथ्वी नामक भूतलात्त्व गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुणों से युक्त स्थूल तत्त्व है, जल, रूप, रस तथा स्पर्श से युक्त सूक्ष्म तत्त्व है, अग्नि या तैल, रूप व स्पर्श गुणों से युक्त होकर सूक्ष्मतर तत्त्व है तथा वायु स्पर्श से

१. यत्किंच श्री मोक्ष बाबा, ब्रह्मसूत्र शक्तिरमाष्य, रत्न-प्रभा भाषानुवाद सहित,  
भाग २, अ० २ पा० २ अ० १४ सू० १४ पृ० १२५४

२. वही, पृ० १२६०

युक्त होने के कारण सूक्ष्मत्व है। इस प्रकार जब पृथ्वी आदि भूतों में गुणों का न्यूनाधिक्य है तो उनके आत्मिक या कारण परमाणु भी न्यूनाधिक गुणों से युक्त होंगे। अधिक गुणों से युक्त भूत तत्त्व का स्थूल आकार भी बृहत् होगा और फिर इसी के अनुसार उनके कारण परमाणुओं का परिमाण भी अधिक होगा परन्तु शंकर कहते हैं कि इस स्थिति में परमाणुओं के परिमाणत्व की हानि होगी। यदि इस प्रकार का न्यूनाधिक्य न मान कर परमाणुओं को समान गुणों से युक्त मानते हैं, तब या तो सभी भूत तत्त्व बार-बार गुणों से युक्त होंगे क्योंकि पृथ्वी के अतिरिक्त जल में भी गन्ध तथा अग्नि में भी गन्ध व रस तथा वायु में भी रूप, रस, गन्ध आदि अन्य गुणों की स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि रेशा प्राप्त नहीं होता है, या तो वे एक-एक गुण से युक्त होंगे, किन्तु इस स्थिति में भी पृथ्वी को केवल गन्ध, जल को केवल रस, वायु को केवल स्पर्श तथा अग्नि को केवल रूप इत्यादि एक-एक गुण से ही युक्त मानना होगा क्योंकि कारण के गुण कार्य में समान जातीय गुणान्तर प्रकट करते हैं, शंकर का कथन है कि इस प्रकार इनका परमाणुवाद अनेक असंगतताओं से परिपूर्ण है<sup>१</sup>।

शंकराचार्य भी कहते हैं कि न्याय-वैशेषिकों का दार्शनिक विचार अनेक असंगत मान्यताओं से पूर्ण है, इसीलिए वैवर्चायी विचारकों ने इसे स्वीकार नहीं किया है। छांट्य विचारक तो अपने सत्कार्यवाद के सिद्धान्त द्वारा वहु आदि वेदसम्मत विचारकों को कुछ संतुष्टि प्रदान भी करते हैं<sup>२</sup>।

सर्वप्रथम हम देखते हैं कि न्याय-वैशेषिक वर्णन पृथ्वी, गुण, विशेषण इत्यादि सात पदार्थों के विभिन्न प्रकारों की स्थापना करते हैं। शंकर के विचारानुसार यह सिद्धान्त विराधपूर्ण है क्योंकि पूर्वपक्षी विचारक पदार्थों को भिन्न-भिन्न तथा स्वतंत्र मानते हुए भी गुण, कर्म आदि पदार्थों को पृथ्वी पदार्थों के आश्रित

१. यदितर श्री मांलै बाबा, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, रत्नप्रभा भाषानुवाद संहिता, भाग २, अ० २, पा० २ अ० १४ सू० १४ पु० ११६३

२. यही, पृ० ११६४।

बताते हैं। इनके अनुसार द्रव्य के अस्तित्व से गुण, कर्म आदि का अस्तित्व है तथा द्रव्याभाव से उनका भी अभाव है, जैसे अग्नि और धूप के समान, द्रव्य और गुण की भेदप्राप्ति नहीं है, इसलिए गुण द्रव्यात्मक है, यहाँ भी विरोध स्पष्ट है। इस विरोध का निराकरण करने के लिए यदि द्रव्य व गुण को व्युत्पत्ति तथा सम्बाध सम्बन्ध द्वारा संयुक्त माना जाय तब भी इस रिधति में व्युत्पत्तिता या तो वैशाश्रित होगी या कालाश्रित होगी अथवा स्वभाव आश्रित होगी अर्थात् स्वयंसिद्ध होगी। वैशाश्रित होने पर इनके इस सिद्धान्त का विरोध हो जाता है कि द्रव्य 'द्रव्या' का तथा गुण 'गुणों' का उत्पादक है। कालाश्रित मानने पर गाय के बाये-बायें भ्रूणों का भी व्युत्पत्ति मानना होगा तथा स्वयंसिद्ध मानने पर द्रव्य व गुण का स्वरूप भेद ही अनुपपन्न हो जावेगा और दोनों में तादात्म्य होगा।

वैशेषिक वार्तनिक व्युत्पत्ति पदार्थों के सम्बन्ध को सम्बाध तथा व्युत्पत्ति पदार्थों के सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। शंकर के अनुसार यह भी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि शंकराचार्य जी के मतानुसार सम्बन्ध सर्व वी पदों की अपेक्षा रहता है, यदि उनमें यथार्थ सम्बन्ध है तब उन दोनों का अस्तित्व होना चाहिए। किन्तु वैशेषिकों का सम्बाध सम्बन्ध स्कांगी होता है क्योंकि कारण अपने कार्य के अभाव में अस्तित्वयुक्त होता है। कार्य अपने कारण से अपृथक होता है, परन्तु फिर भी दोनों का अपृथक सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पाता है। यदि पूर्वपक्षी यह कहते हैं कि कार्य सिद्ध होने के पश्चात् कारण से सम्बद्ध होता है तो ऐसी अवस्था में कारण सम्बन्ध से पहले ही कार्य की सिद्धि मान लेने से भी व्युत्पत्तिता या अपृथक्ता असम्भव हो जाती है। अतः वैशेषिकों का यह मत स्थापित नहीं हो सकता कि 'कार्य-कारण' का संयोग व विभाग नहीं होता। 'ष्ट, पट आदि उत्पन्न मात्र कार्य द्रव्यों का आकाश, जल, मिट्टी, सूत आदि कारण द्रव्यों के साथ संयोग सम्बन्ध होगा, सम्बाध सम्बन्ध नहीं। इसलिए संयोग व सम्बाध का भेद

असंगत एवं असत है क्योंकि एक ही वस्तु सम्बन्ध मेव से अनेक कही जा सकती है जैसे--एक ही मनुष्य ब्राह्मण, पिता, पुत्र आदि अनेक सम्बन्धों द्वारा जाना जा सकता है ।

वैशेषिक सिद्धान्तवादी यह स्वीकार करते हैं कि परमाणु, आत्मा तथा मन में पारस्परिक संयोग या सम्बन्ध है किन्तु हम जानते नहीं कि उनकी संयुक्तता किस प्रकार संभव है क्योंकि संयुक्तता तो वैशीय वस्तुओं में ही होती है । इनका काल्पनिक प्रवेश मानने से सभी अनुपस्थित वस्तुओं की कल्पना होने लगेगी और वैशेषिकों के सारे पदार्थों के अतिरिक्त अनेक पदार्थों की स्थापना अनेक तर्कों के अनुसार होने लगेगी । यहाँ एक बात यह भी है कि जिस प्रकार निरवयव आकाश से द्रव्यणु का सम्बन्ध असम्भव है उसी प्रकार परमाणुओं के साथ भी अवयवयुक्त द्रव्यणुओं का सम्बन्ध असम्भव ही जावेगा अतः आकाश व पृथ्वी में कोई घनिष्टता नहीं रहेगी । इसके लिए वैशेषिक विचारक सम्बन्ध सम्बन्ध को स्थापित करके द्रव्यणु कार्यद्रव्य तथा परमाणु कारण द्रव्यों में वाञ्छितान्वय भाव को स्पष्ट करते हैं । किन्तु शंकराचार्य जी के अनुसार ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध वृष्टिगत होता है अर्थात् कारण व कार्य में भेद होने पर ही वाञ्छितान्वय भाव की सिद्धि होती है, परन्तु शंकर इस सम्बन्ध को न मान कर कारण-कार्य से तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं ।

यदि परमाणुओं की परिच्छिन्न माना जाय तो वे विशालों द्वारा अवयवयुक्त होकर अनित्य ही जावेंगे । इस प्रकार वैशेषिकों के परमाणुओं की नित्यता तथा उनका निरवयव होना असिद्ध ही जाता है ।<sup>१</sup> विशाभेद से मिश्र अवयव ही परमाणु हैं<sup>२</sup> इनका यह कथन भी युक्तसंगत नहीं सिद्ध होता है क्योंकि स्थूल-सूक्ष्म रूप के अनुसार जब पृथ्वी तथा उसके बाय सूक्ष्म, सूक्ष्मतर द्रव्यणु

१, यतिवर श्री मोठे बाबा, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, रत्नप्रभा, भाषानुवाद सहित,

व० २ पा० २, अधि० ३ सू० १७ पृ० १२००-१२०१

२, वही पृ० १२०४-५।

जादि विनष्ट होते हैं तब तो समान जाति वाले होने के कारण परमाणु मो नष्ट होंगे । यहाँ यह कल्पना भी उचित नहीं है कि किसी वस्तु का विनाश केवल उसके अवयवों के पृथक्करण द्वारा ही सम्भव है क्योंकि घृत, सुवर्ण आदि के ठोस स्वरूप का विनाश अग्नि के संयोग से हो जाता है । इसी प्रकार परमाणुओं के पूर्ण स्वरूप का विनाश भी उनके सुक्ष्मस्वरूप या उनके परम कारण भाव की प्राप्ति से हो जाता है और ऐसा भी दृष्टिगत होता कि अवयव संयोग के अभाव में जल जादि से हिम जादि कार्यों की उत्पत्ति हो जाती है । शंकराचार्य भी कहते हैं वैशेषिकों का परमाणुवाद तर्कसंगत एवं द्रुति-सम्मत सिद्धान्त नहीं है ।

(२)

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् इस बात का निरूपण करना जसगत न होगा कि वैशेषिक दर्शन सम्बन्धी शंकराचार्य जी की समीक्षा हमें यह बताने का एक सुवसर प्रदान करती है कि यह वार्त्तनिक विचार-व्यवस्था अपने तत्त्ववार्त्तनिक तथा तार्त्तिक प्रतिपादन में अद्वैत दर्शन से दूर तथा भिन्न होते हुए भी किस प्रकार अद्वैत वार्त्तनिक तत्त्ववेतना से उत्पन्निक अभिन्न एवं समीप है जबकि कान्ट की पद्धति व्यवस्था और विचार के संगतपूर्ण प्रतिपादित सादृश्य के आवज्ज भी शंकर और कान्ट में इस प्रकार की अभिन्नता एवं समीपता नहीं प्राप्त होती है । यहाँ वस्तुतः हमारा विचारणीय प्रश्न यह है कि वैशेषिक दर्शन व्यवस्था-सम्बन्धी समीक्षात्मक व्यवस्था परीक्षा किस प्रकार कणाव एवं इनके अनुयायियों के परमाणुवादी वैशेषिक सिद्धान्त तथा शंकर के अद्वैत सिद्धान्त के बीच निहित एक जातिगत वात्त्यन्तिक समानता को अभिव्यक्त करती है ? इस समस्या का उत्तर देने के लिए हमारे पास एकमात्र साधन यह है कि हम भारतीय दर्शन के दोनों सम्प्रदायों में निहित उद्देश्य के तादात्म्य पर विवेकपूर्ण दृष्टि डालें ।



सत्ता की सृष्टि वैज्ञानिक या विश्वकारणमूलक व्याख्या के लिए परमाणुवाद की अपनी प्रतीयमानता: भौतिकवादी परिकल्पना के बावजूद भी वैशेषिक दर्शन अपने विचारसत्त्व में उतना ही आध्यात्मिक है जितना कि अतैवर्शन । यह आध्यात्मिक स्थिति-निर्धारण प्रसूत समस्या-सम्बन्धी घुरपष्ट एवं निर्गुन्त कथनाँ में निहित है । प्रसूत समस्या वैदिक संतुष्टि के लिए एक तत्त्वदर्शन प्रदान करने की नहीं है वरन् जीवन के उग्र उदय को एक निर्गुन्त एवं समुचित तरीके से छिपाए करने की है, जो व्यक्ति का नियत उद्देश्य है अर्थात् मोक्ष है या विषय के कथनाँ से मुक्ति है । ज्ञान का परिस्थान करके आत्मा को अपने ही स्वरूप का प्राप्ति करना है । अनिवा, जो दुःख, सुख से समाविष्ट ज्ञात के भाग के प्रति बन्धन का कारण है, उसे समाप्त या बाधित हो जाना है और ज्ञान नित्य-नित्य वस्तु-विदेक है तथा यह आत्मा क्या है और क्या नहीं है इसके अन्तर की पहचानता है । सामान्यतः वैशेषिक विचारक आत्मा का एक विषयी के रूप में विचार नहीं करते । आत्मा का विषयी के साथ तादात्म्य करना अनिवार्य रूप से विषय के चिन्तन में एक बन्धन, शक्तिता या फंसाव को उपलक्षित करता है । इसका तात्पर्य एक ऐसी स्थिति का स्वीकार किया जाना है, जिसमें विषयी को चेतनायुक्त समझा जाता है तथा इस चेतना को इसके एक अनिवार्य गुण के रूप में गृहण किया जाता है । विषयी और चेतन्य के बीच का यह अनिवार्य सम्बन्ध वैशेषिक दर्शन को बाध्य कर देता है कि वह विषयी आत्मा का चेतन्य के साथ तादात्म्य स्थापित करे । निःसन्देह ही आत्मा, चेतना को अपने गुण को भाँति प्रतिनियुक्त रूप में मन के साथ अपने संगर्भ से प्राप्त करती है । मन यथार्थ जात्पन नहीं है । यथार्थ श्रवम् अथवा आत्मा एक अवैतन दृश्य है । चूंकि चेतनाका कार्य त्रिमुक्षी स्वरूप का है—ज्ञान, भाव तथा क्रिया अर्थात् जानना, अनुभूति करना तथा क्रियाशील होना और इनमें से प्रत्येक कार्य अनिवार्यतया एक विषययुक्त सम्बन्ध का सामना करता

१. पंचपादिका भाष्य पद्मपाद, गायकवादेन औरियन्टल सिरीज, वात्स्युम नं० १०७,

पृ० २१५ ।

है, इसलिए वेतना स्वयं ही दुःख तथा उसके पूरक सुख की एक अवस्था बनने के लिए प्रवृत्त हो जाती है। जोषा के रूप में मुक्ति का तात्पर्य है दुःख, सुख से परे जाना। दुःख, सुख से परे जाना केवल वेतना के अतिक्रमण द्वारा ही संभव है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आत्मनिष्ठता से परे जा कर ही दुःख सुख से निवृत्ति सम्भव हो सकती है। यही कारण है कि वैशेषिक दार्शनिक एक ऐसे आत्म-बुद्ध्य को मान्यता देते हैं, जो स्वाभाविक रूप से वेतना-शून्य है। ऐसा करने में वैशेषिक विचारक प्रतीयमानतः स्पष्टरूप से उपनिषद्वादी के दर्शन के विपरीत जाते हुए प्रतीत होते हैं, तथा ऐसा मालूम होता है कि स्पष्ट रूप से वेदात्मा के एक भाक्तिकवादी सिद्धान्त का प्रचार व प्रतिपादन करते हैं। आत्मा का वेतनशून्यता को आत्मा के पदार्थत्व या उसकी पौण्ड्रिक जड़ता के रूप में नहीं सम्झना चाहिए। यद्यपि वैशेषिक सिद्धान्ती आत्मा की व्याख्या ज्ञेयतत्त्व के रूप में करते हैं किन्तु फिर भी यह ज्ञेयता पौण्ड्रिक जड़ता की भाँति कोई वस्तु नहीं है। आत्मा की जड़ता आत्मा की अव्युत्थिता या विकारहीनता का प्रतीक है और यह ज्ञात में सुख दुःख के व्यापार द्वारा घटित होता है।

इस प्रकार यह उपलब्ध होता है कि वैशेषिक दर्शन के विचारकों की स्पष्ट रूप से दो तथ्याँ से अलग होना चाहिए तथा जहाँ तक हम विचार करते हैं वे दोनों ही तथ्य वैशेषिक दर्शन को उचित रूप से सम्मानने के लिए पूर्वमान्यताएं हैं— (१) विषयी यथार्थ आत्मन् नहीं है। आत्मयुक्त सत्त्व विषयी-विषय के द्वारा पोषित वेतना के आविर्भाव में नहीं निहित होता है, विषयिता या आत्मनिष्ठता सत्य नहीं है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सत्त्व की यह स्थिति कीर्त्तार्थ आदि अस्तित्ववादी दार्शनिकों की सत्य सम्बन्धी स्थिति से

पृथक् हैं, इनके विचारानुसार तो सत्य आत्मनिष्ठता ही है। (२) वस्तुनिष्ठता अनिवार्यतया पदार्थ या पुरुषलब्ध या जड़ का कार्य नहीं है। संस्कृत शब्द तथा इसके विशेषण जड़ता का तात्पर्य विचारकों द्वारा स्वीकृत द्रव्य पदार्थ या मौक्तिका नहीं है। यहाँ जड़ता का तात्पर्य केवल किसी भी प्रकार की मनोवृत्ति या मानसिक कार्य का अप्रभाव है, उसकी अपारम्यता एवं अपेक्षा है जो अपने ज्ञातात्मक, भाषात्मक तथा क्रियात्मक इन तीनों परलुप्त में आत्म-द्रव्य को सीमाबद्ध करने के लिए प्रयुक्त हो जाती है। यह आत्म-द्रव्य इस मनोविकृति में अधिष्ठित सम्पूर्ण वस्तुओं से संकरूप में पृथक् है। भारतीय दार्शनिक व्यवस्था में तो मौलिक आत्मत्व की निर्विकारता का ही अर्थ, मन एवं निविध्यमान होता है। अन्तिम वस्तु-सम्बन्धी हमारे ज्ञान के अन्तिम श्रुति के रूप में वैशेषिक दार्शनिक भी वेद धर्म ग्रन्थों तथा धृति को ही स्वीकार करते हैं। इसी अर्थ निगमागम सम्मत विचार दृष्टि के कारण ही ये विचारक अद्वैत दर्शन के समीप पहुँचते हुए प्रतीत होते हैं। हम मशीभांति यह निर्विष्ट कर सकते हैं कि किस प्रकार भाषण परमाणुओं के एक सिद्धान्त में वैशेषिक तत्त्वदर्शन पशुष्ट एवं प्रमित हो जाता है, तथा विश्व की उत्पत्ति और विनाश की व्याख्या के लिए परमाणुओं के संयोग एवं विभाग की अनिवार्य अपेक्षा रहता है। वैशेषिक तत्व-दार्शनिक वस्तुओं की मौक्तिकावी व्याख्या द्वारा पशुष्ट नहीं है। कभी-कभी ज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण भी हमें बोझ दे जाता है, इसलिए हमें एक अत्यन्त गहन एवं गूढ़ स्तर पर अनुमान प्रमाण की आवश्यकता

१. थोरेन्डमोहन दाग, वि वीफ़ कॉन्ट्रस जाफ़ कॉन्ट्रैपेररी फ़िलासफी,  
पृ० ५१६ तथा कीकैमार्ड, कन्क्लूज़िंस अनसाइंटिफ़िक पोस्ट स्क्रिप्ट, पृ० २२६,  
२२९ जहाँ हमें इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—

"only in subjectivity there is decisiveness, to seek  
objectivity is to be in error."

२. वृहदारण्यकौपनिषद् ( अनुवाद शांकरभाष्य सहित ) अध्याय २, ब्राह्मण ५ ।

पड़ती है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार पाश्चात्य विन्तक ह्यास्टेड अपने त्रिविध ज्ञात सम्बन्धी ज्ञान का प्रारम्भ संवेदन साक्षी से करते हैं तथा उसके पोषण के लिए एक सैद्धान्तिक व्याख्या देते हैं, इसके पश्चात् वास्तव वस्तुओं के एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। ठीक उसी प्रकार वैशेषिक दार्शनिक भी अपने ज्ञात-सम्बन्धी ज्ञान का प्रारम्भ संवेदन के साथ करते हैं तथा इसके लिए वे सैद्धान्तिक व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं और हमारे समक्ष वास्तव वस्तुओं के इस एक सिद्धान्त के प्रतिपादन के एक अमूर्त स्तर का प्राशुभावि वात्सा तथा परमाणुओं के स्वरूप में करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि कौ क्या है जो परमाणुओं को उनका निरवयव तथा सूक्ष्म स्थिति से उन्हें जटिल एवं स्थूल रूपों में गतिशील होने के लिए प्रवृत्त करता है। इसके लिए वैशेषिक विचारक आत्माओं के धर्म और अधर्म अर्थात् अदृष्ट या अदूर्त जपुर्व में कारणात्मक सामता का निधारण करते हैं। उपरीज सम्पूर्ण अनुमान एक ऐसे आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अभिमुख होता है जो वैशेषिक दर्शन व्यवस्था में मूलभूत महत्व का वस्तु है अर्थात् अन्तिम उद्देश्य मोक्षा है तथा अन्तिम तत्त्व दार्शनिक विश्लेषण में एकमात्र सत्य है। इतना ही नहीं यह एकमात्र अव्यधिक मूलभूत व महत्वपूर्ण सत्ता है और यह सत्ता सुख दुःख से परे की सत्ता है जिसकी व्याख्या हम 'ज्ञानम्' शब्द में भी कर सकते हैं और नीचे भी कर सकते हैं। यह आत्मवादी दृष्य ही ज्ञान द्वारा दुःखपूर्ण अनुभव का कैन्द् या बीजक बन जाता है, अतः हमारी विचारतन्त्रा इन प्रश्नों पर ठहर जाती है कि ज्ञान से निवृत्ति का क्या तात्पर्य है, सत्य का तादात्म्य किससे किससे किया जाता है, इत्यादि ? यहाँ यह कहा जा सकता है कि दुःख के अभाव का अर्थ ही ज्ञान का अभाव है, परन्तु ज्ञान का अधिष्ठान क्या है ? ज्ञान उस आत्मनिष्ठता के

---

१. थोरेन्डमोहन दास, वि बीफू करेन्डस आफ् कॉन्टेम्प्लोरी फ़िलासफी,  
पृ० ४३४। तथा ह्यास्टेड, नेवर एण्ड लाइफ, पृ० ६४

के अभाव में निहित है जिसका कार्य ही नेतना है । वैशेषिक तथा इनके प्रतिरूप न्याय-दर्शन दोनों ही विग्रह रूप से वस्तुविष्ट दृष्टिकोण में चिंतन पर बल देते हैं । पुनः जात्मा ही ब्रह्म सत्य है, परन्तु इस सत्य का तात्वात्म्य एक वस्तु विषय के साथ किया गया है । एवाहटवैठ की श्रद्धावली में इसी वस्तु-विषय का प्रयोग 'नित्य वस्तु-विषय' के रूप में किया जाता है । चिन्तन के भिन्न-भिन्न स्तर तथा दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं । चिन्तन के दो स्तर हैं--(१) आनुभविक तथा (२) अनुभावीत । भारतीय दर्शन में केवल वाचक दर्शन ही आनुभविक स्तर पर चिन्तन करता है । शेष सभी दर्शनों का चिन्तन न्यूनाधिक रूप में आनुभविक स्तर से परे बढ़ा जाता है । आनुभविक चिन्तन से परे तत्त्व-वार्त्तिक चिन्तन है, यह तात्त्विक चिन्तन एक वस्तुनिष्ठ स्वरूप का भी हो सकता है तथा इससे स्तर क्षीण अन्य स्वरूप का भी हो सकता है जैसे--तात्पनिष्ठ प्रपञ्चन्यायात्मक तथा अतीन्द्रियात्मक । तात्त्विक चिन्तन सम्बन्धी इन स्वरूपों के वर्गीकरण का सुझाव श्री कृष्णबन्धु भट्टाचार्य ने अपने निबन्ध 'दि कान्ठोप्ट वाफ़ फ़िलासफ़ी' में किया है । 'वि डेरिटेज वाफ़' शंकर में श्री नारदाय दर्शन सम्प्रदायों के स्तर-विन्यास के सम्बन्ध में इस तथ्य का अत्यधिक विस्तार से विवेक किया गया है, इसमें गुन्फकार श्री शिवशंकर राय ने इस बात का उचित एवं सफल रूप से वाचा किया है कि एक आधारस्तम्भ के रूप में अद्वैत दर्शन के साथ हम सम्पूर्ण भारतीय दर्शन सम्प्रदायों को संरचनात्मक एकता प्रदान कर सकते हैं ।

चिन्तन के विभिन्न स्तरों से भारतीय दर्शनों का स्तर-विन्यास निम्न प्रकार से किया गया है --

१. जारमेट्र, ए सन्डैड बयर्स वाफ़ ब्रिटिश फ़िलासफ़ी, पृ० ६१८

२. कृष्णबन्धु भट्टाचार्य, एटवीज इन फ़िलासफ़ी वाल्यूम-२, पृ० १०२

३. श्री एस०एस० राय, वि डेरिटेज वाफ़ शंकर, पृ० १४६-५०

(१) वार्षिक वार्षिक विशुद्ध रूप से वाचस्पतिक स्तर पर चिन्तन करते हैं तथा इनके अनुसार प्रत्यक्षा ही ज्ञान एवं सत्य का स्वरूप प्रमाण है ।

(२) सांख्य तथा न्याय-वैशेषिकों का चिन्तन स्तर अनुवासीत है । किन्तु ये द्वैतवाद्य तथा अनेक दृष्टियों के सिद्धान्त के साथ वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण में चिन्तन करते हैं ।

(३) योगाचार वार्षिक वाचस्पतिक दृष्टिकोण में चिन्तन करते हैं तथा इनके अनुसार सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता ज्ञान के रूप में समाप्त हो जाती है ।

(४) सूत्रवादी बौद्धों प्रत्येक भूत ज्ञाना विगति के बारे में केवल आर्जवनात्मक कृष्णोदिविनिर्मुक्त दृष्टि से चिन्तन करने के लिए प्रवृत्त होते हैं तथा ये किसी भी सिद्धान्त को अस्मत्तावाँ से परिपूर्ण करता है । सम्पूर्ण विस्तृत चिन्तन का लक्ष्य एवं स्वरूप दृष्टिशून्यता है । दृष्टि की स्वभावता ही प्रज्ञा है ।

(५) अज्ञेय दर्शन न तो चिन्तन के वाचस्पतिक स्तर को स्वीकार करता है न तो वस्तुगत स्तर एवं नृपुष्कोदिविनिर्मुक्त स्तर को । यह अतीन्द्रियात्मक स्तर का प्रतिपादन करता है ।

१. श्री एसएसआराम, दि हैरिटेज आफ् ज्ञान, पृ० १५०-५१

२. वही, पृ० १५२

३. वही ।

४. वही, पृ० १५८

५. वही, पृ० १५२-६० "To know the Ātman, it is necessary to turn away from the given in its literal aspect to its symbolic implication. The Ātman is not one of the entities given--the object and the subject, as literally understood, yet the Ātman embraces both, if we are prepared to take them as symbols of the limitless and the infinite. Each arrested breath, each fragmentary, theoretic construction, is the symbol of that, which is freedom itself. Each step in the philosophical morphology of the Indian consciousness, can be seen in two aspects: (1) the dogmatic and (2) the critical. In the dogmatic aspect each step becomes a closed system of thought, subject to refutation, and fit enough to be disbelieved and disowned and to be understood as literally false. In the critical aspect, each content understood as literal false, can be computed into a symbol, which brings home to us, the

एतत् न तौ आत्मनिष्ठता ( विषयनिष्ठता ) है न तौ वस्तुनिष्ठता, इसका तत्त्व वात्सल्य तथा वस्तुगत किसी भी दृष्टिकोण में बुद्धिमत्त्व नहीं है, वस्तु विज्ञान रूप से कवीन्द्रियात्मक दृष्टिकोण में स्वप्रकाशित जगद्विज्ञान से स्वरूपित है तथा यह सम्पूर्ण आत्मनिष्ठता एवं वस्तुनिष्ठता को अपने में समाहित करता है ।

एक वैशेषिक दर्शन तथा ब्रह्म दर्शन को उद्देश्य की दृष्टि से समीप लाना है, किन्तु यहाँ हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि दोनों में तादात्म्य है, क्योंकि दोनों में तादात्म्य स्थापित करना जितना ही कठिन है उतना ही शान्त भी । वस्तुतः हम जो कुछ भी निरक्षरित करना चाहते हैं वह केवल यही ज्ञान है कि दोनों ही दार्शनिक सम्प्रदाय एक समान उद्देश्य को और अभिमुख होते हैं जगत्तत्त्वों की आत्मासूक्ति या मोक्ष की सुस्थापना करते हैं । दोनों ही दर्शन जाँचता की धारणा का निरूपण इस रूप में करते हैं कि इस सारा ही कारण अज्ञानता में निहित है, तथा वैशेषिक व ब्रह्म दर्शन दोनों का यह विश्वास भी है कि मोक्ष ही दुःख की बीमा से परे की अवस्था है । आत्मा के इस घोषातीत पारलौकिक स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए ही वैशेषिक दार्शनिक सारा की अत्यधिक विविधित अवस्था के रूप में आत्मा की ऐतन्यूनता पर बल देते हैं । मनीषि कणाद द्वारा स्थापित वैशेषिक दर्शन में केवल एक ही बात है, जो इसी एक अमिट वाक्य के साथ विकृत कर देती है । बुद्धि वैशेषिक दार्शनिक वस्तुगत दृष्टिकोण से हृत्तर रूप में सौच ही नहीं सकते हैं अतः उनके अनुसार मोक्ष की परिधि में विविधित आत्मा केवल विचार की रूपान्तर है, एक ऐसी संज्ञा है जो अन्य विषयों के बीच केवल एक विषय है, और इसी को ही अन्तर नहीं आता कि वह संज्ञा परमाणुओं के संघात से निर्मित एक नस्त्र विषय है अथवा आत्मा या अन्तिम कण के रूप में स्वीकृत जण्ड के समान आधार विषय है । इन परमाणुवादी विचारों के पक्ष में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनके अनुसार आत्मा अविनाशिक है, इसलिए हर्ष या घोषित करने में कोई संकोच व विवकिवाहट नहीं है कि आत्मा ऐतन्यारहित

है। इसका कारण यह भी है कि अतिवैतना या अतिमानसिकता की अमानसिक या अवैतन के रूप में वर्णित किया जा सकता है। विद्वत् वैतना के रूप में आत्मा-सम्बन्धी अज्ञेयवादी दृष्टिकोण के अनुसार वैतना या वित् पानसिक नहीं है, इसलिए यह दृष्टिकोण संगत है।

यदि कोई विचारक न्यायवैशेषिकों के अनुयायियों तथा अज्ञेय मत अनुयायियों में अतिविरुद्ध विरोध वैतना व समकता है तब उसका विशेष कारण यह है कि वह दोनों सम्प्रदायों में निहित प्रवृत्तियों को नहीं समकता तथा दोनों के उस सामान्य लक्ष्य के प्रति अनभिन्न रहता है, जिस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनेक टेंढ़े से टेंढ़े तथा अत्यधिक सरल पथ छानिच है। अत्यधिक देश तथा भ्रान्ति के लिए संभव विकल्प एक ऐसी स्थिति हो सकती है, जिसमें ये दोनों दार्शनिक सम्प्रदाय एक दूसरे को खीटार करने के लिए तथा अपनी विभिन्नताओं को समाप्त करने के लिए सम्मत किये जा सकते हैं। दार्शनिक परम्पराओं में निहित असममिति अधिकांश रूप से लक्ष्यों के भेद में ही अधिष्ठित होती है। यदि लक्ष्य ही विभिन्न होंगे तो उनके बीच एक पूर्वस्थापित अंगति होगी और इस प्रकार उनकी एक दूसरे की गलतीबना में पारस्परिक भ्रान्ति के वितरित अन्य आशय नहीं होगा। यदि उनके विधित्त लक्ष्य या उद्देश्य समान हैं तब आन्वीक्षात्मक व्याख्या, उनके भेद व विरोधों को समाप्त करने में समर्थी सहायता कर सकती है।

### शंकर द्वारा प्राप्त एवं पारंपरिक ईश्वरवादी दर्शनों की जाँचबना

एक भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' ही है, जड़ के अतिरिक्त ~~किसी~~ सभी ने अपने इस लक्ष्य की विभिन्न दृष्टियों से ज्ञान-समकने का प्रयास किया है। अपने एक प्रवक्त में समस्त वर्तन आंशिक दृष्टिकोणों से युक्त होते हुए धुमिमात्र्यों से अंगति रहते हैं, इसी कारण-विशेष है शंकराचार्यों ने तर्काद में एव ही अपना जाँचोव्य विषय बनाया। यहाँ पुनः हम कहें कि शंकर ने इन दर्शनों के 'खण्डन' के उद्देश्य से इनकी जाँचबना नहीं की है, परन्तु वे अपने इस



जालीना द्वारा इन वर्षों में निमित्त भारतीय आध्यात्मिक व वार्षिक चेतना को प्रदर्शित एवं स्पष्ट करना चाहते हैं वे । शंकराचार्य की स्वयं अतीन्द्रिय स्तर पर एक ईश्वरवादी विचारक हैं, किन्तु वे ईश्वर-कारणवाद को अंगत एवं अनिश्चितपूर्ण सिद्ध करते हैं ।

ईश्वर कारणवाद की अंगतता को विस्तार देते हुए अतीन्द्रिय शंकर पाशुपत मत का विराकरण करते हैं —

ईश्वरकारणवाद के अनुसार ईश्वर ही ज्ञात का मूल कारण है अर्थात् यही ज्ञात का निमित्त कारण है । शंकराचार्य की ये स्वयं भी ईश्वर का ज्ञात के निमित्त एवं उपादान कारण के रूप में वर्णित किया है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ज्ञात का निमित्त कारण है । परन्तु अद्वैतवादी शंकर यहां पर विशेष रूप से उस मत को अतार्किकता को स्पष्ट कर रहे हैं जिसके अनुसार ईश्वर केवल ज्ञात का नियन्ता है, अधिष्ठाता है और इस प्रकार केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं है । यह मत वेद-विरोधी तथा वेद से स्वतंत्र है ।

वेदवाक्य सिद्धान्त के कई प्रकार सर्व प्राप्त होते हैं — सांख्य योग का ईश्वर-कारणवाद जिसके मतानुसार प्रधान, पुरुष तथा ईश्वर परस्पर भिन्न एवं विलक्षण है तथा ईश्वर प्रधान व पुरुष के नियन्ता एवं अधिष्ठाता के रूप में एक निमित्त व सक्रिय कारण है । वैशेषिक मतानुयायियों के अनुसार भी अवृष्ट के रूप में ईश्वर-ज्ञा ही ज्ञात का निमित्त कारण है तथा पाशुपत विचारक भी यह प्रतिपादित करते हैं कि शिव या पशुपति ही ज्ञात के निमित्त कारण है, यह विशुद्ध चैतन्य है, यह ज्ञात का उपादान कारण नहीं है तथा शिव की कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःखान्त आदि के उपदेष्टा द्वारा जीव की ज्ञात प्राप्त से मुक्त कराते हैं । शंकर का कथन है कि शिव या पशुपति प्रकृति व पुरुष

१. यतिवर श्री भांडेबाबा, ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद संहिता, अ० २, पृ० २, अधि० ७ सूत्र ३७, पृ० १३०२

२. एस०के० बेलवत्कार, पि ब्रह्मसूत्र बाफ़ा शब्दरायण, थिथ पि कमेंट बाफ़ा शंकराचार्य, चैप्टर २, क्वार्टर्स/वॉर २, पृ०-३७ सूत्र ३७, पृ० १३३

३. मही, नोट्स ऑन अधिष्ठाता ७, सूत्र ३७, पृ० १३५-३६ तथा एस० राधाकृष्णन्, पि ब्रह्मसूत्र, ११, २, ३७ पृ० ३६० "The Māheśvaras hold that Paśupati, *diva*, is the efficient cause."

के अधिष्ठान एवं नियन्त्रा के रूप में ज्ञात के कारण नहीं हो सकती है, क्योंकि इसे स्वीकार करने से हमें असंगतताएं दृष्टिगत होती हैं । ज्ञात में हमें जीवों की उत्पत्ति, मध्यम व निम्न विभिन्न श्रेणियों प्राप्त होती हैं । हमें का तात्पर्य है कि ईश्वर की रचना में दुःख, सुख आदि अनेक रूपों में भेदभाव दृष्टिगत होता है इसलिए वह भी राग, द्वेषादि से युक्त एक सांसारिक प्राणी की भांति होगा और ऐसा होने पर उसके ईश्वरत्व की हानि हो जावेगी । यदि पूर्व पक्षी पादुपत विचारक यह कहे कि मनुष्य अपने कर्म के अनुसार भिन्नताओं से युक्त होता है तब भी उनके मत की असंगतता का निवारण नहीं होता है । संकर कहते हैं कि ईश्वर निमित्त होने के कारण कर्म का प्रवर्तक ही जाता है तथा कर्म उसका प्रवर्त्य हो जाना है और परिणामरूप अन्योन्याश्रय दोष की धिद्धि ही जाती है क्योंकि ईश्वरेच्छा द्वारा ही प्राणि कर्म में प्रवृत्त होता है तथा कर्मानुसार ही ईश्वर उनके परिणाम को विधारित करता है । इस प्रकार यह प्रक्रिया परस्परश्रित होकर तथा अनादि एवं अनन्त होकर एक अन्य परम्परा को प्रसक्त करता है । हम जानते हैं कि कर्म की प्रवृत्ति किसी अपूर्णता से प्रेरित होती है अथवा दोष-निवृत्ति के लिए होती है, चाहे वह स्वार्थसुख ही अथवा परार्थ के लिए हो । अब इनका ईश्वर पुरुष-विशेष है, निष्कल, अविकारी, नित्य तथा उदासीन है, तब उसमें प्रवृत्ति मानना अनुचित ही है ।

शंकराचार्यजी का कथन है कि हमने उनके ईश्वर, पुरुष तथा प्रधान में सब नित्य, निरवयव एवं सर्वव्यापी हैं और भिन्न हैं इसलिए हममें किसी भी प्रकार का संयोग सम्भाव्य आदि कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है । संकर तबल तर्क व प्रत्यक्षानुभव पर ही आश्रित न होकर दृष्टि व जागम

१. एसोराधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, २, २, ३७ ५०३२०

~ If the Lord assigns to different people different positions according to his likings, he will be, <sup>like</sup> any one of us, subject to hatred, passion and soon. If we say that these positions high, intermediate and low, are determined by the merit and demerit of living beings, this leads to mutual dependence."

प्रमाण से तादात्म्य सम्बन्ध को मान्यता प्रदान करते हैं। अन्य वेद-विराची दर्शन अपने सर्वज्ञ प्रणेता के प्रति विश्वास बिना कर अपने आप को शारत्र-सम्मत कहते हैं, और इस प्रकार भुक्ति व आगम प्रमाण से सादृश्य दर्शाते हैं; किन्तु यह भी संभव नहीं हो सकता है, क्योंकि इनके सर्वज्ञ प्रणेता तथा उनके अनुयायियों की दृष्टा में अन्योन्याश्रय दोष निहित हो जाता है। ऐसा इसलिए कि आगम के प्रत्यक्ष से ही सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है और सर्वज्ञ के प्रति विश्वास ही इनके अनुयायियों का आगम स्वरूप है।

अदि पाशुपत अनुयायी ईश्वर कारणवाद का समर्थन करते हुए यह साध्यानुपाग प्रस्तुत करें कि जिस प्रकार एक कुम्भकार मृत्तिका आदि पदार्थों से प्रेरित होकर गदादि के कार्य में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी प्रधान से प्रेरित होकर ज्ञात का निमित्त कारण बन जाता है, तब भी उनके कारणवाद को युक्त्युक्त नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मिट्टी तत्त्वादि की भाँति इनका प्रधान व्यापि से युक्त न होकर निर्विकार तथा रूपादि से रहित है और अप्रत्यक्ष है। इन पूर्वपक्षियों के समर्थन में यह दृष्टान्त भी तर्कसंगत एवं समीचीन नहीं है कि जीवात्मा और ईश्वर दोनों ही अप्रत्यक्ष हैं, इसलिए जिस प्रकार जीवात्मा समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता एवं प्रेरक है, उसी प्रकार ईश्वर भी प्रधान का प्रेरक है क्योंकि जीवात्मा तो इन्द्रियों को प्रेरित करके सुख, दुःखादि भागों से युक्त हो जाता है किन्तु ईश्वर तो इनसे परे है, जीवात्मा की भाँति ईश्वर को प्रेरक मानने से उसे भी भागादि से युक्त स्वीकार करना होगा और फलस्वरूप ईश्वर में सांसारिक प्राणि के समान अनीश्वरत्व व की सिद्धि हो जायेगी।

१. यतिवर श्री मोठी बाबा, ब्रह्मसूत्रभाष्य, शंकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाष्याधुनावसहित,

अ०२ पा० २ श्रिच०७ सू० ३८ पृ० १३१०-११

२. वहाँ, पृ० १३१५-१६

पाशुपत सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर या शिव जात्या है तथा प्राकृतिक ज्ञात और जीव उसके शरीर है, परन्तु ये तीनों असमान हैं और अनन्त हैं तथा ईश्वर या शिव सर्वज्ञ तथा ज्ञान्त दोनों ही हैं<sup>१</sup>। इस सम्बन्ध में और यह प्रश्न उठाते हैं कि शिव इनकी तथा स्वयं अपनी संस्था व परिमाण के ज्ञाता है या नहीं, यदि ज्ञाता है तब वह प्रधान जाति सहित सीमित व सान्त तथा विनाशी हो जायेगी। इस प्रकार उनके अनन्तता की हानि होगी और यदि ईश्वर संपूर्ण का नियन्ता एवं ज्ञाता है, तब वह सब सान्त प्राणियों को बंधनमुक्त कर देगा, ऐसा करने से शून्य ही लेश रह जायेगा और फलस्वरूप उनके ज्ञातत्व विषय का अभाव हो जायेगा। यदि उन्हें सर्वज्ञ नहीं माना जाता तो उनके सर्वज्ञता की हानि हो जाती है<sup>२</sup>। इस प्रकार अवैतवादी संकराचार्य जी यह दिखाते हैं कि पाशुपत ईश्वरकारणवाद असंगत एवं अतार्किक है।

संकराचार्य जी ने पाशुपत सिद्धान्त की अतार्किकता एवं इसके आंशिक दुष्टिकरण को उपरोक्त तार्किक विवेचना द्वारा स्पष्ट किया तथा यह दिखाया कि इस प्रकार यह एक वैय-विरोधी दर्शन की संज्ञा ले लेता है।

जब संकर यह दिखाते हैं कि पारंपराग्र दर्शन एक वैय-सम्मत दर्शन है, किन्तु इसका ईश्वरकारणवाद भी वैयानुकूल नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह भी असंगतताओं से रिक्त नहीं है। वे पारंपराग्र सिद्धान्त में निहित तार्किक असंगतता को निम्नप्रकार से दर्शाते हैं—

पारंपराग्र ईश्वरकारणवादी वैष्णव विचारकों के अनुसार नारायण या वासुदेव मित्य, निरवयव, निराकार तथा निरंजन है, ये ही ज्ञानस्वरूप परमार्थ तत्त्व हैं तथा ज्ञात के निविध व उपादान कारण<sup>३</sup> हैं। संकराचार्य जी कहते हैं कि

१. एस० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसफी, वाल्थूम ॥, पृ० ७२५

२. जार्ज थीयू, वैदान्त सूत्र, पार्ट १, ७०२ पा० २, ४१ पृ० ४२६।

३. एस० राधाकृष्णन्, वि ब्रह्मसूत्र, ७०२ पा० २ अधि० ८, सूत्र ४२ पृ० ३६३

किं यह तां ह्युति-सम्पत् सिद्धान्त है वासुदेव की ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व है अतः यह गुण करने योग्य है । किन्तु ये वैष्णव तत्त्वप्राप्तिक वासुदेव को बार विभागों में वर्णित करते हैं तथा इनके मतानुसार वासुदेव परमात्मा से संकर्षण-रूप जीव, जीव से प्रबुद्धरूप मन तथा इस मन से अनिरुद्धरूप वर्तकार की उत्पत्ति होती है । शंकर इसे स्वीकार नहीं करते, उनका कहना है कि जीव की उत्पत्ति होने से जीव अनित्य हो जायेगा और इस प्रकार जीव के विनष्ट होने से उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती । अतः वासुदेवस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए जीव की उपासना आदि निरर्थक हो जाती है तथा परिणामस्वरूप भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष होगा ही नहीं । इतना ही नहीं शंकराचार्य जी का कहना है कि यदि परम ब्रह्म नारायण या वासुदेव से जीव की उत्पत्ति संभव नहीं है तब संकर्षणरूप चेतन जीवात्मा से प्रबुद्धरूपी मन तथा मन से अनिरुद्धरूपी वर्तकार तत्त्व की उत्पत्ति भी असंभव है, क्योंकि जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टीरूपी साधन को उत्पन्न नहीं कर सकता उसी प्रकार जीवात्मा कर्षा चेतन है, वह मन तथा वर्तकार आदि कारणा की उत्पत्ति नहीं कर सकता है ।

पाँचरात्र विचारकों के अनुसार संकर्षण, प्रबुद्ध आदि जीवों के समान नहीं हैं बल्कि ये हृदयरीय गुण ज्ञान, ऐश्वर्य, तेज, बल, सौम्य तथा शक्ति आदि गुणों से युक्त हैं और ये क्रमशः जीव, मन तथा वर्तकार के अधिष्ठाता हैं तथा ये निर्वर्ण एवं पूर्ण हैं । इसलिए इनसे उत्पत्ति संभव हो सकती है । किन्तु इसके विरुद्ध

१. यतिवर श्री भालैबाबा, ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाष्यानुवादसहित,  
व० २ पा० २ अधि० सू० ४२ पृ० १३२१

२. वही, पृ० १३२२

३. वही, पृ० १३२२-२३

४. जार्ज वी. वैंडान्त सूत्र पार्ट-१, व० २ पा० २, सू० ४३ पृ० ४४१

५. वही, पृ० ४४१-४२

संकर कहते हैं कि यदि ये परस्पर भिन्न वासुदेव इत्यादि चारों ईश्वर समान यहाँ एवं गुणों से युक्त हैं, तब यहाँ कौन ईश्वर की कल्पना प्रस्तुत हो जाती है। ऐसा होने से स्वयं पांचरात्र वाचनिकों के इस सिद्धान्त का बोध हो जाता है कि एकमात्र वासुदेव ही परमार्थ तत्त्व है। पुनः संकर कहते हैं कि यदि यह कहा जाये कि ये वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध आदि चारों भगवान् वासुदेव के ही अंगभूत हैं अर्थात् ये एक ही भगवान् या ईश्वर के चार स्वरूप तथा समानधर्म हैं तब भी इनसे मन आदि की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती है, क्योंकि इनमें अतिशय या समीपता का सर्वथा अभाव है, कारण और कार्य को समान रूप का नहीं होना चाहिए, उनमें भेद अवश्य होना चाहिए जैसे मुद्रिका व घट आदि में भेद है। पांचरात्र मतवलम्बियों ने अनुसार तो वासुदेव संकर्षण इत्यादि में ज्ञान, ऐश्वर्य, तेज इत्यादि समान हैं, इनमें म्यूनाधिक्य का भेद नहीं है तथा वासुदेव ही व्यूह निर्मिशेष हैं। इनके विरुद्ध संकर एक यह आक्षेप भी लाते हैं कि चार स्वरूपों में सीमित करके परमार्थ तत्त्व वासुदेव का निरूपण नहीं किया जा सकता है अथवा ब्रह्मा से ले कर तुल्य इत्यादि समस्त जगत के रूप में भगवान् या ईश्वर को स्वीकार किया जाता है।

संकराचार्य जी का ~~कहना~~ कहना है कि महर्षि शंखिल्य चारों वेदों के अध्ययन से आत्म-संयुष्टि न प्राप्त कर सकने के कारण हो पांचरात्र ईश्वरवादी विचारधारा का अध्ययन करते हैं। अतः इस मत को पूर्णतया वैधानुक्त नहीं कहा जा सकता है। इसमें कई विरोध सम्मिलित हैं—कभी ये विचारक ज्ञान, तेज, बल तथा शक्ति इत्यादि को ईश्वर के गुण रूप में स्वीकार करते हैं, कहीं-कहीं पर ये इन गुणों को ही वासुदेव स्वरूप या आत्म स्वरूप स्वीकार करते हैं। ये

१. आर्य धीनू, वैदिकान्त सूत्र पाटी-१, व० २ पा० २, सूत्र ४३ पृ० ४४२

२. वही, पृ० ४४२

३. स० ०६० वैत्सल्कर, दि ब्रह्मसूत्र बाफू वादरायण, विद दि कर्मट बाफू  
संकराचार्य, वैदिक ११, क्वार्टर ११, वी० ११, १९२१-४५, पृ० १४२।

ईश्वरवादी विचारक तो माया का उल्लेख नहीं करते हैं, किन्तु जड़त वेदान्त में तो माया शक्ति के कारण सही ब्रह्म व्यावहारिक जगत्वा व्यापक रूप से अनेक विभिन्नताओं में परिलक्षित होता है और तात्त्विक एवं पारमार्थिक रूप से सही ब्रह्म निर्विकार व निर्गुण स्वीकृत किया गया है ।

## (२)

अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में संकराचार्यजी द्वारा प्रस्तुत ईश्वरवाद की आन्वीक्ष्यात्मक समीक्षा को पर्याप्त रूप से एक युक्ति-युक्त रूप में वर्णित किया गया है । इस विषय के सम्बन्ध में अब हमें यहाँ अपने इस प्रमुख दावे को प्रमाणित करने की आवश्यकता है कि संकर का दर्शन एक बार पुनः भारतीय वास्तविक विचार की उस संरचनात्मक विशेषता को स्पष्ट करता है, जिसका बीचमन्त्र संकर का जड़त-वेदान्त ही है । ईश्वरवादी दर्शनों की जालीबना के लिए प्रयुक्त सम्पूर्ण तर्कों को इन दो प्रकारों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है— प्रथम बल प्रकार है जो ईश्वर को ज्ञात का निमित्त कारण ही स्वीकार करता है । द्वितीय बल प्रकार है जो ईश्वर को ज्ञात का निमित्त व उपादान दोनों ही कारण मानता है । यहाँ संकर का उद्देश्य इन दर्शनों की निरर्थकता को इतना अधिक सिद्ध नहीं करता जितना यह विन्दवशित करता है कि किस प्रकार ये ईश्वरवादी दर्शन उस सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति से सम्बन्धित अपने केन्द्रीभूत पक्ष को प्रमाणित करने में अभावग्रस्त एवं छुट्टिपूर्ण हैं, जो परम लक्ष्य मुक्ति के एकत्व-पूर्वक अनुपति में निहित है, तथा जो आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य के रूप में सर्वव्यापी रूप से घोषित एवं अनुमोदित है । संकर ने अपनी युक्ति एवं तर्कों के प्रयोग में उपरोक्त कथितलक्ष्योपार्जन के अन्तर्गत ईश्वरवाद के विपक्ष में जो कुछ भी विचार विमर्शित किया है, वह ईश्वरवाद के उतना विरुद्ध नहीं है, जितना ईश्वरवाद के भ्रान्त प्रकारों के विरुद्ध है । इस सम्बन्ध में हमें केवल यह ध्यान देना आवश्यक है कि स्वयं संकर का जड़त दर्शन भी अनिश्चरवादी दर्शन नहीं है । एक अत्यन्त उच्च स्तर पर यह एक ईश्वरवादी दर्शन है, उस स्तर को एक 'अतीन्द्रिय स्तर' कहा जा सकता है, जिसका संकेत संकर द्वारा गृहीत कारणता के विशेष दृष्टिकोण में प्राप्त होता है ।

शैव, सांख्य-योग तथा वैशेषिक आदि दर्शन इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वर ज्ञात का निमित्त कारण<sup>१</sup> है । इन दर्शनों के विरुद्ध शंकर अपने इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं कि ईश्वर ज्ञात का निमित्त तथा उपादान दोनों ही कारण<sup>२</sup> हैं । किन्तु यहाँ इतना ही कथना पर्याप्त नहीं है क्योंकि यदि शैव, वैशेषिक आदि का उपरोक्त कथित ईश्वर कारण-वाद पक्ष के रूप में है तो विपक्ष के रूप में पांचरात्र मत भी है, परन्तु हम देखते हैं कि ये पक्ष तथा विपक्ष दोनों ही यथेष्ट एवं व्यापातरहित नहीं हैं । पांचरात्र दर्शन इस दृष्टिकोण को स्थापित करता है कि ईश्वर का ज्ञात के निमित्त तथा उपादान दोनों कारणों<sup>३</sup> के साथ तादात्म्य है । इस सिद्धान्त के विरुद्ध अद्वैत वेदान्त के भिमाता शंकर यह प्रतिपादित करते हैं कि कारण और कार्य का तादात्म्य है, ब्रह्म एक आधार अथवा सम्पूर्ण तार्किक अस्तित्व के अधिष्ठान के रूप में है, और इस प्रकार ही तादात्म्य कारण और कार्य को समस्तरीय नहीं कहा जा सकता । कारण और कार्य का तादात्म्य अन्ततः केवल कारण को सत्ता ही स्थापित करता है, और यदि ऐसा ही है, तब तो शैव और पांचरात्र दर्शनों में स्वीकृत कार्य को सत् सत्ता को मुमात्सक स्वीकार करना चाहिए । माया की धारणा के माध्यम से ही जो कि अद्वैत वार्शनिक-सिद्धान्त का एक तार्किक सूत्र है, हम इस तक पहुँचते हैं और यह सम्झते हैं कि सम्पूर्ण ज्ञात उस ब्रह्म का ही प्रसार है, तथा ब्रह्म ही इस प्रकार की पृच्छमूमि है एवं जीव ब्रह्म के परिणाम नहीं है बल्कि जीव स्वयं ही ब्रह्म<sup>४</sup> है ।

१. एस० राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, ७०२ पा० २-२-३७ पृ० ३६०

२. एस० राधाकृष्णन्, इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, वायूम-११, पृ० ५४७

३. यतिवर श्री मोलै बाबा, ब्रह्मसूत्र, तार्करभाष्य-रत्नप्रसा-भाषानुवाकसहि, ७० २ पा० २ अधि० ८ सूत्र ४२, पृ० १३२०

भागवत सम्प्रदायी पांचरात्र मानते हैं कि—मगवान वासुदेव एक है, और ज्ञात का उपादान एवं निमित्त कारण है ।\*

४. एस० राधाकृष्णन्, इण्डियन फ़िलॉसफ़ी वायूम-११, पृ० ५३०

५. वही, पृ० ५२५ ।



केवल माया के अवगुंठन से ही निवृत्त होना है, अर्थात् उसे ही उठा देना है, इस अवगुंठन से ही जीव तथा जल के जीव एक आवरण की प्रतीति होती है तथा माया का यह अवगुंठन ही समस्त लौकिक वस्तित्व व व्यावहारिक प्रपंच को निर्मित करता है तथा जल से इसे विलग रूप में वसता है । इस प्रकार ईश्वर को निमित्त कारण स्वीकार करने वाले ईश्वरवादी दार्शनिक सिद्धान्त में निहित विरोधा का संकराचार्यजी उचित रूप से संकेत करते हैं और उन्हें स्पष्ट करते हैं । ये उस ईश्वरवादी सिद्धान्त को भी दोषयुक्त सिद्ध करते हैं जो उसी स्थान पर ईश्वर के निमित्त एवं उपादान कारणता की स्थापना करता है तथा जिसके अनुसार ईश्वर कारण व कार्य के बीच एक विच्छेद उत्पन्न करते हैं और जो कुमलः विष्णु या वासुदेव को संकर्षणरूपी जीव तथा संकर्षण रूपी जीव से प्रद्युम्नरूपी मन एवं प्रद्युम्नरूपी मन से अनिरुद्ध रूपी अहंकार के स्वरूपों में एक व्यूतों के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं । एक अन्तिम एवं वास्तविक ईश्वरवाद के प्रतिपादन में संकराचार्यजी की महत्वपूर्ण बात यह है कि वह एक ऐसी अन्तिम सत्ता की स्थापना करते हैं जो सत् चित् एवं आनन्द की पूर्णता है । यह सच्चिदानन्द जल ही जीवों के बन्धन के रूप में भी ज्ञात प्रपंच का अधिष्ठान है । परन्तु न तो ज्ञात प्रपंच की, और न ही जीवों के बन्धन की कोई ऐतिहासिक व्याख्या की जा सकती है । इतिहास की विकल्प कोटि, जो कि काल-सत्ता के पूर्वानान्यता में अधिष्ठित है, बुद्धि के लिए एक प्रमात्सक कोटि है ।

१, एस० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसॉफी वाइल्यूम-११, पृ० ६०६

“ This Māya, or the force of self-expression, in *Iśvara*, resulting in the multiplicity of the world, deludes the individual soul into the false belief of the independence of the world and the souls in it.”

अद्वैत वैश्वान्ती शंकर के दर्शन की वाध्यात्मिक विचार-दृष्टि एक लौकिक प्रकार का ईश्वरवाद नहीं है, बरन् उनका ईश्वरवाद एक अतीन्द्रियात्मक या अलौकिक ईश्वरवाद है, जिसमें सम्पूर्ण प्रपंचात्मक अस्तित्व की विभिन्नता और जीवों के बन्धन की व्याख्या होती है, वह ईश्वर की उत्पत्ति नहीं है बरन् उस अधिष्ठाता का प्राबल्य है जिसका आश्रय जीव है। यहाँ हम अधिष्ठाता के आश्रय-सम्बन्धी समस्या के विवाद पर प्रकाश नहीं डालेंगे, जिस विवाद को शंकराचार्य जी के अनुयायियों अर्थात् विवरण और मानसी सम्प्रदाय अपने प्रबल तर्कों द्वारा विस्तृत करते हैं। यहाँ हम केवल यह कहेंगे कि बुद्धि अधिष्ठाता वस्तुतः अनादि है, इसलिए ज्ञात प्रपंच तथा बन्धन का क्रम भी अनादि है। परन्तु अधिः जनन्त नहीं है। इसके अनादि प्रकृति पर आगृह करना एक ऐसा व्यावहारिक उपाय या साधन नहीं है, जो कारणता के अवरोधों को दूर से आवृत्ति तर्कों के रूप में प्राप्त है। इस पर आगृह केवल इसलिए किया गया है कि वस्तुतः किसी भी वाध्यात्मिक दर्शन की समस्या एक पुष्ट-वार्थ की समस्या है, यह समस्या एक साथी हुए लुप्त आश्रय की पुनः स्थापना की समस्या है तथा यह आश्रय ऐसे आनन्द का आवास है जिस आनन्द का केन्द्र जीवों की भेदना है। भेदना में निहित एक अन्तर विषयी और विषय में विभेदित है। केवल इस आत्म तथा अनात्म तत्त्व के भेद के कारण ही जीव अपने मौलिक आनन्दस्वरूप अस्तित्व से अपने को पृथक् समझते हैं, तथा अपने उस वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रहते हैं। इस भेद को मिटाने की आवश्यकता के लिए ही मानवीय बुद्धि ने प्रत्येक नवीन उपाय को उनके ईश्वरवादी तर्कों के रूप में निर्मित किया, किन्तु इस विभेद को वास्तविक स्वं सत् रूप में स्वीकार न करना ही वास्तविक प्राप्ति या सत्य है सम्पूर्ण बन्धन तथा सम्पूर्ण भेद रण्डु में सर्प के मृग की भांति ही आभासित होने वाले सत्य हैं और जो केवल एक विश्वास का ही विषय है तथा जो अप्रतिष्ठित व निर्विवाद होते हुए नानात्व के एक अन्तः दृश्य को तथा आनन्द प्राप्ति की एक न भुगने वाली अक्षमणीय दृष्टि की उत्पन्न करने में पर्याप्त रूप से सफल है। इसलिए अद्वैत विचार-दर्शन ईश्वर के एक ऐसे परिमार्जित दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति का प्रसारता है जिसके अनुसार ईश्वर सम्पूर्ण प्रपंच

का न तो निमाता है, न तो नियन्ता है, यद्यपि यह ज्ञात-प्रपंच का तथा दुःखपीडित आत्माओं का मुक्ति से पुनरुज्जीवित होने के लिए अन्तिम लक्ष्य है । इसी मुक्ति के साथ ही वास्तव में वे आत्माएं या जीव स्वैव तोषात्म्य रखते हैं । केवल अधिष्ठा में वे पृथक् हैं तथा अपने स्वरूप से विमुक्त रहते हैं । ज्ञात-सृष्टि की समस्या जल्दा कोई भी सृष्टि-सम्बन्धी समस्या, समस्या ही रह जाती है क्योंकि इसका समाधान करने वाले ने ईश्वर को अपने से अधिक कर दिया है और जीव-बन्धन की समस्या केवल इसलिए है कि जीव ने अपने सृजन मुक्त स्वरूप को अपनी दृष्टि से अधिक कर दिया है । इस प्रकार का मुक्त स्वरूप ईश्वर तथा जीव के अपेक्ष में निश्चित है, यही पारमार्थिक तथा वास्तविक तात्पर्य है । ईश्वर के संगोपन से आविर्भूत समस्याएं वास्तविक समस्याएं नहीं हैं और उनका समाधान भी उपरोक्त वर्णित नौ विभिन्न ईश्वरवादी दर्शन 'अपवर्था' में नहीं है बल्कि उनके विघटन में निहित है । परन्तु विघटन भी उस क्षण से अन्त होकर करना चाहिए कि किस प्रकार केवल ईश्वर ही है और वह ईश्वर भी ज्ञात की दृष्टि के आविर्भूत तथा अन्त के रूप में उसके रचयिता व विनाशक नहीं है बल्कि केवल ऐसी सत्ता के रूप में है जिसके कारण और भौतिक या व्यावहारिक सत्ता का गत्य अधिष्ठा के द्वारा ही निर्मित किया गया है, तथा जिसमें छल, दुःख एवं मानात्म्य के बीज निहित हैं और जिसके कारण जीव बन्धनग्रस्त हो जाता है ।

---

१. श्री हरिकृष्ण गौडम्बका ( अनुवाक ), शांकरभाष्य, हिन्दी अनुवाद सहित, श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ५, १४-१५ ।

अध्याय-- ६

\*\*\*\*\*

## शास्त्र-विरोधी दार्शनिक सम्प्रदायों की संकर द्वारा जालौचना

श्रुति अनुगामी सिद्धान्तों की यथार्थ व्याख्या करते हुए संकर ने समस्त आस्तिक एवं नास्तिक भारतीय दर्शनों की जालौचना की है; क्योंकि वे वेद-उपनिषद्वादि के वास्तविक गूढ़ रहस्य को प्रकाश में लाना चाहते थे। पूर्ववर्ती अध्याय में यथाशक्ति हमने यह निरूपित करने का प्रयास किया है कि सांख्य, वैशेषिक आदि वेद-सम्मत वास्तिक दर्शन किस प्रकार अपनी आंशिक दृष्टियाँ द्वारा श्रुति-विरुद्ध तथा वेद-वाक्य ही जाते हैं और उन्हें किस प्रकार पूर्ण श्रुति-सम्मत अद्वैत दर्शन के समीप सड़ा लिया जा सकता है। अब प्रस्तुत विवेचन में हम इस बात का निरूपण करने का प्रयास करेंगे कि शास्त्र-विरोधी नास्तिक दर्शनों की अद्वैतवादी संकर ने किस प्रकार जालौचना की है तथा हम उन्हें किन सुभाषणों के प्रकाश में अद्वैत दर्शन के समीप ला सकते हैं।

बौद्ध तथा जैन दर्शनों ही श्रुति-विरुद्ध नास्तिक दर्शन हैं, यद्यपि इनका भी लक्ष्य 'निर्वाण' तथा कैवल्य ही है, जो समस्त भारतीय दर्शनों का अभीष्ट है। वाचार्थ संकर के अनुसार बौद्ध तथा जैन दर्शन परम्पराओं में अनेक अंगत एवं अतार्किक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। बौद्ध दर्शन परम्परा में नैरात्म्यवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद व क्षणिकवाद जैसे अनेक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं, जो व्यर्थकार से प्रकाश में लै जाने वाली एकमात्र कल्याणकारी श्रुति के विरोधी हैं तथा जीव, ज्ञात, ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा एवं कारणवाद सम्बन्धी अद्वैतवादी धारणा के प्रतिकूल हैं। इसलिए संकराचार्य ने अपने तर्कवाद में बौद्ध-दर्शन की जालौचना करके उन्हें असंगत एवं अनाधिक्यपूर्ण दर्शाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाचार्थ ने बौद्ध-विचार दर्शों की संवीक्षा उनकी अपेक्ष दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए ही की थी, न कि लण्डन के उद्देश्य से, क्योंकि इनका भी अभीष्ट समस्त भारतीय दर्शनों की भांति निर्वाण ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि इनका भी विवक्षित दर्शन-चिन्तु अद्वैत के मोक्ष के समान ही है।

## शंकर द्वारा बौद्ध-दर्शन की आलोचना

शंकराचार्य जी ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में 'समुदायाधिकरण' तथा 'अभावाधिकरण' सूत्रों के बन्धनतः बौद्ध दार्शनिक मतों का प्रत्याख्यान किया है। उन्होंने बौद्ध दर्शन के सर्वास्तित्ववाद, विज्ञानमात्रवाद तथा शून्यवाद आदि सिद्धान्तों को सर्ववैनाशिकवाद का नाम दिया है। बौद्ध मत के उपरोक्त तथाकथित सिद्धान्तों का वे निम्न प्रकार से खण्डन करते हैं :--

सर्वप्रथम वे सर्वास्तित्ववाद की सहस्रविध समुचित आलोचना का विवेचन करते हैं। इनके अनुसार बौद्ध दर्शन की जो विधारधारा आन्तरिक एवं बाह्य वस्तुओं अर्थात् जो चित्त यानी बुद्धि और चैतयानी बौद्धिक पदार्थों तथा भूत और भौतिक पदार्थों को स्वीकार करती है वह सर्वास्तित्ववाद के नाम से जानी जाती है। इसमें सांत्रान्तिक तथा वैभाषिक दोनों ही वस्तुवादी मत सम्मिश्रित हैं जिनके अनुसार आन्तरिक ज्ञात सांघिक विज्ञानों का सन्तान या समुदायमात्र है तथा बाह्य ज्ञात सांघिक परमाणुओं का संघात मात्र है।

सर्वास्तित्ववादी बौद्धों के दृष्टिकोणानुसार पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि ये चार धातुएं मूल तत्त्व हैं तथा उनके सांघिक परमाणु क्रमशः कठोर, सौम्य या स्निग्ध, गतिशील तथा उष्ण आदि हैं, और रसादि विषय तथा मैत्रादि हान्दियाँ भौतिक तत्त्व हैं। परमाणुओं का एकत्रीकरण ही मात्र आणविक हकार है जो पृथ्वी आदि संघातों में प्रत्यक्ष होता है और इसी प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आदि पंच स्कन्ध हैं जो आध्यात्मिक हैं तथा इनसे मानसिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये ही सम्पूर्ण व्यवहारों के विषयरूप से संघीभूत होते हैं।

१. भरत सिंह उपाध्याय, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० २६२

२. डा० चन्द्रधर सार्व, बौद्ध दर्शन और वैमान्त, पृ० १८२

३. यतिवर श्री भाई बाबा, ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित, अ०२ पा०२ अधि० ४ सूत्र १८, पृ० १२१२-१३।

शंकराचार्य जी का कथन है कि बौद्धों द्वारा स्वीकृत एवं प्रतिपादित उपरीक्षणीयों प्रकार के आन्तरिक एवं बाह्य समुदाय धर्मों 'सन्तान' एवं 'संघात' का नाम दिया गया है, सम्भव हो नहीं जा सकता है। इसकी वसति के लिए शंकर कई तर्क देते हैं। प्रथम तो वे यह तर्क देते हैं कि इन समुदायों अर्थात् संघातों के उत्पादक समुदायी स्वयं ही जनेन हैं अतः ये भूत, भौतिक तथा चित्त व चैतन्य की कौनसी उत्पन्न कर सकते हैं। इसका तर्क देते हुए शंकर कहते हैं कि बौद्धों के अनुसार परमाणुओं से चित्त धारा का अभिज्वलन या स्फुरण समुदाय द्वारा ही सम्भव है परन्तु जब समुदाय ही अस्तित्व है तब चित्त-चैतन्य का स्फुरण संभव नहीं हो सकता है। इसके पश्चात् यह भी प्रश्न उठता है कि जब बौद्ध वर्तन किंहीं भी जनेन भौत या नियन्त्रा की सहा स्वीकार नहीं करता तो संघात या समुदाय की प्रतिष्ठापना कौन करता है ? तब शंकर कहते हैं कि भौत या शास्त्र के अभाव में भी समुदायों की सिद्धि नहीं होती है। यदि उपेक्षारहित प्रवृत्ति को स्वीकार करके स्वास्तित्ववादी बौद्ध यह कहते हैं कि बिना किसी प्रवर्तक कारण के ही परमाणु संघात के प्रति प्रवृत्त होते हैं तब तो प्रवृत्ति का कदापि अन्त नहीं होगा और परिणामस्वरूप निर्वाण को भी कोई सिद्धि नहीं मिलेगी। शंकर के अनुसार बौद्धों का विज्ञानों के प्रवाह या बाल्य-विज्ञान सन्तान द्वारा समुदाय को सम्भव बनाया अतार्किक है, क्योंकि ये यह निश्चय नहीं करते कि 'बाल्य-विज्ञान प्रवाह संघात या समुदाय से भिन्न है या अभिन्न। इसे कान्ठिक मानने पर कोई भी व्यापार संभव नहीं हो सकेगा, कोई भी प्रवृत्ति नहीं मिलेगी, और परिणामस्वरूप समुदाय की वसिद्धि ही जाती है। इनके मतानुसार जब परमाणु कान्ठिक हैं तब

१. यतिवर जो मोठे बाबा, कुसुब, शक्तिरामाय-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित,  
अ०२ पा०२ अधि०४ सूत्र १८ पृ० १२१४

२. वही, पृ० १२१४।

वायुविश्वसी परमाणु पृथ्वी आदि संघातों के रूप में तैरी परिणत हो सकते हैं । संकर के विचारानुसार सर्वास्तित्ववादी बौद्धों द्वारा संघातपूर्वक ज्ञात की कल्पना युक्ति-विरुद्ध हो जाती है ।

बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक वस्तु में एक अन्य वस्तु को उत्पन्न करने की क्षमता होती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है । इस प्रकारमेधावश-निदान में अविद्यादि के पारस्परिक कारण-कार्य सम्बन्ध द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद की सिद्ध करते हैं । संकर कहते हैं कि यदि बौद्ध विन्तक 'प्रतीत्यसमुत्पाद' की ही समुदायों का कारण बताते हैं, अर्थात् इनके अनुसार अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, रसज्ञ, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरामरण आदि का पारस्परिक ऋण ही संघात का उत्पत्ति का कारण है तो यह भी संकराचार्य जी के अनुसार युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि संकर कहते हैं कि संघात का हम तब स्वीकार कर सकते हैं, जबकि हमका कोई निमित्त या प्रवर्क कारण स्वीकार किया जाय । परन्तु बौद्ध दार्शनिक व्यवस्था में इसका सर्वथा अभाव है । यदि हम यह मान लें कि अविद्यादि निदान एक दूसरे से कारण-कार्य भाव से सम्बद्ध रहते हैं तब भी हम वेतते हैं कि ये उत्तरावर की उत्पत्ति मात्र में ही निमित्त माने गये हैं, समुदाय या संघात में नहीं । अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि पूर्वनिदान उत्तरावर निदान की उत्पत्ति का ही तो कारण हो सकता है, संघात की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता है । पुनः संकर यद्यत् प्रस्तुत करते हैं कि यदि सर्वास्तित्ववादी बौद्ध यह कहें कि अविद्यादि निदान अपने अस्तित्व के लिए संघात की ही अपेक्षा रहते हैं तब भी इसके विरुद्ध यह आपत्ति है कि

१. डा० एस० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, पृ० ३४१, भाग-१.

२. एस०के० बैल्वत्कर, दि ब्रह्मसूत्र बाफ़ बाधरायण विव दि कर्मद्री बाफ़  
संकराचार्य, चैप्टर ११, पृष्ठाटी १ और २, व०२ पा०२ सूत्र-१६, पृ० १०५



उसके लिए निमित्त की उपेक्षा होती है, जबकि यहाँ निमित्त का अभाव है और इनके दार्शनिक अन्तिम परमाणुवाद है निमित्त की उपपत्ति भी नहीं हो सकती । शंकर कहते हैं कि जब न्याय-वैशेषिकों के परमाणुवाद में नित्य तथा आश्वासयि स्वरूप ब्रह्मों के उपस्थित होने पर भी निमित्त की सिद्धि नहीं होती तब बौद्धों के भोक्तुरहित तथा आश्रय एवं आश्रयि से विहीन दार्शनिक परमाणुवाद है तो निमित्त की उपलब्धि असंभव ही है<sup>१</sup> । यदि ये बौद्ध दार्शनिक स्वयं अविधादि को ही संघात का कारण मानें तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि जब ये स्वयं ही संघात की उपेक्षा करते हैं तब उन पर संघात निर्भर नहीं हो सकता है ।

इसने से ही शंकर मानने वाले नहीं हैं, वे पुनरुत्पत्ति बौद्ध परमाणुवाद का निराकरण करते हैं । यदि पूर्वपक्षी बौद्ध इस तत्वादि ज्ञात में संघात को प्रकाशित रूप से पूर्वस्थित मानते हैं, और अविधा संस्कार आदि को उसी पर आश्रित मानते हैं, तब भी वे अपनी मत की पुष्टि नहीं कर पाते, क्योंकि यहाँ यदि हम नवीन उत्पन्न संघात को अपने कारण पूर्वस्थित संघात के ससृज नियम-पूर्वक उत्पन्न मानते हैं, तब हम मानव के कर्मानुसार उसके विभिन्न योनियों को प्राप्ति को स्वीकार नहीं कर सकते, और यदि हम अनियमपूर्वक एक संघात के समान तथा असमान संघात की उत्पत्ति मानते हैं तो हम मानव-शरीर को एक ही ज्ञान में मनुष्य, देव तथा पशु रूप में परिवर्तित होता हुआ मानना पड़ेगा । अतः शंकर के अनुसार प्रतिपक्षियों का पूर्वस्थित संघात तथा इस पर आश्रित अविधादि भी उपपन्न नहीं सिद्ध होते हैं । शंकर तर्क को आगे बढ़ाते हुए यह कहते हैं कि यदि ये पूर्वपक्षी बौद्ध किसी भोक्ता को स्वीकार नहीं करते तो भोग भोग के लिए तथा मोक्ष मोक्ष के लिए होगा, भोग व मोक्ष के लिए कोई भी ऐसी अव्यवस्था नहीं होगी, जिसे उनकी आवश्यकता हो । कहने का अर्थ यह

१. स्वस्व के केवलत्व, वि कृणुत्र आफ वादरायण विद वि कर्मदी वाफ

शंकराचार्य, वैष्टर ११, क्वार्टर १ वॉर २ ज० २ प० २ सूत्र-१६ पृ० १०५-६

है कि वस्तु और निर्वाण किसका होगा, यह स्पष्ट नहीं होता तथा यदि किसी मुमुक्षु व मौजूदा को स्वीकार करते हैं तो उस सत्ता को स्थायी मानना पड़ेगा । ऐसा मानने से इनके ताणिकत्वाद की छानि होती है । उस प्रकार दादश निदान में प्रत्येक निदान मले ही एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं, परन्तु इससे संघात की सिद्धि नहीं हो पाती है ।

बाईद बार्सनिक ताणभंगवाद का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व केवल एक ही ताण<sup>२</sup> रहता है । अतः संकराचार्य जी कहते हैं कि अविद्यादि दादश निदानों द्वारा संघात की सिद्धि तो असंभव है ही, इनके द्वारा इनकी पारस्परिक उत्पत्ति भी असंभव है, क्योंकि अविद्यादि कारण संकरादि भावों की उत्पत्ति में भी निमित्त नहीं हो सकते । इसी संकर इस प्रकार से अपनी युक्तियाँ द्वारा प्रस्तुत करते हैं कि बाईदों के प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा दादश-निदान के बहु में प्रत्येक पूर्ववर्ती निदान उत्तरवर्ती का कारण होता है, किन्तु यह भी असंभव है क्योंकि इनके ताणिकत्वाद के अनुसार तो उत्तरताण में प्रसूत वस्तु के समय पूर्वताण में प्रसूत वस्तु विनष्ट हो जाती है, अतः पूर्व और उत्तर ताणों में कारण-कार्य सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती है । यदि पूर्वताणों यह कहे कि पूर्व ताण परिपूर्ण रूप से विकसित अवस्था को प्राप्त करके ही उत्तर ताण का कारण बनने का सामर्थ्य रहता है तब भी प्रथम ताण को दूसरे ताण से सम्बन्धित होना पड़ेगा और इस प्रकार ताणिकत्वाद की सिद्धि नहीं हो सकती । अतः संकर के अनुसार इस प्रकार बाईदों के निदानों की निमित्तता सिद्ध नहीं होती है । बाईदों के पक्ष में स्वीकृत यह तर्क भी युक्तिरहित नहीं है कि पूर्व ताण या पूर्ववर्ती कारण की सत्ता को ही उत्पन्न कार्यशक्ति के रूप में मान लिया जाय, क्योंकि संकर के अनुसार कार्य को अपने

१. एस०के० वेत्सलकर, दि ब्रह्मसूत्र बाफ बाधरायण विव व कमेंट्री बाफ संकराचार्य, वेष्टर ११, अपार्टमेंट १-२ पॉ० २ सूत्र-१६ पृ० १०६-७
२. सतीशचन्द्र बट्टापाक्ष्याय एवं श्री श्रीरामप्रसाद दत्त, भारतीय दर्शन पृ० ८८
३. एस० राधाकृष्णन्, दि ब्रह्मसूत्र, रीक्शन ३ (१८-२७) २, २, २० पृ० ३७६

"Between two momentary things there can not be any relation for the first has ceased to be, when the second comes to exist."

कारण के रचनाय से ही उत्पन्न होना चाहिए । ऐसी वशा में कारण के रचनाय का रथायित्व कार्य की उत्पत्ति के क्षण में भी रबीकार करना पड़ेगा । परन्तु क्षणिक अस्तित्व के कारण अधिशाधि विधान पूर्वोक्त रूप में निमित्त नहीं हो सकते । यदि कारण के अभाव में ही कार्यात्पत्ति मानते हैं तब कहीं भी किसी भी कार्य के उत्पन्न होने से अतिप्रसंग का दोष आ जाता है ।

शंकराचार्य जी कहते हैं कि यहाँ पुनः यह प्रश्न उठता है कि वस्तु की उत्पत्ति व विनाश क्या उसके स्वरूप है अथवा एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाएं हैं या उससे अन्य भी कुछ वस्तु हैं । यदि दोनों ही वस्तु के स्वरूप हैं तब वे दोनों पर्यायवाची हो जावेंगे और इस प्रकार किसी भी वस्तु के बाध, मध्य व अन्त होने के कारण, उसे तीन क्षणों तक रथायी रहना होगा, और यदि वे उत्पत्ति व विनाश घट, पट की भांति एक वस्तु की विभिन्न अवस्थाएं हैं, तब दोनों में बाध व अन्त का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा । इस प्रकार साश्वतवाद को रबीकार करना पड़ेगा । यदि वस्तु को इनसे भिन्न माना जाता है तब उसे निश्च मानना मानना पड़ेगा । अतः इस प्रकार भी क्षणिकवाद व प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में विरोध हो जाता है । यदि वस्तु की दृश्यता उसकी उत्पत्ति तथा अदृश्यता उसका विनाश है, तब भी वस्तु का पितायी वेना व न पितायी वेना बोलने वाले का गुण होगा, न कि वस्तु का । इस भांति भी वस्तु साश्वत हो जावेगी, अतः शंकर का कहना है कि अधिशाधि हेतु संस्कारादि भावों की उत्पत्ति के निमित्त नहीं हो सकते हैं ।

क्षणिकवाद की अतार्किकता की व्याख्या करते हुए शंकर कहते हैं कि बाँझों की मान्यता के अनुसार अधिपति प्रत्यय, सत्कारी प्रत्यय, समन्तर प्रत्यय

१. बाँझों की बुद्धि, वेदान्त सूत्र, पार्ट-१, ११ अध्याय, २ पाद, २०, पृ० ४०८

२. एस० राधाकृष्णन्, वि श्रुतसूत्र सेकल ३ (१८-१७) २, २, २० पृ० ३८० । तथा डाक्टर चन्द्रधर शर्मा, बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ० १८४

३. बाँझों की बुद्धि, वेदान्त सूत्र, पार्ट १, २ अध्याय, २ पाद २० पृ० ४०८-९

तथा बालम्बन प्रत्यय जो क्रमशः ह्रस्व, प्रकाश, मनोयोग तथा विषय के पर्याय हैं, विज्ञानों की उत्पत्ति के हेतु हैं। उस प्रसिद्धा से भी चाणर्मन्वाद सिद्ध नहीं होता है। यदि बौद्ध दार्शनिक बिना कारण के ही फल की उत्पत्ति मानते हैं, तब उपरोक्त मान्यता को कोई स्थान नहीं प्राप्त होगा और कोई वस्तु कभी भी उत्पन्न होने लगी। यह मानने से कि पूर्वज्ञाण की स्थिति तबतक रहती है जब तक कि उच्च ज्ञाण उत्पन्न नहीं हो जाता, कारण और कार्य की एक ही काल में सजा स्वीकार करनी होगी। अतः उनका यह सिद्धान्त कि 'स्वी संस्कार चाणिक है' उपादेय व तर्कसंगत नहीं होगा<sup>२</sup>।

जड़तत्वावी संस्कार ने केवल चाणिज्वाद को ही असमीचीन नहीं बताया है, वे सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन को ही सर्ववैनाशिकवाद कहते हैं। बौद्धों के दार्शनिक मतानुसार प्रतिसंख्यानिरोध अर्थात् बुद्धिपूर्वक सहेतुक विनाश तथा अप्रतिसंख्या-निरोध या अज्ञानपूर्वक निर्हीन<sup>३</sup> एवं आकाश इन तीनों के अतिरिक्त सब वस्तुएं ज्ञाणमय हैं। संस्कार उपरोक्त तीनों प्रकार के कर्मावश को भी असिद्ध कर देते हैं। ये कार्य वस्तु नहीं हैं, केवल अभाव मात्र हैं, अतः उन्हें भाव रूप में नहीं सिद्ध किया जा सकता है। ऐसा इसलिए कि दोनों निरोध विनाशशून्य होने से अभावमात्र है तथा आकाश आवरण का अभावमात्र है। अब प्रश्न उठता है कि इन प्रतिसंख्या व अप्रतिसंख्या निरोधों का स्थान कहाँ है : विज्ञान या विस के निरन्तर प्रवाह में कक्षा उसमें निश्चित अधिवाधि किसी भाव में ? विज्ञान-सन्तति में विनाश संभव ही नहीं है, क्योंकि यह सन्तान या प्रवाह कारण-कार्य की शृंखला के रूप में निरन्तर कार्यशील एवं प्रवाहित होता रहता है। सन्तान-

१. स्वामी श्री हनुमानदासजी षट्शस्त्री (व्याख्याकार) तथा डा० बीरमणि प्रसाद उपाध्याय (मुद्रिका लेखक), ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्यम्, 'ब्रह्मसूत्रविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या संहिताम्, अ०२ भाग सू० २१, पृ० ४८६

२. वही।

३. भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग पृ० १००६

प्रवाह का विच्छेदनही होता, प्रत्येक पाण एक दूसरे से अविच्छेदित रहते हैं, इसलिए इनका एकता से स्थिर हो जाना अतन्मय है। विज्ञान सन्तति या प्रवाह के अंगभूत भावों में भी विनाश संभव नहीं हो सकता है क्योंकि ये भाव रूप संस्कार हैं जो पूर्णतया विनष्ट नहीं होते तथा अपना अवशेष विन्द छोड़ते जाते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा अनुमान द्वारा भी इनका सम्बन्ध स्पष्ट होता है, अतः किसी भी तरह से दोनों प्रकार के ब्रह्मार्थों या विनाशों की सिद्धि नहीं होती है। यदि कोई दार्शनिक यह कहें कि भ्रान्तिकल्प त्रिविधा से सत्य प्रतीत होने वाला ज्ञात त्रिविधा के भ्रष्ट होने पर उसी के साथ विनष्ट हो जाता है तब अतुल्य विनाश यानि अप्रतिसंस्थानिरास को नहीं स्वीकार किया जा सकता है। यदि अविद्या-मात्र अतुल्य माने तब ज्ञान और उसके साथ तार्किक दृष्टान्तिक कारणों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है अतः संकर कहते हैं कि इन बाँटों का मत किसी प्रकार से भी सर्वसंगत नहीं है।

संकर कहते हैं कि बाँटों का यह कहना कि आकाश आचरण का अभावमात्र है, उचित नहीं है। ये आकाश में भी घटतुल्य की स्वीकार करते हैं, इनका कथन है कि जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु क्रमशः गन्ध, रस, रूप तथा रस्य के आश्रय हैं उसी प्रकार शब्द का भी कोई आश्रय होना चाहिए, यह आकाश ही है। यही नहीं यह आकाश अन्य चार भूतों का भी आश्रय है, पक्षी भी आकाश में विचरण करते हैं, हम जानते हैं कि किसी भी भावरूप वस्तु को अभाव में स्थान नहीं प्राप्त हो सकता है। इस तरह आकाश भी वस्तुरूप में प्रत्यक्ष है। संकर कहते हैं कि श्रुति तथा आगम प्रमाण से तो आकाश की उत्पत्ति सिद्ध होती ही है किन्तु यदि पूर्वपक्षी वायु इसे स्वीकार नहीं करते तब भी शब्द गुण के अनुमान से आकाश के पदार्थत्व विशेष की स्वीकार करना

१. यतिवर श्री भौडेबाबा, ब्रह्मसूत्र शार्करभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद संहिता,

ब०२ पा०२, अधि० ४ सूत्र-२२, पृ० १२३०

२. वही, सूत्र-२३ पृ० १२३१

ही पहुँचा। इससे सिद्ध होता है कि बौद्धों का वाकाश को अभावमात्र रूप में स्वीकार करना अनुचित है।

बौद्ध विचारक वात्सा के नित्य अस्तित्व को स्वीकार न करने इसे ज्ञानिक विज्ञानों का प्रवाह मात्र भी घोषित करते हैं किन्तु संन्यासियों की उनके इस मत को भी असाक्षिकता एवं अनिश्चितता से परिपूर्ण बताते हैं, और वे यह लक्ष्य कराते हैं कि इसके साथ पुनः ज्ञानिकवाद की अंगतता भी परिणामित होती है। अनुस्मृतेः तथात्ति पूर्वानुभवों की बार-बार स्मृति द्वारा अनुभूति होती है इसलिए अनुभवकर्ता ज्ञानमात्र के लिए कदापि अस्तित्वयुक्त नहीं हो सकता है, अनुभूति करने वाली वात्सा को नित्य ही मानना होगा। 'मैंने व्यतीत काल में अमुक वस्तु देखी थी' इस प्रकार का वर्तमानकालिक अनुभव या स्मृति नित्य ज्ञाता वात्सा को सिद्ध करती है। यदि बौद्ध चिन्तक इस शक्ता को समानता या सावृध्यता कहते हैं तब भी ज्ञानिकवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जब हम यह कहते हैं कि यह वही वस्तु नहीं है जिसे हमने कल देखा था वरन् यह वस्तु उससे समान है तब भी इस प्रकार की समानता को समझने के लिए एक नित्य ज्ञाता की अनिवार्यता है अपेक्षा रहती है। संन्यासियों की ही वाच्य ज्ञान की अपेक्षा में ज्ञानिकवाद की अस्तित्व की विज्ञाया हो पा, जब इस सूत्र द्वारा आन्तरिक ज्ञान में भी ज्ञानिकवाद को अस्मत् सिद्ध करते हैं।

ज्ञानिकवाद के आधार पर ही बौद्ध मतानुयायी यह प्रतिपादित करते हैं कि कारण वस्तु के नष्ट होने पर ही उत्तर ज्ञान में एक नवीन कार्यवस्तु की उत्पत्ति होती है, वे कहते हैं कि जाँचे हुए चीज के नष्ट होने पर ही उससे अंकुर

१. यत्तिर श्री गौडामबा, अमुन शंकरमाध्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित,  
जोर पा०२, जयि०४ सूत्र-२४ पृ० १२३२-३३-३४

२. स्मरणायकृष्णच, यि अस्तुन, संस्कृत ३ (१८-२७) २-२-२४ पृ० ३८२

"The moments of cognition and recognition perception and remembrance should belong to the same person and so he cannot be regarded as momentary."

३. वही।

उत्पन्न होता है, दुष्ट की नष्ट करने की वही बनता है । इस प्रकार ये अभाव से भाव की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं, किन्तु अद्वैतवादी शंकर ने नास्तिकदृष्टिवात् सूत्र के भाष्य में उपरोक्त मत को असंगत बताते हैं । ये कहते हैं कि यदि कृत्स्न कारण से ही कार्यात्पत्ति हो जाती है तब किसी विशेष कारण जैसे वृत्ता के लिए बीज की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है, और फलरूप प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होना चाहिए । अब बीज अस्तु ही है तब फिर उससे कोई भी वस्तु उत्पन्न हो जानी चाहिए, उससे अक्षर की ही उत्पत्ति क्यों होती है, घट व घट के कारण प्रतिका व सूत ही क्यों होते हैं ? किस प्रकार नीलत्व आदि कमल के विशेषण हैं यदि उसी प्रकार अभाव का भी विशेष रूप में स्वीकार किया जाय तब तो अस्तु की प्रतीति अस्तु के रूप में होनी चाहिए, किन्तु शंकर कहते हैं कि लोक-व्यवहार में ऐसा दृष्टिगत नहीं होता है, प्रत्येक वस्तु अस्तु रूप में स्थित है और उसी रूप में दृष्टिगत होती है । श्लक्ष्णानां, वन्ध्यापुत्र तथा जाकारक्षुम इत्यादि केवल बाणियों से ही कहे जाते हैं, वस्तुतः उनका व्यावहारिक अस्तित्व नहीं है । मिट्टी से ही घट की तथा वृक्ष से ही वही की उत्पत्ति होती है । इस तरह अपने-अपने रूप में प्रत्येक वस्तु भावनय तो दृष्टिगत होती है, इसलिए अस्तु सेतव नहीं उत्पन्न हो सकता है । जबकि बौद्ध विचारक स्वयं ही बार-बार कारणों से चित्त व चैतन्य को तथा परमाणुओं से समुदाय को उत्पन्न मानते हैं तब ये किस प्रकार अभाव से भाव के उत्पत्ति की स्थापना करते हैं ।

शंकर कहते हैं कि यदि बौद्ध अनुयायी कार्यात्पत्ति के लिए किसी नित्य चेतन कारण को स्वीकार न करके इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि अभाव से अपने आप ही भावरूप कार्य की उत्पत्ति होती है तो यह भी युक्तिसंगत नहीं

१, यतिवर श्री मोलैनाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित,  
पृ० १२४२ ।

२, वही, पृ० १२४७ ।

सिद्ध होता है, क्योंकि अभाव तो सर्वत्र उपलब्ध होगा और फिर किसी भी कार्य के लिए हमें किसी प्रयत्न या चेष्टा की आवश्यकता न होगी। बिना किसी उद्योग के ही उतार् से अनाज की, मिट्टी से बर्तन इत्यादि की उपलब्धि हो जायेगी। इतना ही नहीं, उवासीन, चेष्टाशून्य तथा कर्मण्य व्यक्तियों को भी दृष्ट-सिद्धि हो जायेगी। हमें अपने निर्माण व दुःख निवृत्ति के लिए कुछ भी करने की आवश्यकता न होगी, परन्तु ऐसा संभव नहीं है। अतः शंकर कहते हैं कि वैभाषिक व सांक्रान्तिक सवांशितत्ववादी बौद्धों का मत भ्रान्तिमूलक एवं असंगत है।

‘वैयाकाधिकरण’ सूत्र के अन्तर्गत शंकर विज्ञानवादी बौद्ध सिद्धान्तों की असंगतता को दिखाते हैं। विज्ञानवादी बौद्ध विचारक मन या चित्त अर्थात् विज्ञान से पृथक् बाह्य ज्ञात की सेवा को स्वीकार नहीं करते। ये केवल विज्ञानमात्र को ही तत्त्वरूप में स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि हमारा सम्पूर्ण वस्तुत्व केवल मानसिक अवधारणा में ही अभिव्यक्त होता है तथा कोई भी बाह्य पदार्थ तभी बोधाय्य हो सकता है जबकि वह मन, बुद्धि अर्थात् विज्ञान द्वारा निर्मित एवं आरब्ध हो। इन बौद्ध विचारकों के अनुसार सभी व्यवहार आन्तरिक हैं तथा विज्ञान या चित्त से भिन्न बाह्य वस्तु संभव नहीं हैं। बाह्य प्रकृति तथा रूप जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है, सम्पूर्ण काल्पनिक वस्तुओं का अधिष्ठान यह विज्ञान अपना चित्त ही है।<sup>१</sup> चित्त तो सत् है किन्तु वृष्टि के विषय पदार्थ सत् नहीं हैं। पदार्थों के द्वारा जितका बोध वस्तु हो जाता है, चित्त अपने को व्यक्ति शरीर के अन्दर झुलकारी पदार्थों एवं निवासस्थान आदि के रूप में

१. यतिवर श्री मोलैबाबा, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद संहिता, पृ० १२४४

२. वही।

३. वही, अधि० ५ ( २८-३९) पृ० १२४६ से १२४७ तक।



अभिव्यक्त करता है। उसे मनुष्यों का बाल्य कहते हैं। विज्ञान में समस्त विश्व का समावेश है। प्राकृतिक पदार्थ केवल इसकी अतिरिक्त हैं, किन्तु विज्ञान एक सम्पूर्ण इकाई है, जिसमें वह स्वयं एवं उक्त प्राकृतिक पदार्थ भी अन्तर्निहित हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से वात्सा के तार्किक रूप के प्रति क्रमिक संक्रमण को हम अनुभव करते हैं। सब वस्तुओं का सम्बन्ध विज्ञान के साथ है। विचार से बाह्य अथवा विचार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। विचार करने वाले विषयी एवं पदार्थ ज्ञात के अन्तर अन्तरिक्ष का विचार करता है, परस्पर वितान्त्र विरोधाभासी नहीं होनी नहीं सकता। विचार ही समस्त ज्ञान का वाहि एवं अन्त है। इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञानमात्र के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

बौद्ध विचारक अपने पक्ष के समर्थन में तर्क देते हुए कहते हैं कि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि स्तम्भादि बाह्य पदार्थ हैं तो वे या तो परमाणु रूप होंगे या परमाणुओं के समुदाय मात्र होंगे। कहे का अर्थ यह है कि यदि घट, पट स्तम्भादि बाह्य पदार्थों को सरल या अभिन्न रूप में स्वीकार किया जावे तो ऐसा संभव नहीं है क्योंकि अणु अतीन्द्रिय है, ये वस्तुएं अणु से भिन्न हैं। हमें अणुओं का बोध नहीं होता, ये पदार्थ अणुओं के समुदाय अथवा एकत्रोभूत पुंज हैं, यह भी हम नहीं कह सकते, क्योंकि हम इस बात का निर्णय नहीं कर पाते कि ये समुदाय रूप बाह्य पदार्थ अणुओं से भिन्न हैं या नहीं। यदि भिन्न है तब ये अणु द्वारा निर्मित नहीं हो सकते, यदि ये भिन्न न होकर अणुओं के समान हैं तब इन्हें अणु रूप लेना चाहिए और ऐसी वस्तु में ये मूर्तप पदार्थों के कारण नहीं हो सकते इसलिए ये अणुओं के समान भी नहीं हैं। इस प्रकार बाह्य पदार्थ सत् सिद्ध नहीं होते और इसी तरह बाह्य वस्तुओं की अन्य कौटिल्यां जाति, गुण, जाति भी संभव नहीं है। विज्ञान ही

घट, पट आदि का रूप गृहण करते हैं। इसी स्पष्ट करने के लिए बौद्ध वादीयिक यह कहते हैं कि सब विषयों के प्रति हमें ऐसा ज्ञान होता है कि <sup>ही</sup> घट ज्ञान है या पट ज्ञान है। अतः यहाँ ज्ञान में ही कुछ विशेषता है, इसके साथ ही अनिवार्यतया हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे विज्ञान वस्तुओं के स्वरूप को धारण कर लेते हैं, अन्य शब्दों में हमारे आन्तरिक विज्ञान और बाह्य वस्तु की एक साथ उपलब्धि से ही यह प्रमाणित हो जाता है कि विज्ञान ही बाह्य वस्तु का रूप गृहण करता है। जब इस प्रकार ज्ञान की विषय से सारूप्यता सिद्ध हो जाती है अर्थात् आकार, लम्बाई, स्वाद, रंग आदि जिनका हमें ज्ञान होता है ये सब गुण विषयीनिष्ठ हैं तब पुनः बाह्य ज्ञान की क्या आवश्यकता है, विज्ञानों से स्वतंत्र इनकी सत्ता नहीं है। हमारे विचारों में निहित धारणात्मिक मानात्म्य के कारण पूर्ण विचारों के प्रभाव हैं। पुनः इन पूर्वपक्षी बौद्धों का कथन है कि जिस प्रकार हमारी स्वप्नावस्था में, गन्धर्वनगर में तथा माया आदि में विज्ञान ही विषयी और विषय के रूप में अभ्यासित होते हैं अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न ज्ञान आनुभविक प्रतीति हैं हमें पूर्ण के मानसिक प्रभावों से उत्पन्न विचार प्राप्त होते हैं किन्तु बाह्य वस्तु के रूप में उनका अभाव होता है उसी प्रकार जागृतस्थिति में भी स्तम्भादि गौवर वस्तुएं विज्ञानरूप ही हैं। बाह्य वस्तु के अभाव में प्रत्यक्ष की विविधता या बहुत्व की सिद्धि कैसे होगी, इसके लिए ये विज्ञानवादी कहते हैं कि विज्ञानों के मानात्म्य का कारण वासना का वैचित्र्य है। कसने का तात्पर्य है कि वासना-मेव ही विज्ञानों के मेव का कारण है, बाह्यार्थ मेव नहीं। इस परिवर्तनशील अनादि ज्ञान में विज्ञान व वासना जीवाङ्गु की प्राप्ति एक दूसरे का कठिन कारण-कार्य बनते रहते हैं। विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार ज्ञान वैचित्र्य वासना-निमित्त ही है। इस से

१. एस०के० बेल्लकर, दि ब्रह्मसूत्र आफ् बाकरायण विष्णु दि कर्मदी आफ् शंकराचार्य, चैप्टर-२, क्वार्टर १ और २ (२८-३२) पृ० ११७-१८।

२. डा० चन्द्रपर शर्मा, बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृ० १८६

अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकारों से सिद्ध करते हैं ।

विज्ञानवादी बौद्धों के उपरोक्त तर्कों की न्याय अंगतता को यशस्वि  
द्वुर शंकराचार्य भी कहते हैं कि ' नाशभावः उपलब्धः ' अर्थात् बाह्य स्वार्थों के  
अभाव को नहीं स्वीकार किया जा सकता है , क्योंकि हमको उपलब्धि हमें  
होती है । मान करते हुए भी यह कहना कि ' मैं माननेवाला कर रहा हूँ;  
बाह्य पदार्थों की हान्द्रिय-सन्निर्वाह से वैलता व उनसे तृप्त होता हुआ भी  
यह कहना कि ' मैं वैल नहीं रहा हूँ; ' मैं तृप्त नहीं हो रहा हूँ; सर्वथा अनर्गल  
एवं वास्यास्पद-सा प्रतीत होता है , क्योंकि अभाव को उपलब्धि कभी नहीं  
होती । पुनः शंकर कहते हैं कि यदि विज्ञानवादी विचारक यह कहें कि उपलब्धि  
से व्यतिरेक वे कुछ भी उपलब्ध नहीं करते, उनका यह कहना भी अनुचित है,  
क्योंकि बाह्य पदार्थ स्वयं ही उपलब्धियाँ हैं । हम इस प्रकार का अनुभव नहीं  
करते, हम सब मनुष्य बाह्य पदार्थों को उपलब्धि के विषयों के रूप में ही ग्रहण  
करते हैं । प्रमाणस्वरूप हम कह सकते हैं कि बाह्य पदार्थों को सत्ता की अवधारणा  
करने वाले भी उनकी सत्ता को स्वीकार करते हैं । शंकर कहते हैं कि स्वयं पूर्वपक्षी  
बौद्धों द्वारा प्रदत्त युक्ति है—जो अन्तःस्वरूप है उनका बाह्यत्व अवभास होता है ।  
इस बात का प्रमाण है कि बाह्य जगत् का अस्तित्व है । शंकर स्वयं भी सर्वप्रसिद्ध  
बाह्य अवभासित होती हुई उपलब्धि ही मानते हैं । जब स्वयं बाह्य कोई वस्तु  
दृष्टिगत होती है तभी तो हम यह कहते हैं कि हमारे अन्तर स्थित विचार  
बाह्य पदार्थों की भाँति अवभासित होता है । हम यह क्यों नहीं कहते हैं कि  
यह गुलाब का फूल आकाश कुटुम-सा भासित होता है, विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र-सा  
प्रतीत होता है, अतः सिद्ध है कि बाह्य पदार्थ का अस्तित्व उपलब्ध होने के कारण  
सिद्ध है ।

१. यतिधर जी भोलै बाबा, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाष्यद्वयव्याख्यान, १९५५

अ०२ पा०२ अधि०५ सूत्र-२८, पृ० १२५६

२. वही, पृ० १२५७ ।

पुनः अत्रैव वार्शनिक संकर कहते हैं कि किसी वस्तु का सम्भव-सम्भव होना प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पर निर्भर है अर्थात् जो वस्तु प्रत्यक्षानुबि प्रमाणों में से किसी के द्वारा भी उपलब्ध होती है तो उसे सम्भव मानते हैं और यदि किसी भी प्रमाण द्वारा उपलब्ध नहीं होती तो उसे असम्भव, न कि हम सम्भव-सम्भव पर ही प्रमाण प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति को निर्भर बना दें। संकर का कथन है कि बाह्य पदार्थ सपरत प्रमाणों द्वारा सिद्ध है अतः उन्हें अवधारणा नहीं किया जा सकता है। "यह कथन है कि प्रत्यक्ष ज्ञान-विषयक वेतना दृष्ट वस्तु के आकार को ग्रहण कर लेती है जिससे कि हमें वस्तु का ज्ञान कभी नहीं होता।<sup>प्रतिद्व</sup> केवल उस आकार का ज्ञान होता है जिसका ग्रहण वेतना ने किया है, संकर के अनुसार सर्वथा असंगत है। वे प्रश्न करते हैं कि यद्यपि आरण्य से ही पदार्थ नहीं है तो प्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थों की वाकृति कैसे ग्रहण करता ? पदार्थ है तभी तो वेतना उनके आकार को ग्रहण कर सकती है अन्यथा वेतना अपनी हज्जातुसार किसी भी वाकृति को ग्रहण कर सकती है। यदि कहा जाए कि हमारी वस्तुओं के बाह्यरूप की वेतना प्राप्तमान है, अर्थात् हम पदार्थों को प्रथम से बाह्यरूप में देखते हैं जबकि वस्तुतः वे बाह्य नहीं हैं तो संकर फिर प्रश्न करते हैं कि यदि वास्तव में बाह्य वस्तु कुछ नहीं है तब हमें बाह्यता के सम्बन्ध में प्राप्ति भी कैसे हो सकती है ? यदि सांप नाम की कोई वस्तु बिल्कुल ही न होती और हम उसे जानते भी नहीं तो हम उसी में उसकी कल्पना कैसे कर सकते थे ? ततः बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व आवश्यक है।"

संकर के तर्कों के अनुसार यह भी नहीं माना जा सकता है कि ज्ञान के विषय-सारूप्य से विषय का नाश हो जाता है, क्योंकि घट, पट आदि विषयों के अभाव में विषय सारूप्य भी सम्भव नहीं है और वस्तु-विषय ही उपलब्धि के

विषय है । घट-पट विभिन्न ज्ञानों में घट और पट रूप विशेषणों का हो भेद है न कि विशेष्यरूप ज्ञान का, श्वेत गाय व काली गाय में श्वेतत्व और कालिमा<sup>१</sup> भिन्न है उनका गीत्व समान है । उतः ज्ञान व पदार्थ में भेद स्पष्टरूप से है । पूर्व तथा उत्तर कालों में उत्पन्न दो प्रकार के विज्ञान अपना अनुभव करके ही उपपत्ति<sup>२</sup> पाते हैं, उनमें एक दूसरे के प्रति ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं बन सकता है । शंकर कहते हैं कि इसमें बौद्धों के क्षणिकवाद, स्वल्पाण-प्रतिज्ञा तथा जडिया के संसर्ग से सर्वसर्वप्रतिज्ञा, बन्धन और मोक्ष के सिद्धान्त की भी बसिद्धि हो जाती है<sup>३</sup> । यदि यह मान लिया जाय कि विज्ञान ज्यों से अतिरिक्त अपने आप ही अनुभव में जाता है तब भी इसमें क्रिया-विराघ हो जाता है, यदि वह अपने से अतिरिक्त किसी ग्राहक द्वारा विज्ञान ग्राह्य है यानी उपलब्धि का विषय है तब ग्राहक को अन्य का ग्राह्य विषय बनना होगा और इस प्रकार जनक-तन्त्रा<sup>४</sup> उत्पन्न होगा<sup>५</sup> । शंकराचार्य जी कहते हैं कि जब विज्ञानवादियों का विज्ञान दीपक की प्रतीति के समान उल्टा अपने आप ही प्रज्वलित होता है तथा उसे प्रज्वलित करने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है, तब विज्ञान की दीपक को ही मूर्ति किसी अन्य की उपलब्धि का विषय होना चाहिए, क्योंकि यह कहना तो हास्यास्पद होगा कि जगत् अपने आप को ही जलाती है । शंकर के विचारानुसार मित्य साक्षात् चैतन्यरूप ज्ञात्वा को ही दीपक के समान स्वप्रकाश स्वरूप कहा जा सकता है, विज्ञानवादी बौद्धों के क्षणिक विज्ञान का नहीं<sup>६</sup> । इनका विज्ञान व ती उत्पत्ति, नाश आदि अनेकत्व

१. यतिवर श्री मोठे बाबा, ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित, अ०२ पा०२ अधि०५ सू० २८ पृ० १२६१-६२

२. वही, पृ० १२६४

३. स्वप्नोपाध्याय, वि ब्रह्मसूत्र, संस्करण-४ (२८-३३), ११, २, २८, पृ० ३८५

"The witnessing self exists by himself and can not be doubted. This witnessing self of the Advaita-Vedānt is one, permanent and self-illuminating, while the ideas of the vijñāna-vāda are transitory ..."

है कुछ है अतः इसे भी प्रयोग के समान अपने ही भिन्न किसी अन्य का ज्ञेय विषय होना चाहिए । यदि ये विज्ञान को किसी प्रकार के उच्चतम अनुभव या तो स्वयं सिद्धान्त साक्षि ज्ञाता के समान स्वीकार करते हैं तो उन्हें विज्ञान को स्थायी मानना होगा । किन्तु ऐसा करने पर ज्ञेय मत् की स्थापना ही जाती है तथा इनका सापेक्षबाध विरुद्ध हो जाता है इसलिए विज्ञानवादियों द्वारा बाह्य पदार्थों की अस्वीकृति असंगत ही जाती है ।

एक अन्य सूत्र में बौद्धों के विरुद्ध शंकर कहते हैं कि स्वप्नावस्था के ज्ञान तथा जागृतावस्था के ज्ञान में क्रमशः बाधित व अबाधित विषय स्वरूप का विरोध है, अतः स्वप्नावस्था के दृष्टान्त से जागृतावस्था के ज्ञान को निरवधार नहीं सिद्ध किया जा सकता है । स्वप्नगत ज्ञान का बाध जागृतावस्था द्वारा ही जाता है परन्तु जागृतावस्था के ज्ञान का बाध नहीं होता है । स्वप्न ज्ञान केवल स्मृति का विषय होता है किन्तु जागरित ज्ञान में विषय की उपलब्धि होती है, अतः शंकर कहते हैं कि दोनों में भिन्न धर्मों की प्राप्ति होने के कारण उनमें साधर्म्य मिलाना भिन्नान्त अनुचित है ।

शंकराचार्य के अनुसार विज्ञानवादियों द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त कि विज्ञानों या प्रत्यक्षों की विविक्तता का कारण वासना-वैशिष्ट्य है, पूर्णतया असंगत एवं अतार्किक है क्योंकि जो वस्तु पहले उपलब्ध हो चुकी है उसी के संस्कार बुद्धि में शेष रहते हैं तथा वे ही संस्कार वासना-रूप में स्फुरित होते हैं, परन्तु जब बौद्ध दार्शनिक बाह्य पदार्थों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते तो पूर्वानुभव के संस्कार कैसे उत्पन्न हो सकते हैं । शंकर कहते हैं कि वासना का अर्थ है--संस्कार विशेष वासना और फिर विभिन्न प्रकार की वास्तविक पदार्थों की उपलब्धि स्वरूप ही होती है, परन्तु जब पदार्थ ही नहीं हैं तब वासनाओं की प्राप्ति नहीं हो सकती है । यदि वासना को अबाध मान लिया तो

अनादि वासना परम्परा जन्म परम्परा के समान व्यवहार का लीप करने वाली अवस्था को जन्म पैती है। संस्कार के मत में पदार्थों के अभाव से संस्कारों का अभाव होता है क्योंकि संस्कारों का कोई आश्रय नहीं रह जाता है। बौद्ध वार्शनिकों के अनुसार पदार्थों का अभाव है, अतः वासना का भी सर्वथा अभाव हो सोगा, क्योंकि पदार्थों के बिना वासना सम्भव ही नहीं है।

ज्ञानिक्खाद के आधार पर संस्कार पुनः यह सिद्ध करते हैं कि बौद्ध वार्शनिकों द्वारा स्वीकृत वासना का सर्वथा अभाव है। उनके अनुसार वासना की आधारभूत बुद्धि या आलस्य-विज्ञान है तथा यह ज्ञानिक है किन्तु संस्कार कहते हैं कि अस्थिर स्वरूप होने के कारण यह आलस्य-विज्ञान वासनाओं का अधिष्ठान नहीं हो सकता, इसे हम स्थायी नहीं मान सकते हैं। जबतक एक स्थिर, कूटस्थ आत्मा नहीं होती तब तक विज्ञान-प्रवाह के ज्ञानिक होने के कारण देश-काल सापेक्ष वासनाओं के अधिष्ठान तथा रसुप्ति, प्रत्यभिज्ञा आदि प्रत्यक्ष व्यवहार संभव ही नहीं हो सकते हैं। ज्ञानिक्खाद का मानने के कारण स्वीकृतत्ववादी बौद्ध सिद्धान्त पर लाये गये सब आक्षेप विज्ञानवादी बौद्ध सिद्धान्त के लिए भी उपयुक्त सिद्ध होते हैं।

बौद्ध दर्शन के ज्ञानवादी सिद्धान्त के विषय में संस्कारवादियों की क्लेश यही कहते हैं कि यह सिद्धान्त समस्त प्रमाणों से विरुद्ध है इसलिए इसका खण्डन करने भी इसे सम्मानित नहीं किया जा सकता है। संस्कार के अनुसार बौद्ध दर्शन सिद्धान्त की जितनी ही परीक्षा की जाती है उतना ही यह युक्ति-विरुद्ध तथा अक्षत प्रतीत होता जाता है। रैती या बालू द्वारा निर्मित मूप की भांति यह सिद्धान्त टूटता जाता है। इस प्रकार अज्ञेयवादी विचारक संस्कार वाद्योंवाध, विज्ञानवाद और ज्ञानवाद इन तीनों परस्पर-विरोधी बौद्ध-

१. एस०के० वैष्णवर, ब्रह्मसूत्र भाष्य भाष्यारण्य, पैक्टर-२, क्वार्टर्स १-२ (२८-३२)

२-२-३०, पृ० १२४-२५

२. यद्विद्वत् श्री मोठे बाबा, ब्रह्मसूत्र भाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित,  
ब०२ पा०२ अधि०५ सू०५० १२७४

सिद्धान्तों को सर्वव्यापकत्वाव की संज्ञा दे देते हैं ।

(२)

संकराचार्य द्वारा की गयी बौद्ध दर्शन की समीक्षात्मक आलोचना को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने के पश्चात् हम पुनः अपने उस केंद्रीयमत सिद्धान्त पर आ जाते हैं कि एक अद्वैत विरोधी दर्शन के रूप में स्वीकृत बौद्ध-दर्शन तथा अद्वैत दर्शन के बीच एक ऐसा महत्त्वपूर्ण भेद नहीं दृष्टिगत होता, जिस प्रकार का विरोध पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट के दर्शन तथा संकर के दर्शन में दृष्टिगत होता है । कान्ट के दर्शन में वास्तविक पाश्चात्य दार्शनिक विम्वतधारा का चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है, तथा इनके दार्शनिक विचार सुदृढ़ एवं अमिट रूप से पाश्चात्य वैज्ञानिकी की धार्मिक, वास्तविक तथा दार्शनिक व सांस्कृतिक परम्परा पर ही आधारित हैं । अपने इस विचार पक्ष के समर्थन में पुनः हमें यह ध्यान देना है कि बौद्ध दर्शन और अद्वैत दर्शन की एक निरन्तरता को दृष्टियों के एक तादात्म्य के समान नहीं जानी जा सकती है, इस प्रकार की भूल से एक प्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, जिसका किसी भी वंश में परिहार करना आवश्यक है । प्रायः इस प्रकार की त्रुटि हमारे समक्ष एन वी प्रकार के समान कक्षा के रूप में उपस्थित हो जाती है—संकराचार्य एक प्रख्य बौद्ध हैं और नानाजुन एक प्रख्य अद्वैतवादी हैं ।

इन दो कथनों में से हम जिसे भी अधिक ग्राह्य मानें, हमारा लक्ष्य इनके सार की समानता को मानते हुए भी, यह होगा कि हम इनमें से किसी अधिक व्यापक मानें । जो अधिक व्यापक सिद्ध होगा उसमें दूसरे के सार का विषय हो जावेगा । यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण निरीक्षण है । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि

१. एस० राधाकृष्णन्, वि ब्रह्मसूत्र, सैक्सन ४ (२८-३२) ॥ २, ३२, पृ० ३८७

२. श्री एस०एस० राय, वि हेरिटेज आफ् संकर, पृ० १ तथा पद्मपुराण, उवल्लंठ, परिच्छेद २३६; पितानमिष, सार्वत्र्य प्रवचनमाध्य, १।२२, मध्य, तत्त्वार्थोत्तर, पृ० २२, २; इन्द्रियनाथ दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ् इंडियन फिलॉसफ़ी वायूम-१, पृ० ४६३-६४; रामानुज, श्रीमाध्य, २।२।२७, राहुल सांस्कृत्यायन दर्शनविदर्शन पृ० ८२० ।

३. डा० बन्धुधर शर्मा, इण्डियन फिलॉसफ़ी, ए क्लिफ़रड सर्वे, पृ० ३१८-१६ ।



किस सिद्धान्त का किस्म विलय होगा, क्योंकि जो धिलीन होता है वह अपने अभिष्टान में अपने को समाप्त कर देता है । इसलिए ' शंकर एक प्रच्छन्न बौद्ध है ' इस कथन का अर्थ ' नागार्जुन एक प्रच्छन्न ब्रह्मवादी है ' इस दूसरे कथन के अर्थ के समान नहीं होगा । विलय होने वाली विचार व्यवस्था गणित हो जाती है तथा कम महत्वपूर्ण हो जाती है; क्योंकि इसमें कुछ न्यूनता, अभाव या अन्तर्भूत दोष निहित है जिसका परिहार तभी हो सकता है, जब यह एक दोषमुक्त सिद्धान्त में धिलीन हो जावे । यहाँ हम धिक्छन्न परिकल्पना को एक मतागुही रूप में स्वीकार करने के लिए सहमत नहीं हैं । इनमें से किसी एक की व्यापकता को मतागुही रूप में स्वीकार करना दार्शनिक चिन्तन से अलग होगा । यहाँ यह मान लेना मान पर्याप्त नहीं है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध है या नागार्जुन प्रच्छन्न ब्रह्मवादी है । हमें यह बतलाना अनिवार्य है कि किस किसी भी कथन के जीवनित्य को हम मानते हैं तो, क्यों मानते हैं ।

जब हम अपना विवेचन इस कथन में अभिव्यक्त विचार निरीक्षण से प्रारम्भ करते हैं कि शंकर एक प्रच्छन्न बौद्ध है । प्रश्न यह है कि इस सन्दर्भ में बौद्ध पद का क्या अर्थ है ? बौद्ध विचार-दर्शन के विभिन्न रूप हैं, जो सर्वास्तित्व-वादियों के आलोचनात्मक यथार्थवाद तथा नव्य-यथार्थवाद से महायान परम्परा के शून्यवाद और आत्मनिष्ठवाद तक व्यवस्थित व क्रमबद्ध होता हुआ विज्ञानवाद और माध्यमिक नामक दो अत्यधिक महत्वपूर्ण बौद्ध दर्शन सम्प्रदायों को अपने में समाविष्ट करता है । इसलिए प्रश्न यह है कि यदि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध है तो वे किस प्रकार के बौद्ध हैं--सर्वास्तित्ववादी या महायानी । वे विज्ञानवादी बौद्ध मत का अनुमान करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि सत्य आत्मनिष्ठता या विज्ञानमात्र है, यथार्थ शून्यवादियों का समर्थन करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि--' तत्त्व वस्तुष्काटिविभिर्मुक्त है ' ? इस प्रश्न विशेष की स्थिति में हम विज्ञानवाद तथा सर्वास्तित्ववाद की शंका द्वारा प्रवृत्त आलोचनात्मक समीक्षा का पुनः वर्णन नहीं करेंगे, क्योंकि हमकी आलोचनात्मक समीक्षा पक्षी की पूर्ण खँवरिस्तुत रूप से वर्णित है । बादरायण-रचित

श्रीसूत्र भाष्य की अपनी समीक्षा में संकराचार्य जी समस्त पारतीय दर्शन-  
 व्यवस्थाओं की आलोचना द्वारा इसी बात का संकेत देते हैं कि उनके दर्शन-  
 दृष्टि के मार्ग में जो विज्ञ-बाधार्थ हैं, उनका परिहार कर देना है तथा उन्हें  
 समाप्त कर देना है। क्योंकि अज्ञेय अपने अन्तिम विश्लेषण में इस विचार-  
 दृष्टि का स्वीकार करता है कि वस्तुनिष्ठता ही सत्य है। इसका अर्थ यह  
 नहीं है कि यह पुद्गल नैरात्म्यवाद है। यह न तो धर्मा की यथार्थता के  
 दर्शन को स्वीकार करता है, न तो उसके साथ तावात्म्य ही स्थापित करता  
 है। बूँकि हम इस तथ्य से उन्नत हैं कि प्रतिपिण्ड के अनुभव में स्वीकृत ज्ञात  
 को हम अपने अन्तिम विश्लेषण में नहीं प्राप्त करना है, इसलिए यह प्रमाणित  
 किया जाता है कि सर्वास्तित्ववाधियाँ द्वारा स्वलक्षणों के रूप में स्वीकृत  
 प्रत्यक्षाधीनात्मक अनुभव के ज्ञात का अतिक्रमण एक अनुभवातीत अवस्था के-  
 रूप में करना है अर्थात् उस प्रत्यक्षा ज्ञात को अनुभव से परे एक श्रेष्ठ अवस्था में रचना  
 है। अज्ञेयवादी विचारकों के अनुसार ज्ञान में अनेक विशेषणों के आनुभविक ज्ञात  
 की सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता का अतिक्रमण एवं निश्चय ही जाता है। न तो  
 संकराचार्य जी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं कि सत्य इस अर्थ में  
 वास्तव्य है कि सत्य में स्वयं वास्तव्य होते हैं। जो स्वयं-वैतना तथा  
 जाग्रत-वैतना के ज्ञात में कोई भेद नहीं स्वीकार करते उन विज्ञानवादी विचारकों  
 के वास्तुनिष्ठ सैदान्तिक पक्ष के विरुद्ध अज्ञेयवादी संकर सर्वास्तित्ववाधियाँ या  
 किन्हीं भी यथार्थवादी विचारकों की आनुभविक व भाषात्मक प्रवृत्ति का उचित  
 समझते हैं। यही कारण है कि अपनी विचार दृष्टि में संकर सर्वास्तित्ववाधियाँ  
 के विचार-पक्ष की अपेक्षा विज्ञानवाधियों के सिद्धान्त पक्ष में अधिक सम्बद्ध

१. यतिवर श्री मोठे बाबा, श्रीसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रभा-भाषानुवाद संहिता,

व०२ पा० अधि-५ सू० २८ पृ० १२५६।

प्रसूत्र भाष्य की अपनी समीक्षा में शंकराचार्य जी समस्त भारतीय दर्शन-  
व्यवस्थाओं की जाहोना द्वारा इसी बात का संकेत देते हैं कि उनके दर्शन-  
दृष्टि के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएं हैं, उनका परिहार कर देना है तथा उन्हें  
समाप्त कर देना है। क्योंकि ब्रह्म अपने अन्तिम विश्लेषण में इस विचार-  
दृष्टि को स्वीकार करता है कि वस्तुनिष्ठता ही सत्य है। इसका अर्थ यह  
नहीं है कि यह पुद्गल नैरात्म्यवाद है। यह न तो धर्म की यथार्थता के  
दर्शन को स्वीकार करता है, न तो उसके साथ तादात्म्य ही स्थापित करता  
है। बल्कि हम इस तथ्य से अवगत हैं कि प्रतिपिण्ड के अनुभव में स्वीकृत ज्ञात  
को हमें अपने अन्तिम विश्लेषण में नहीं प्राप्त करना है, इसलिए यह प्रमाणित  
किया जाता है कि सर्वास्तित्ववाधियों द्वारा स्वलक्षणार्थों के रूप में स्वीकृत  
प्रत्यक्ष-बौधात्मक अनुभव के ज्ञात का अतिक्रमण एक अनुभवातीत अवस्था ~~के-व्यवस्था~~  
में करना है अर्थात् उस प्रत्यक्ष ज्ञात को अनुभव से परे एक ब्रेष्ठ अवस्था में लेना  
है। ब्रह्मवादी विचारकों के अनुसार जब मैं अनेक विशेषणों के आनुमधिक ज्ञात  
की सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता का अतिक्रमण एवं निश्चय हो जाता है। न तो  
शंकराचार्य जी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं कि सत्य इस अर्थ में  
आत्मगत है जिस अर्थ में स्वप्न आत्मगत होते हैं। जो स्वप्न-वेतना तथा  
जागृत-वेतना के ज्ञात में कोई भेद नहीं स्वीकार करते उन विज्ञानवादी विचारकों  
के आत्मनिष्ठ सिद्धान्तिक पक्ष के विरुद्ध ब्रह्मवादी शंकर सर्वास्तित्ववाधियों या  
किंवा भा यथार्थवादी विचारकों की आनुमधिक व भावात्मक प्रुष्टि को उचित  
समझते हैं। यही कारण है कि अपनी विचार दृष्टि में शंकर सर्वास्तित्ववाधियों  
के विचार-पक्ष की अपेक्षा विज्ञानवाधियों के सिद्धान्त पक्ष में अधिक सन्दिह

१. यतिवर श्री गोले बाबा, उल्लसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रभा-भाषानुवाद सशित,  
३०२ पा० अधि-५ सू० २८ पृ० १२५६।

रखते हैं, उनकी उन्नति विरक्त जालीवना भी की है। परन्तु हम अपने विषय के मूठ रहस्य पर तब पहुँचते हैं, जब कि हम शंकर के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लें कि वस्तुवाद तथा विज्ञानवाद दोनों ही खण्डित हो जाते हैं, तथा अतीन्द्रिय सत्ता के तत्त्व-दर्शन में दोनों का अस्तित्व उप्त व समाप्त हो जाता है।

"शंकराचार्य एक प्रख्यन्न बौद्ध हैं" इस कथन के धार्मिक अर्थ को हम इसी विशेष दृष्टिकोण से समझ सकते हैं। यह अतीन्द्रिय सत्य ही माध्यमिका का उल्लेख है तत्त्व है। वे विचारक, जो शंकर की धार्मिक स्थिति का तात्कालिक बौद्ध दर्शन के साथ स्थापित करते हैं, केवल इस बात के लिए तर्क देते हैं कि बौद्ध विचारक नागार्जुन के तत्त्व में बौद्ध का विलुप्त हो जाता है। ऐसा कि हमारा लक्षित अभिप्राय है प्रारम्भ में ही हमने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि नागार्जुन के तत्त्व में का बिलोप भारतीय दर्शन में कावाद परम्परा के सम्पूर्ण महत्व को ही दृष्टिपूर्ण बना देता है। कावाद वात्स्व्य है जो अविशेष सम्बन्धी परम्परा की नित्यता अथवा निरन्तरता है। इस परम्परा में सत्ता का सावा नित्यता या कूटस्थता ही है किन्तु इस नित्यता को दृष्टिपूर्ण रूप में नहीं समझना चाहिए। इसका तात्पर्य मूल, भविष्य तथा वर्तमान इन तीन काल प्रतीकों द्वारा निरन्तरता नहीं है।

यहाँ नित्यता एक स्थिति धारणा है जिसी कालातीत स्वीकार किया जाता है। इसी विधि भी प्रकाश को काल को धारणा के आधार नहीं स्वीकार किया जाता है। नित्यता का अर्थ है सत्य रूप से अबाधित अर्थात् जो अपने स्वरूप में अनुलंघनीय है। कहने का तात्पर्य है कि यह वह है, जिसका अपने स्वरूप से ही उत्कर्ष नहीं हो सकता है। नित्यता वह नहीं है, जो सम्पूर्ण काल द्वारा

१. यत्किर भी मोले वावा, उद्बुद्ध, शंकरमाध्य-रत्नप्रभा-भावानुवाद संहिता,  
सूत्र ३०, पृष्ठ १२७१।

अस्थिर व स्थिर होता है, इसका तात्पर्य यह है कि यह काल द्वारा  
 कथित, नष्ट तथा परिवर्तित नहीं हो सकता है । अपरिवर्तनीय का अर्थ है--  
 काल के प्रभावों से अप्रभावित होना । काल भौतिक अथवा सांसारिक वस्तुओं  
 को ही प्रभावित करता है, उन्हें नष्ट करता है तथा उन्हें समाप्त कर देता है,  
 क्योंकि समस्त वस्तुएं काल के गाल में समाहित हो जाती हैं । अतः में समस्त  
 वस्तुएं अर्थात् अप्रत्यक्ष से प्रभावित होती हैं । यदि फिर वे ऐसी तिथिबिहीन  
 काल में क्षिप्त जाता है जिसमें समस्त घटियों की 'शुद्ध-वृद्धि' अर्थात् अस्तित्व हो  
 जाता है । यद्यपि काल-धारणा की शब्दावली का प्रयोग किया गया है,  
 परन्तु फिर भी नित्यता की निष्पत्ति के रूप से ही गृहण किया जाता है ।  
 नित्यता की धारणा द्वारा अपने कैम्ब्रीयुक्त दार्शनिक सिद्धान्त को प्रस्तुत  
 करने में बौद्ध दार्शनिकों का अभिप्राय वैश्व यज्ञ करना था कि काल के माध्यम  
 में कुछ भी स्थायी नहीं रहता है । प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, क्योंकि वह अपने  
 आपको एक क्षण के बाद स्थायी नहीं रह सकती अर्थात् एक क्षण से दूसरे  
 क्षण तक वस्तु स्थिर नहीं रहती है । बौद्ध दर्शन का 'नित्य' अपने स्वरूप  
 में काल से अलग है । इस सम्बन्ध में काल की रचना का वैश्व लक्षणिक प्रयोग  
 के रूप में अपनाया व समझा गया है । यहाँ काल की रचना का विषय इस  
 सम्बन्ध में है कि कुछ किमाला प्रभावित है, अपने स्वरूप में निर्विरोधी है, अव्याघाती  
 है, इसलिए यह काल में घटित होने वाली किसी वस्तु या काल से ही प्रभावित  
 है । अपने स्वयं रूप में वह प्रभावित रहता है । इस स्वयं प्रकाश है, इसलिए  
 काल तथा काल में प्रत्यक्ष तत्त्व इसके प्रकाश को मन्द व धुंधला नहीं कर सकता  
 है । आत्मा के स्वप्रकाश स्वरूप को इसके कालातीत अर्थ में ही गृहण किया  
 जा सकता है । नित्यता एक आनुमयिक विशेषता की प्रेरणा एक तात्त्विक स्वरूप  
 के अधिक निकट है । बौद्ध दर्शन जो अनित्यता की धारणा को ही अपने दर्शन  
 का कैम्ब्रीयुक्त सिद्धान्त बनाता है, बौद्ध दर्शन के 'नित्य' को वृद्धिपूर्ण रूप में  
 स्वीकार करता है, इसलिए उनकी वृद्धिपूर्ण रूप में गृहण की गयी नित्यता को  
 धारणा बौद्ध धारणा के विरुद्ध है । इनके अनुसार प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सत्ता

निमित्त है, अनिश्चित है और यदि वेतना का सिद्धान्त ही जिसके साथ  
 वेतना को स्वरूपित एवं तादात्म्यित किया जाता है, सर्वोत्कृष्ट सत्य है,  
 तब उसका भी एक स्थायी स्वरूप नहीं हो सकता और फलस्वरूप अनौत्सा  
 ह्यता स्थापन गृहण करेगी। बौद्ध दर्शन में न तो वस्तुओं की दृष्टि है ही  
 कुछ स्थायी है, न तो उन विवेचनाओं की दृष्टि है ही कुछ स्थायी है।

क्यों भी वस्तुओं की सापेक्षता से परिपूर्ण है—वाँटे का विषयी हो  
 या विषय उसका अपना ही स्वरूप नहीं होता है। निःस्वभावता ही उनका  
 चिह्न है और निःस्वभाव होने के कारण ही उनमें एक विरोधी निहित है।  
 कोटियाँ को आन्वीक्षात्मक जाड़ी बना द्वारा ही उस स्थिति की पुष्टि होती  
 है। माध्यमिक के अनुसार केवल तत्त्व ही उस स्थिति का उत्तिक्रमण करता है,  
 किन्तु इस तत्त्व के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। अधिक से अधिक  
 इसी तैयारी में अभिमुखित वस्तुओं के श्रेय प्रतिवस्तु के रूप में ही समझा जा  
 सकता है। जब माध्यमिक चिन्तक सम्पूर्ण विचार-दृष्टियों के आत्म-व्याघाती  
 स्वरूप के लिए युक्ति देते हैं, तब वे अपने आप में ही निहित विचार-दृष्टियों के  
 विरोधी को तथा प्रत्येक विचार-दृष्टि के अन्तर्गत आत्मव्याघात की दिखाते  
 हैं। किसी भी विचार-दृष्टि के विरोधी से मुक्त होने का वाचा करना उस  
 विरोधी के सिद्धान्त से तादात्म्य स्थापित करना है जो स्वयं एक विचार-दृष्टि  
 नहीं है बल्कि एक तार्किक वाद है, जिसकी वेतना विचार में तत्त्ववादीनिक दृष्टिगत  
 प्रवृत्तियों के आत्मव्याघात द्वारा संकेतित है। यह तार्किक वाद ही कुछ ऐसा  
 नहीं है जो अनुभूति को सामग्री हो। यह न तो आत्मा है न जनात्मा। यह  
 अपने स्वरूप में सत्तात्मक भी नहीं है। कौन कारण है कि माध्यमिक दर्शन  
 दो निर्वेधात्मक स्थितियों से युक्त होता है : (१) संबन्धवाद जिसके अनुसार  
 कोई भी तात्त्विक कथन विचारग्रस्त एवं विरोधपूर्ण है तथा अनिवार्य सत्य से  
 युक्त नहीं है (२) श्रेयवाद, जिसके अनुसार सत्य तैय वस्तु नहीं है। ब्रूकि  
 माध्यमिक दर्शन एक विशुद्ध वादीना है, भूतप्रत्यक्षता है इसलिए यह प्रत्येक दृष्टि

का तिरस्कार करता है। यह अधिरोध की उस धारणा पर अत्यधिक वारता रखता है, जो अप्रतिषेध है क्योंकि यह विचार द्वारा अज्ञेय है। श्रुति अज्ञेय ब्रह्म भी ज्ञेय है, इसलिए जिन विचारकों ने शंकर के दर्शन की प्रबल धर्म-दर्शन की उपाधि से विभूषित किया है, उन्होंने शंकर के अज्ञेय दर्शन के ब्रह्म का वादात्मक माध्यमिकों के तत्त्व के साथ स्थापित कर दिया है। इस प्रकार विद्वत् होने वाले दृष्टिकोण के पक्ष में निरन्तरता रखते हुए निरपेक्षा के एक प्रकार का दूरे में विलोप ही जाता है। शंकराचार्य जी को प्रबल धर्म कहने वाले आचार्यों का अभिप्राय यही है कि धर्म शंकर के ब्रह्म की माध्यमिक के तत्त्व में विद्यमान समावृत्ति चाहिए। परन्तु प्रकाश सिद्धान्त में एक भ्रान्ति है, क्योंकि नागार्जुन तथा शंकर के दर्शनों का प्रारम्भिक सिद्धान्त-विन्दु ही मौलिक रूप में भिन्न है। प्रारम्भिक विन्दु का यह मौलिक भेद ही जो ऐसे निरपेक्षाचार्यों की निर्मित करता है, जिनका उद्देश्य व तात्पर्य विरुद्ध रूप में भिन्न है। माध्यमिक दर्शन या प्रारम्भ-विन्दु सभी विचार-दृष्टियाँ तथा सिद्धान्तों की आलोचना है। अज्ञेय तत्त्व-दर्शन का प्रारम्भ-विन्दु विन्दु 'सदा के सिद्धान्त नहीं है' अपितु स्वयं अनुभव का एक चिन्तनात्मक गान है। अचिन्तनात्मक अनुभव कोई भी समस्या नहीं प्रस्तुत करता। जो समस्या उत्पन्न करता है, वह रज्जु-सर्प के स्वरूप की भाँति एक भ्रान्तिपूर्ण अनुभव है। रज्जु-सर्प का अनुभव चिन्तनशील विचार में निष्ठात्व की प्रतीति है।

शंकर के दर्शन में अनुभव के तीन स्तर हैं--व्यावहारिक, प्रतिभासिक व पारमार्थिक, जिन पर हम अनुभव की समस्या के निदान की प्राप्ति करते हैं। 'व्यावहारिक स्तर' 'स्वीकार' की दृष्टि है, 'प्रतिभासिक स्तर' 'सम्भ्रम' की दृष्टि है तथा 'पारमार्थिक स्तर' 'ज्ञान' की दृष्टि है, जिसमें समस्त मोक्ष समाप्त

१. टी.आर.वी.० मूर्ति, वि. सेंट्रल फ़िलासफी आफ़ बुद्धिज्म, पृ. ३३५।

• ...the Madhyama pratipad 'as the reflective awareness of the antinomical conflict of reason( dharmasām bhūta-pratyaveka is at once above the conflict and is an inner insight into it."

हो जाते हैं, सभी सम्बन्ध दूर हो जाते हैं । स्वीकार की दृष्टि में हम वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं करते, वे ऐसी रहती हैं उसी रूप में हम उन्हें गृहण कर लेते हैं, वे हमारे लिए कोई भी समस्या नहीं हैं, हम इन वस्तुओं में अविन्ययरूप से निमग्न रहते हैं । परन्तु कभी-न-कभी ऐसे अवसर स्वयं हो उपस्थित हो जाते हैं, जिसमें ज्ञात-सम्बन्धी प्रतिदिन की हमारी मधुर संतुष्टि व सुख उस मृग के अनुभव द्वारा कट बन जाती है जिस मृग के रूप में ही इसे जाना गया है । यहाँ हम ऐसी स्थिति का सामना करते हैं जिसमें हमारी अवस्था उस पक्षी के समान हो जाती है जो सेमल के वृक्ष पर बैठ कर उसकी पैलमाल करता है तथा सेमल-वृक्ष-फल के फल जाने की प्रतीक्षा करता है और समय वा जाने पर जब वह उस फल पर जाँच मारता है तब उसमें से हड्डी के रेशे बाहर निकल जाते हैं और वह मोह-भ्रम से निवृत्त होकर विक्षिप्त हो जाता है । इस प्रकार स्वीकार की दृष्टि से बाहर निकल कर मृग-निवारण की एक अवस्था ज्ञात के ऐसी मिथ्यात्व के बीच की स्पष्ट करती है जो रज्जु में सर्प की भाँति दिखायी देता है । रज्जु-सर्प का सादृश्यानुमान एकमात्र दृष्टान्त के रूप में नहीं प्रयुक्त होता है, यह समष्टि की स्थिति के मूल्यांकन के लिए पूर्णतया प्रयुक्त हो जाता है । यह ज्ञात-सम्बन्धी लौकिक स्थिति, ज्ञात में सज्ञा की स्थिति है, क्योंकि अद्वितीयरहित स्वीकार की ऐसी दृष्टि है जो भ्रम से ओत-प्रोत है, जो धोखा दे, झूठ है । जिसे प्रकार रज्जु के रूप में रज्जु का ज्ञान सर्प के आभास को बाधित कर देता है उसी प्रकार इस ज्ञात-सम्बन्धी समष्टि के भ्रम का भी एक अबाधित अधिष्ठान होना चाहिए । यह अधिष्ठान संसार के प्रपंच द्वारा घटने वाला नहीं है तथा यह अपने स्वरूप में अप्रतिवद है । यह एक ऐसी स्थिति है जिसका पुष्पवृत्ति पूर्ण राजमार्ग अवधायी रूप से अज्ञान के पर्व द्वारा केवल विच्छेदित प्रतीत होता है ।



हाँ जाते हैं, सभी सम्बन्ध दूर हो जाते हैं। रबीकार की दृष्टि में हम वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं करते, वे ऐसी रहती हैं उसी रूप में हम उन्हें गृहण कर लेते हैं, वे हमारे लिए कोई भी समस्या नहीं हैं, हम इन वस्तुओं में अचिन्त्यरूप से निमग्न रहते हैं। परन्तु कभी-न-कभी ऐसे अवसर स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं, जिसमें ज्ञात-सम्बन्धी प्रतिदिन की हमारी मधुर संतुष्टि व सुख उस भ्रम के अनुभव द्वारा कटु बन जाती है कि भ्रम के रूप में ही इसे जाना गया है। यहाँ हम ऐसी स्थिति का सामना करते हैं जिसमें हमारी अवस्था उस पक्षी के समान हो जाती है जो सेमल के धुत्ता पर बैठ कर उसकी पैलमाल करता है तथा सेमल-धुत्ता-फल के पक जाने की प्रतीक्षा करता है और समय का जाने पर जब वह उस फल पर बाँध मारता है तब उसमें से ऊँ के रेशे बाहर निकल जाते हैं और वह मोह-भ्रम से निवृत्त होकर विक्षिप्त हो जाता है। इस प्रकार रबीकार की दृष्टि से जागर निकल कर भ्रम-निवारण की एक अवस्था ज्ञात के रोटे मिथ्यात्व के बोध की स्पष्ट करती है जो रज्जु में सर्प की भाँति विज्ञात होता है। रज्जु-सर्प का सादृश्यानुमान एकमात्र दृष्टान्त के रूप में नहीं प्रयुक्त होता है, यह समष्टि की स्थिति के मूल्यांकन के लिए पूर्णतया प्रयुक्त हो जाता है। यह ज्ञात-सम्बन्धी लौकिक स्थिति, ज्ञात में सदा की स्थिति है, क्योंकि अनुचितविरहित रबीकार की ऐसी दृष्टि है जो भ्रम से जात-प्रति है, जो बोझा है, उल है। जिस प्रकार रज्जु के रूप में रज्जु का ज्ञान सर्प के आभास को वाधित कर देता है उसी प्रकार इस ज्ञात-सम्बन्धी समष्टि के भ्रम का भी एक अवाधित अधिष्ठान होना चाहिए। यह अधिष्ठान संसार के प्रपंच द्वारा घटने वाला नहीं है तथा यह अपने स्वरूप में अप्रतिघट है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसका पुञ्जलि पूर्ण राजमार्ग अवधायी रूप से ज्ञान के पर्वत द्वारा केवल विच्छेदित प्रतीत होता है।

बूँकि ज्ञान अनुभव का समीक्षा एक अवस्था स्थिति के बीच ही ही स्पष्ट होती है, इसलिए ज्ञान तत्त्व का बोध किसी प्रागनुभवी परिभाषा द्वारा लक्षित नहीं किया जा सकता है। यह केवल विश्वास में ही एक ऐसी वाक्य के रूप में अनुभूत होता है जो अपनी सीमा के कारण अक्षम का संकेत करता है। इस असोम में काल व देश के माध्यम में परिकल्पित सम्पूर्ण वेष्टावर्ग का अन्त हो जाता है। ज्ञान विन्तन प्रणाली एक ऐसी अनुभव के विश्लेषण के द्वारा है, जिसका व्यापार सार्वत्रिक है। यह माध्यमिक दार्शनिकों की व्यवस्था के समान दार्शनिकों का अभिगम नहीं है। माध्यमिकों का तत्त्व केवल उस उत्तीन्द्रिय स्थिति का संकेत मात्र है, जो तार्किक स्तर की व्यापार-रिक्तता का वाक्य है, क्योंकि दृष्टियों में व्यापार उपलब्ध है, व्यापार-मुक्तता के रूप में ही तत्त्व परिलक्षित है। अधिरौप का सिद्धान्त स्वयं कोई दृष्टि नहीं है, अस्तित्व इसके ज्ञेय होने का कोई प्रश्न नहीं उत्पन्न है। माध्यमिकों की स्पष्ट ज्ञेयवाची व्यवस्था उनके इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि जो ज्ञेय रूप में स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाता है, वह विरोध से परिपूर्ण होता है। इसलिए जो ज्ञात व्यापारों नहीं है, उसे ज्ञेय जाना ही चाहिए। वास्तव्य दार्शनिक जेडले की भाँति माध्यमिक अपने दार्शनिक विन्तन को अधिरौप के रूप में ज्ञान की विरपेक्षा कक्षाटी से प्रारंभ करते हैं तथा इसी समाप्ति इस सीख के साथ करते हैं कि कोई भी ज्ञेय वस्तु उस कक्षाटी पर उड़ी नहीं उतरती है। जेडले के इस प्रकार के कथनों का अर्थ यह नहीं है कि ज्ञत ज्ञेय है, किन्तु वह बार-बार या कहते हैं कि स्तर में 'किसी प्रकार' व्यापारों का समन ही जाता है। यह केवल एक ऐसी कक्षाटी का बोध है जिसके साथ किसी भी ज्ञात ज्ञेय ज्ञेय वस्तु का तादात्म्य नहीं किया जा सकता है। इसी कारण से माध्यमिक विचारक तथा जेडले समान रूप से ईश्वर, जात्वा तथा इस प्रकार की किसी भी सत्ता के साथ विधिरौपी सत्ता का तादात्म्य स्थापित करने में प्रतिरोध करते हैं। जो कुछ भी ज्ञेय है, उसे अनिवार्य रूप से एक विषयी का विषय ही जाना चाहिए। परन्तु जो कुछ भी इस विषयी विषय के स्वरूप का है वह अवश्य ही विरोधरहित है। तार्किक अभिगम का अन्त सदैव ज्ञेयवाद में ही होता है। ज्ञान के विमर्शात्मक स्तर का सदैव ज्ञेयवाद के लिए केवल एक प्रस्तावना है। जो कुछ भी ज्ञेय है,

यह विरोध से युक्त है इसलिए जो विरोध से रहित है उसे वही ही माना जाय। यह वाही माध्यमिका का तत्त्व ही या ब्रैडले का परम, वॉन ही रिड' एवं शून्य तत्त्व है, निस्तेज है तथा एक सारामूलक स्थिति के रूप में विचारित चेतना से परे है। ठीक यही बात दार्शनिक कान्ट के साथ वरिष्ठार्थ होती है, जिनके अनुसार प्रज्ञा के आवर्त इस रूप में सिद्ध व प्रमाणित किये जाते हैं कि वे सर्वत्र ज्ञान की पहुँच से परे हैं। वे विचारणीय रूप से अज्ञेय हैं। इस प्रकार चेतना की हकारों के रूप में आत्म-विचारित वस्तु जन्त में अन्य तार्किक सिद्धान्तों की भाँति एक उचित तार्किक सिद्धान्त के रूप में धर्मित हो जाती है; क्योंकि कान्ट चेतना की शक्ती को एक तार्किक सिद्धान्त के रूप में ही स्वीकार करते हैं। यह ज्ञेय नहीं है। कान्ट के अनुसार ज्ञेयता एक वस्तु-विषय के रूप में ही ग्राह्य है, जो एक संश्लेषणात्मक प्रागनुभवी निणय के स्वरूप में सदा के सन्दर्भ में ही कर्णीय तथा अभिव्यक्त हो सकती है। चेतना की शक्ती समस्त अनुभवी का एक प्रागनुभवी आधार एवं पूर्वमात्रा है। क्योंकि वैश्वालिक ढाँचे में विस्तृत होने की असमर्थता से इसमें प्रत्यक्ष-प्रतीतिक स्वरूप का अभाव है, इसलिए इसके बारे में किसी भी प्रकार का संश्लेषणात्मक प्रागनुभवी निणय निर्मित नहीं किया जा सकता है। ब्रैडले के 'परम तत्त्व' की स्थिति इससे ऊँची नहीं है और माध्यमिका के तत्त्व की भी यही स्थिति है।

अपने विग्रहव्याचरणी में माध्यमिक विचारक नागाजुन कहते हैं कि--  
दृष्टियों की शून्यता से सम्बन्धित उनके कथन एक दृष्टि होने के समान नहीं है, क्योंकि दृष्टिशून्यता कोई एक दृष्टि नहीं है। इस प्रकार की दृष्टिशून्यता का दावा करने में नागाजुन यह नहीं प्रवर्तित करते कि अन्य सिद्धान्तों के समर्थन द्वारा वे एक अतिरिक्त तत्त्व-दार्शनिक सिद्धान्त को प्रस्तुत कर रहे हैं। उनके चतुष्कोटियों के अन्तर्गत समस्त सिद्धान्त विराहित हो जाते हैं और इसलिए

१, विग्रहव्याचरणी, कारिका ६३ से ६६ तक ( नवमालम्ब महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, १) पृ० ३६ से ४० तक ।

उनकी शून्यता से सम्बन्धित कथन स्वयं एक पांखी कीटि नहीं है । यदि निर्मीकतापूर्वक एक पांखी कीटि का पुष्ट वाचा किया जाता है तब यह कीटि भी व्याघात से परिपूर्ण होगी और यदि ऐसा है तो निर्वाण की धारणा भी निरर्थक हो जायेगी । यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि निर्वाण केवल दृष्टिशून्यता है । केवल ज्ञानात्मक रिक्तता या शून्यता की पद्धति द्वारा निर्वाण के आवर्त लक्ष्य की लीज सार्थक नहीं हो सकती है । दृष्टियाँ अपनी प्रकृति में प्रतिबद्ध या सापेक्ष होती हैं । प्रतिबद्ध अथवा सापेक्षता का निर्धार, किसी को भी अप्रतिबद्ध अथवा निरपेक्षता की ओर नहीं ले जा सकता है । परन्तु निश्चय द्वारा कोई भी दुतरफा व्यापार सम्भव नहीं है । स्वीकृति आत्मव्याघाती है किन्तु अवधीकारात्मक विधि का गृहण करके भी हम केवल असफलता का ही स्वीकार करते हैं; क्योंकि इससे द्वारा हम एक ऐसे लक्ष्य की ओर प्रगति नहीं करते हैं, जिसमें सम्पूर्ण विरोध समाप्त हो जाते हैं । इससे यह प्रमाणित होता है कि अवस्थाधी स्थिति से बाहर निकलने का रास्ता तर्क द्वारा संभव नहीं है । माध्यमिक वर्तन की प्रारम्भिक प्रतिज्ञा से ही ज्ञात है कि उसका उच्च मार्ग प्रासंगिक है । यह ज्ञेय दृष्टिकोणों की एक परीक्षा से प्रारम्भ होता है तथा चार प्रकार के दृष्टिकोणों के एक सुस्पष्ट तथा सुदृढ़ वर्गीकरण को प्रतिपादित करने में अग्रसर होता है और किसी भी दृष्टिकोण का न गृहण करने की एक दलील व तर्क में समाप्त हो जाता है । प्रश्न यह है कि दृष्टिकोणों के परिष्करण द्वारा शून्यता को प्रज्ञा के साथ कैसे तादात्म्य किया जा सकता है । यह कहना उचित हो सकता है कि प्रज्ञा में कोई दृष्टि नहीं है क्योंकि यह समस्त दृष्टियाँ से रहित है, शून्य है परन्तु यह कहना पूर्णतया एक भिन्न बात है कि दृष्टियाँ से वस्तुत्व को रिक्त करके कोई भी व्यक्त दृष्टियाँ के स्थान पर अमर प्रज्ञा की वाशा कर सकता है । प्रज्ञा जिसका तत्त्व से तादात्म्य माना जाये उसका कोई गन्तव्य नहीं हो सकता है । एक तार्किक आवर्त के रूप में जो इसे मान्यता दी जा सकती है । यदि यह एक प्राप्य स्थिति के रूप में घटित हो जायेगी तो यह भी एक दृष्टि बन जायेगी, जिसके कारण यह भी शून्यताग्रस्त हो जायेगी । इस प्रकार का तत्त्व अपने अज्ञानिय स्वरूप से शून्य है । इसके लिए इस तक पहुँचने के सभी रास्ते अवरोध हो जाते हैं । अतः शून्यवाच एक ऐसा मत बन जाता है जिसका

लक्ष्य एक दृष्टि के मुठ्ठल दावे का मिश्रण करना है, क्योंकि सभी दृष्टियाँ असंगत एवं परस्पर-विरोधी हैं। इस दर्शन में आत्मव्याघात का तात्पर्य मिथ्यात्व नहीं है, इसका तात्पर्य केवल आत्म-विरोधी या स्वसामंजस्य का अभाव है। माध्यमिक दर्शन में इस कमी की पूर्ति असाध्य नहीं है। इसलिए हम माध्यमिक दर्शन को परम्परा की वरम रिधति के रूप में स्वीकार करने में असमर्थ हैं। इसमें सचामूलक आधार का अभाव है। जब इस परम की उपलब्धि के समस्त मार्ग अवलोक्य हो जाते हैं तब हमारे समक्ष यह कठिन का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है कि निरपेक्ष निर्विरोध एवं व्याघात-मुक्त है। इसी कारण बसुबन्धु तथा अरुण का विज्ञानवाद अपनी परम्परा में अधिक स्वीकारात्मक है। विशुद्ध चित् का परम से तादात्म्य एक स्वीकारात्मक रिधति है। यह विज्ञप्ति स्वरूप है जिसके कारण इसमें सभी धर्मा का नैरात्म्य लक्षित है। फलतः धर्मता का प्रतिपादन परिकल्पित कौटि की सदा के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। विज्ञान की आत्मवर्धिमूलता अथवा अपने आप से बाहर विज्ञान का आत्म-प्रक्षोभण ही उस वस्तुनिष्ठता का उत्पाकक है, जिसे परिकल्पित एवं अवास्तविक घोषित किया गया है। वस्तुनिष्ठता असत्य है, केवल आत्म-निष्ठता ही सत्य है।

विज्ञानवाद में हम एक ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त पाते हैं जिसे निम्न-लिखित दो कारणों से स्वीकार किया जा सकता है -- (१) ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त माध्यमिक के चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व को एक सचामूलक सामग्री प्रदान करता है। (२) ऐसा ज्ञात होता है कि यह आत्मा के अद्वैतवादी दृष्टिकोण के लिए, जो "विशुद्ध चेतना" है, मार्ग प्रशस्त करता है। इस सम्बन्ध में हम डा० चन्द्रधर शर्मा के विचारों से अपने मत की पुष्टि पाते हैं<sup>१</sup>। ये अद्वैतवादी ब्रह्म तथा विज्ञानवादियों की विज्ञप्ति के समर्थ

१. डा० चन्द्रधर शर्मा, बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृ० २८३ :

"विज्ञानवाद और वेदान्त दोनों परम तत्त्व को विशुद्धनित्यविज्ञानस्वरूप मानते हैं जो दार्शनिक प्रपंच का आधार है और जो व्यावहारिक ज्ञाता ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी से परे है।"

स्वरूप को सुवृद्धतापूर्वक स्वीकार करते हैं। इसलिए बिना किसी सम्बन्ध के हम पुनः अपने हृद्य केन्द्रीयत विषय पर पहुँच जाते हैं कि वार्षिक साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों की मिन्नता के बावजूद भी हमारे भारतीय दर्शन की एक सार्वनात्मक एकता में एक साथ रखा जा सकता है। हमारे सम्पूर्ण मत सापेक्षता से परिपूर्ण हैं। तत्त्व न तो विषयवत् सत्ता ही है और न अभिलाष्य ही है, और न तो यह ऐसा विषयी ही है जो योगागार के योग-भाव-समाधि में विषय से वियोजित प्राप्त कृतज्ञाया गया है। यह आत्मस्वरूप है जिसमें वस्तुनिष्ठता तथा आत्मनिष्ठता दोनों का अतिक्रमण पाया जाता है। यह स्वप्रकाश ज्ञान है, जो न तो हमारी गृहीत मान्यताओं व सम्मतियों द्वारा ज्ञान से योग्य है और न तो समस्त अनुभव की सीमा से परे है।

अब तक हम विशेष रूप से एक निष्ठावात्मक चिन्तन में व्यस्त थे, जिसके द्वारा हमने यह दिखाया कि--(१) भारतीय दर्शन की आत्मवादी तथा अनात्मवादी परम्पराओं में क्या भेद हैं और (२) शंकर के अज्ञेयैवान्त में तथा बौद्धों के माध्यमिक एवं विज्ञानवादी दर्शनों में सत्य के सिद्धान्त के प्रतिपादन में क्या भेद हैं। अब हम इस तथ्य को कतलायी कि विभिन्नता चाहे वार्षिक परम्परा की हो अथवा वार्षिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की, भारतीय वार्षिक विचार उन विभिन्नताओं के बावजूद भी एक व्यापक रेख्य से युक्त है। यह एकता ही भारतीय दर्शन का आध्यात्मिक स्वरूप है अर्थात् सांसारिक दुःख एवं बन्धन के परे पारमार्थिक स्थिति की अनुमति है।

आत्मवादी परम्परा में यह स्थिति मौजूद कहलाती है जिसे अज्ञेय दर्शन उद्धृत करता है तथा बौद्धों द्वारा उद्धृत अनात्मवादी दर्शन परम्परा में यह निर्वाण कहलाती है। व्यवहार तथा परमार्थ, संवृति तथा परिनिष्पन्नता अथवा परिकल्पित तथा लोकोत्तर सत्त्यों का भेद ही इन दर्शनों की हृद्य अभिरुचि को लक्षित करता है। यह अभिरुचि एक आध्यात्मिक अभिरुचि है जिसमें

यह विश्वास किया जाता है कि सांसारिक क्लेशों एवं विपत्तियों का ज्ञान हो जावेगा । अतः माध्यमिक तथा विज्ञानवादी--इन तीनों विचारधाराओं में वस्तुनिष्ठ सत्ताओं की अनुपलब्धता की सिद्धि भी किया गया है । द्रव्यन्याय विचार की यह शैली मात्र है जो वस्तुनिष्ठता की अपर्याप्तता एवं अग्राह्यता को प्रदर्शित करती है । सत् एवं आभास के भेद-स्पष्टीकरण के साथ ही द्रव्य-न्याय का आविर्भाव होता है । द्रव्यन्याय एक ऐसी विद्वत् तत्त्ववादीनिक क्रिया है जो आभासों के उस जाल को काटती है जिससे सत् आवृत्त होकर अप्राप्य प्रतीत होता है । हमारी दृष्टि से जो सत्ता को वाकाल कहकर रखता है, वह इन निरपेक्षवादी दर्शनों के अनुसार अज्ञान या अविद्या है । अज्ञान अथवा अविद्या सत्ता का मिथ्या है । इसके दो कार्य हैं जो आवरण और विक्षोभ कहलाते हैं । बाँद दर्शन उन्होंने को 'आवरण' एवं 'असत्स्थापन' कहते हैं । अतः सत्ता का आवरण तथा असत् के विक्षोभ विचारणीय विषय हैं । यदि आवरण के लिए कुछ भी सत् रूप में नहीं है, तब यह कहना अर्थशून्य हो जाता है कि कोई 'द्रव्य आभासित' हो रहा है । शून्यता सर्ववैनाशिकता नहीं है, यह निर्वाण है । इस तथ्य को घोषित करने व प्रतिपादित करने में माध्यमिक बाँद शून्यता का अतीन्द्रिय सत्ता से तादात्म्य स्थापित करते हैं । परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि यह किस मार्ग अथवा विधि के अनुसरण से अप्रतिबद्ध एवं अतीन्द्रिय सत्ता तक पहुँचना संभव बतलाते हैं ।

उनका यह अभिप्राय सभी दृष्टियों की अवलोकित में लक्षित है, क्योंकि समस्त दृष्टियों विरोधी से परिपूर्ण है । दृष्टियों की जालोंका अथवा दृष्टि स्व-वेत्ता हो प्रज्ञा है और यही प्रज्ञा निर्वाण है । परन्तु दृष्टियों का प्रज्ञाण क्या विवक्षित है ? इसलिए कि ये आत्मव्याघाती हैं । यदि ऐसा ही है तो इसका तात्पर्य यह है कि तत्त्व विरोध ही है अथवा तत्त्व का स्वरूप विरोध से मुक्ति में ही निहित है । इसी को अन्य शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि असत्य विरोधपूर्ण एवं असंगत है तथा सत्य

विरोधरहित एवं सुसंगत है। यह स्थिति सत्यता एवं असत्यता दोनों का विशुद्ध रूप से एक तार्किक विवेक है। परन्तु यदि सत्य ही तत्त्व है, तब तत्त्व सुसंगत एवं विरोधरहित स्थिति का धोतक होने के नाते विचार-विमर्श की कौटि में वा गिरावा और जिस पाल से निकलने के हेतु माध्यमिका ने चतुष्टकोटि न्याय का निर्माण किया था, वै उसी पाल में उसी प्रकार से फंस जायेगी, जिस प्रकार उन्होंने दूसरों को प्रस्तुत सिद्ध किया था। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रज्ञा का एक स्व-संगत तथा आत्म-विरोधी स्थिति के रूप में नहीं समझा जा सकता है। इसे पाश्चात्य वार्षनिक हीगल के परम की भाँति एक स्व-संगत समष्टि के रूप में भी नहीं समझा जा सकता है। हीगल का परम एक सुसंगत एवं सामंजस्यपूर्ण समष्टि के रूप में निर्विवाद रूप से इसलिए ग्राह्य है कि उसकी सत्ता बौद्धिक है। चतुष्टकोटिविनिर्मुक्त होने के कारण माध्यमिक विचारकों का तत्त्व विरोध अथवा सामंजस्यता की कौटियाँ के बाहर है। परन्तु यदि तत्त्व केवल विरोधमुक्त एवं असंगत दृष्टियों का स्व-संगत अभिव्यक्ति है, तब तो यह मानना पड़ेगा कि माध्यमिक वार्षनिक सत् की एक प्रागनुमयी परिभाषा को लेकर चलते हैं और इस स्थिति में उनके तत्त्व की धारणा उन सब आक्षेपों का पात्र बन जावेगी, जिन्हें कान्ट ने बुद्धिवादी वार्षनिकों के मुख्य सम्बन्धी प्रागनुमयी परिभाषा के लण्डनार्थ प्रस्तुत किया था। यदि माध्यमिकों की तत्त्व-समीक्षा भी एक प्रागनुमयी परिभाषा से युक्त है तो यह भी एक दृष्टि मात्र ही होगी। परन्तु माध्यमिकों की वार्षनिक प्रस्तावना में सभी दृष्टियों का परित्याग विवक्षित है, यहाँ तक कि वे अपने स्वयं के वर्तन का भी परित्याग कर सकते हैं, यदि वह किसी दृष्टि का समर्थन करता है। यह कहना कि तत्त्व एक सामंजस्यपूर्ण सुसंगत समष्टि है, एक दृष्टि को स्वीकार करने का धोतक होगा किन्तु तत्त्व तो अतितात्किक तथा अतिबौद्धिक है। माध्यमिकों का वार्षनिक अभिमत पूर्णतया तार्किक होने के कारण विरोधों से युक्त ही जाता है। ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष एक न्यायसंगत निष्कर्ष यही जैव रह जाता है कि माध्यमिक वर्तन विरोधों में फंस जाने के कारण एक प्रकार के अज्ञेयवाद का पोषक है। सौण की बौद्धिक प्रक्रिया ने विचारों के अपर्याप्तता की इस चेतना



को निर्मित किया है कि अप्रतिबद्ध को जानना आवश्यक रूप से अज्ञेयवाद में फँसना है। इसका तात्पर्य यह है कि विचार केवल एक निष्पक्षैवात्मक कार्य का ही परिचालन करता है अर्थात् यह उन सब रास्तों को विघटित करता है, जो अप्रतिबद्ध की विज्ञा में अमिश्रित हैं। यह विवशता उनके उस द्रव्यन्याय का ही परिणाम है जो उनके दार्शनिक लक्ष्य की सर्वाधिक प्रणाली है। माध्यमिक चिन्तक, दर्शन का आलोचना के साथ तथा आलोचना का द्रव्यन्याय के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। ऐसा ही कान्ट ने भी किया था। उन्होंने सीधे-सीधे उस तथ्य को स्वीकार किया कि अप्रतिबद्ध की ओर का तार्किक मार्ग विवर्धित होता है और ज्ञान उसे छुधार नहीं सकता, क्योंकि वह ज्ञान की सीमा के बाहर है। किन्तु इतने पर भी माध्यमिक दर्शन सर्व-वैज्ञानिक नहीं है। उनका तत्त्व रचयं ही निर्वाण है और वे कभी भी एक सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में निर्वाण के विचार का निषेध नहीं करते हैं क्योंकि वे इसे अनुभवगम्य बतलाते हैं। अतः उनका चिन्तन भारतीय विचार-चिन्तन के क्षेत्र से बाहर नहीं है। समस्त भारतीय दर्शन मोक्ष-शास्त्र है, अतः निर्वाण को लक्ष्य बनाने के कारण माध्यमिक बौद्ध दर्शन भी मोक्षशास्त्र है। सर्वोच्च दार्शनिक पद्धति के रूप में 'प्रासंगिक विधि' को अपनाना ही उनका दाय्य है।

अपने चिन्तन को वृष्टियों की एक द्रव्यन्यायात्मक आलोचना से आरंभ करने के स्थान पर यदि उन्होंने अपने चिन्तन का प्रारम्भ प्रान्तपूर्ण अनुभव के विश्लेषण से किया होता तो यह अधिक उपयुक्त होता। कहने का तात्पर्य है कि उन्हें अपने दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ मूल की समीक्षा से करना चाहिए था। विज्ञानवादियों तथा अज्ञेयवादी विचारकों ने ऐसा ही किया है।

अद्वैतवादियों का भ्रम से साक्षात्कार ही उन्हें यह विश्वास थिलाता है कि विकल्प वृत्ति असत् है, मिथ्या है और सत्य को इससे बाहर अन्यत्र ही पाया जा सकता है। अब प्रश्न उठता है कि कहाँ ? एक ऐसे अनुभव में जो केवल प्रतीति-सिद्ध नहीं है। जो एकमात्र प्रतीति का विषय है, वह ज्ञान का विषय नहीं है और वह सत् नहीं हो सकता, क्योंकि रज्जु-सर्प के दृष्टान्त में रज्जु की भाँति इसकी एक वस्तुतंत्र सत्ता होना चाहिये। प्रान्तिपूर्ण धारणाओं का अधिष्ठान क्या है, इसका अधिष्ठान तो केवल वही हो सकता है, जो स्वयंसिद्ध एवं वस्तुतंत्र सत्ता से युक्त हो। इसके बारे में कौन बतावेगा ? मैं या मुन्नावा कोई इसके विषय में कुछ नहीं कह सकता है, नित्य, अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत सत्य की बतलाने वाले ब्रह्म ही इसके विषय में कुछ कह सकते हैं। ये ब्रह्म ही ह्रुति हैं, वृत्ति ये अपारिण्य है, इसलिए ये अविश्वास ज्यवा सम्बन्ध के परे हैं। श्रुति-सम्मत होने के कारण ही अद्वैत वेदान्त किसी भी प्रकार की अज्ञेयवादी धारणा से ग्रसित नहीं होता है। कुछ इसी प्रकार से योगान्तर वादीनिकों की योग-समाधि उनकी अज्ञेयवाद से सुरक्षित रहती है। किन्तु योगान्तर-विचारकों की योगसमाधि की प्रामाणिकता अद्वैत वेदान्त से किस प्रकार भिन्न है ? हमारे अनुसार यह विशिष्टता केवल भिन्नता केवल मायिक ही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अन्तिम विश्लेषण में इन वादीनिकों का प्रमाण भी बुद्ध-ब्रह्मों में निहित है। यही बात माध्यमिकों के बारे में भी कही जा सकती है। यदि ऐसा है तो यह कल्पना अनुपयुक्त न होगी कि माध्यमिक भी केवल एक विशुद्ध तार्किक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते हैं। न तो ऐसा ही है कि योगान्तर अपने समाधि में निर्भिष्ट अनुभूति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। वेदान्तियों की भाँति वे भी अपनी धारणा को किसी-न-किसी ह्रुति पर ही आधारित करते हैं। अन्तर केवल हतना ही है कि उनकी ह्रुति पौरुषेय है,

- 
१. डा० आर०के० त्रिपाठी, प्रो० ब्रह्म बाबा फ़िलासफी एण्ड रिलिजन, पृ० १४५ & १४६ तक, जहाँ ह्रुति के अपारिण्य एवं निर्भिष्ट होने की वृत्ति सुन्दर व्याख्या की गयी है।

क्योंकि यह बुद्ध-चर्या द्वारा निर्मित है। इसीलिए इस प्रकार की धृति विषादयुक्त हो सकती है। व्यक्ति तो व्यक्ति ही है, चाहे उन्हें बुद्ध के रूप में लिया जाय या किसी अन्य के रूप में। अतः वह धृति, जो उनके चर्या में व्यक्त होती है एक ऐतिहासिक रूप की धृति है, अर्थात् ऐसी धृति है जिसका प्रारम्भ समयाधीन है और इसीलिए किसी-न-किसी समय में उसका अन्त भी हो सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ऐतिहासिक धृति की मान्यता समयोत्तरात अनिवार्यता से युक्त नहीं है। ऐतिहासिक धृति-प्रमाण का अन्त उसने उस सण्डन के रूप में सामने आता है, जो किसी समय से प्रारम्भ होकर किसी अन्य ऐतिहासिक धृति से बांझित हो जाती है। इस आपत्ति के निवारणार्थ बौद्धों ने बुद्ध को एक व्यक्ति के रूप में न मान कर उनका एक सिद्धान्त के रूप में माना है, अर्थात् ऐतिहासिक बुद्ध को एक समयोत्तरात सत्य के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है।

अब प्रश्न यह है कि हमारी इस समीक्षा का निष्कर्ष क्या है ? द्वादशस्कन्ध व्यास के सम्बन्ध में, जो हमारे ज्ञान-प्रबन्ध का विषयित विषय है, हमें यही कथना है कि द्वादशस्कन्ध व्यास बौद्ध दर्शन एवं वेदान्त दोनों में ही मिथ्यात्व के स्वरूप को दर्शाने की चेष्टा करता है। जो विशुद्ध रूप से केवल द्वादशस्कन्ध तक शैली को लेकर चलता है, उसको दुर्बलता एकमात्र इसी में है कि वह सभी दृष्टियों का सण्डन करने के बाद अपने को तत्त्व का ज्ञान कराने में निरान्त हो असमर्थ पाता है। सत्य एवं मिथ्यात्व दोनों, यदि कथनों के विश्लेषण न माने जायें वरन् अनुभव की स्थितियाँ मानी जायें तो द्वादशस्कन्ध अपने आपका एक शहायक बना कर उचित कार्य करेगा। इसीलिए अनुभव के विश्लेषण में वैदिकवादी विचारकों का प्रारम्भिक बिन्दु सदा के वास्तविक

रूप में प्रस्तुत करने का एक अधिक विस्तृत एवं बोधगम्य रास्ता है । दर्शन की दृष्टिकोणों व कथनों की एक मीमांसा के रूप में न स्वीकार करके, यदि अनुभव की एक मीमांसा के रूप में गुहण किया जाय तो यह एक अच्छा परिणाम प्रदान करेगा । माध्यमिक दर्शन तथा जड़त दर्शन के बीच इन विभिन्नताओं के होते हुए भी द्रन्धन्याय वाध्यात्मिक प्रवृत्ति से रिक्त नहीं है, यह वाध्यात्मिक प्रवृत्ति ही पूर्णता की खोज है । यह अप्रतिबद्ध की खोज है, जो भारतीय विचार-दर्शन को नैराश्य में जाने से बचाती है । भारतीय वार्शनिक-चिन्तन की रूपरेखा में एक आधारभूत संरचनात्मक एकता निहित है । जड़त विचार-परंतु की वीजमंत्र के रूप में गुहण करके अन्य दर्शनों की भी उनके विवक्षित तथ्यों पर सहज रूप में स्थापित किया जा सकता है । अप्रतिबद्ध की प्राप्ति जल्दा अनुमति वाहे इसे ब्रह्म कहें या विशिष्ट जल्दा तत्त्व कहें, एक ही अन्तिम लक्ष्य को और अभिमुख होने वाले तथा विशेषात्मक पद्धतियों को महत्त्व देनेवाले सभी वार्शनिक सम्प्रदाय इस रूप में वर्णित किये जा सकते हैं कि सब अमेव, अविषय और अविषाद के लिए ही तर्क एवं षलील प्रस्तुत करते हैं । जड़तवादी विचारक मेव के अतिक्रमण पर बल देते हैं, विज्ञानवादी विचारक वस्तुनिष्ठता के निषेध या अतिक्रमण पर बल देते हैं तथा माध्यमिक विचारक विषादगुस्त दृष्टिकोणों के निषेध व अतिक्रमण को ही प्रांक्षीय बताते हैं । निःसन्देह ही द्रन्धन्याय का प्रयोग उपरोक्त तीन भारतीय वार्शनिक सम्प्रदाय द्वारा किया गया है, किन्तु जिस रूप में माध्यमिकों ने किया है, उस रूप में किसी ने भी नहीं किया है । इन सब में एक वस्तु समान है--सभी एक अतीन्द्रियात्मक वा प्रतिज्ञावर सत् को प्रस्तुत करते हैं तथा उसे मान्यता देना चाहते हैं और इस कार्य को दृष्टिकोण के एक जड़तवादी प्रतिपादन में समाप्त भी नहीं करना चाहते हैं अर्थात् सभी दर्शनों का लक्ष्य, अतीन्द्रिय सत्ता की जड़तवादी दृष्टिकोण से बचाना ही है । परन्तु कैसे ? कुछ ध्वन, माध्यमिक तथा अन्य वाद विचारकों की रक्षा करते हैं, जबकि जड़त-वैदान्त की रक्षा छुट्टि करती है । इस प्रकार जब हम अपने पूर्ण प्रश्न पर विचार करते हुए यह देखें कि कौन

दर्शन किसी अपने में सहस्रविध सम्मिलित करता है --बौद्ध दर्शन शंकर के दर्शन के-दर्शन को अथवा शंकर-दर्शन बौद्ध दर्शन को । उनमें से कौन अधिक व्यापक दर्शन है ? प्रामाणिक रूप से ज्ञात दर्शन ही व्यापक है,इसका कारण उपरोक्त धर्मांत है । अतः यह कहने का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता है कि शंकर 'पुण्यन्म बौद्ध है',किन्तु यह कल्पना भी एक वैज्ञानिक पिष्टौघि प्रतीत होती है कि 'मागार्जुन एक पुण्यन्म ज्ञान-विचारक है' । ये कथन दर्शन की व्यापकता को अपेक्षा विरोध के धातक है ।

यहां हमारा अभिप्राय तार्किक विचारों को प्रतियोगिता को प्रदर्शित करना नहीं है, यहां हम केवल शंकर द्वारा की गयी बौद्ध दर्शन की द्रष्टव्यता द्वान्द्व्यायात्मक समीक्षा के सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष की व्याय-व्यवस्थितता को ही ध्याना वास्तव है । हमारे दृष्टिकोण से बौद्धों के विचारों के तार्किक सण्डन में शंकर का अभिप्राय उनकी दृष्टिस्थान्यता को या सामान्यरूप से किसी भी तार्किक दृष्टि की विप्रतिषेधता को बतलाना न था । ऐसा तो तभी हो सकता था जबकि वैज्ञानिक विचारक भी एक ही प्रकार के तत्त्व-दर्शन वर्धात् केवल बुद्धि-निर्मित चिन्तनात्मक तत्त्वदर्शन को ही स्वीकार करते । ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्ववार्शनिक दृष्टियों की बालाचना करते हुए माध्यमिक विचारक पूर्ण रूप से इस मान्यता से युक्त हैं कि सभी तत्त्व-वार्शनिक व्यवस्थाएं केवल बौद्धिक और चिन्तनात्मक हैं । इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के तत्त्व-दर्शन भी हो सकते हैं,परन्तु यहां हम इस समस्या का छल करना व प्रस्तुत करना अनावश्यक है । यहां हम केवल यही कह सकते हैं कि इस सम्बन्धी अज्ञेय सिद्धान्त चिन्तनात्मक तत्त्व-दर्शन की एक व्यवस्था नहीं है । यह बुद्धि-निर्मित नहीं है क्योंकि शंकर ने जब तर्क को अप्रतिष्ठित बताया,तब उनका ऐसा कहने का प्रयोजन मात्र यही था कि बुद्धि में वह रचनात्मक शक्ति नहीं है कि वह तत्त्व-सिद्धान्तों का निर्माण करे । तत्त्व प्रतिनिधि है,अतः अतीन्द्रिय है । फलतः वह किसी प्रकार की वैचारिक रचना नहीं हो सकती है । इस प्रतिनिधि अप्रतिबद्ध तत्त्व का ज्ञान तो श्रुति का ही प्रसार हो सकता है । केवल श्रुति ही

उसी विषय में क्लेश सञ्जाती है, परन्तु धृति-बलन सबके लिए कर्तव्य नहीं हो सकते हैं। केवल वही उसके लक्ष्य को समझ सकता है, जिसने गोबर के मिथ्यात्व को जान लिया है। जिसने स्वयं के प्रातिमासिक रूप को नहीं जाना है, उसे रज्जु के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा ही हो नहीं सकती है। जल के मिथ्यात्व का स्वाद पाने वाला ही जल का जिज्ञासु हो सकता है। मृत्तिकावर तत्व को जानने का जिज्ञासा की स्थिति में ही धृति-बलन कर्तव्य हो सकते हैं। विषय-गुस्त वृत्तियाँ से प्रेरित व्यक्तियों के लिए धृति-बलन और साधारण कथनों में कोई अन्तर नहीं है। धृति महावाक्यों की भाषा एक उस प्रकार के वीर के रूप में है जिसे सब नहीं बाँट सकते हैं। इसी लक्ष्य को वास्तविक समस्याओं की उत्कर्षों को भिन्नाने के मार्ग का भी निर्देश मिलता है। तत्त्व-दर्शन के प्रतिष्ठापी ने भाषा-विश्लेषण के स्तर पर तत्त्व-विस्तार को सर्वत्र वर्णित प्रोक्षित किया है। वे तत्त्व-सिद्धान्तों की निरर्थकता को सिद्ध करते हैं। यही उचित भी प्रोक्त होता है कि उनका इस प्रकार का जगह अगम्य नहीं है। वास्तव में यदि तत्त्व-दर्शन केवल बुद्धि की उपज है तो ऐसी उपज के विरुद्ध अनेकानेक अनुपपत्तियाँ सही की जा सकती हैं। बुद्धि द्वारा निर्मित एक तत्त्व-सिद्धान्त दूसरे बुद्धि-निर्मित तत्त्व-सिद्धान्त से जापित हो सकता है। इसी कठिनाई को ध्यान में रखते हुए समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक रद्दोशन विचारणात्मक तत्त्व-सोमार्थों की रूपरेखा को अपनी पुस्तक 'इंडिपेंडेंस' में प्रस्तावित करते हैं। इस प्रकार के तत्त्व-विस्तार का अभीष्ट केवल विचार के उन जाकारों का वर्णन करना है, जिनके माध्यम से हम जागृताई के विषय में सोचते हैं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि तत्त्व-दर्शन की दो कठिनाई हैं--  
 १. जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। परन्तु यदि हम इस विचार को स्वीकार कर लें कि तत्त्व-दर्शन या तो भिन्नतात्मक है या वर्णनात्मक है,

१. सम्पूर्ण, क्लैसिकल ऑफ़ एनालिटिक फ़िलॉसफ़ी, जिसमें स्वर के उन तर्कों को उद्धृत किया गया है जिनके द्वारा वह तत्त्व-दर्शन की निरर्थकता एवं उसके लक्षण को प्रस्तुत करते हैं -- पृ० ११६-२०

२. पी०एफ़० रद्दोशन, इंडिपेंडेंस ( ऐन एन्सी इन डिस्क्रिप्टिव मेटाफ़िज़िक्स) पृ० ६

तब हम पुनः उस संवर में फँस जाते हैं, जिसमें शताब्दियों से बुद्धिवादी व अगुसवादी दार्शनिक फँसे हुए थे। ज्ञान वेदान्त ने धृति की प्रतिष्ठित करते एक तीसरे प्रकार के तत्व-दर्शन की मान्यता प्रदान की, जो बुद्धिवादी एवं अगुसवादी तत्व-दर्शनों के अतिरिक्त है रिक्त है। यह तत्व-दर्शन उस आध्यात्मिक स्फुटि की पुष्टि करता है, जो जगत मिथ्यात्व के राज्य के छुट जाने पर धृति-अनुभूति उस प्रतिगौर तत्व को अपरोक्ष रूप में ला कर प्रकाश कर देता है, जिसे उपनिषद्वादी में कृत ज्ञान कहा है और जो हमारे प्रत्यक्ष आत्मज्ञान स्वयं-जाति स्वरूप है।

### शंकर द्वारा जैन-दर्शन को पालोना

\*\*\*\*\*

यह ग़ोभांति स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों का अभीष्ट एक ही है त्वांति छाँट का खजाना उच्च मोक्ष-प्राप्ति ही है परन्तु फिर भी सभी दर्शनों में आंशिक दृष्टि-भेद निहित है। ज्ञान दार्शनिक शंकर ने सब भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों की समुचित परीक्षा द्वारा उनके आंशिक दृष्टिकोणों को सुश्रुतापूर्वक दिया है। 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' के 'सकस्मिन्संन्याधिकरण' सूत्र में जैन-दर्शन की दृष्टि-लगतता को एक निम्न प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं।

शंकराचार्य जी कहते हैं कि जैन सत्त्व-अभिरुचि द्वारा सत्त्वमंगीन्याय के आधार पर एक ही परमार्थ रूप वस्तु में विरुद्ध धर्मों की स्वीकृति जगत एवं आर्त्तिक है।

जैन दार्शनिक जीव, लीव, वासुव, संवर, निर्वर, जंपन तथा मोक्ष इन सत्त्व परमार्थों की तथा जीव-लीव से ही जीवारितकाय, पुद्गलारितकाय, धर्मांरितकाय, अपर्मांरितकाय और आकाशांरितकाय इन पांच अरितकायों की स्थापना करते हैं।

१. छा० गार० के० त्रिपाठी, प्राबलस आफ फिलारफी एण्ड रैलिन, पृ० ३१
२. वही, पृ० २१-२३
३. यत्तिर श्री गोले बाबा, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवाक संहिता, व०२, पृ० २, अधि० ६ सूत्र ३३, पृ० १२७६-८०।
४. बाबरपति गौरीलाल, भारतीय दर्शन, पृ० ११२, १३, १४, १५ एवं १६। तथा ब्रह्मसूत्र उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० १६१।

ये अपने सप्तमंगोनयनयावर्तित ( किसी दृष्टि से है ), स्यान्नावर्तित ( किसी दृष्टि से नहीं है ), स्यावर्तित व नावर्तित व ( किसी दृष्टिसे है और नहीं भी है ), स्यात् अवर्तव्यः ( किसी दृष्टि से अवर्णनीय है ), स्यावर्तित व वावर्तव्यश्च ( किसी दृष्टि से है और अवर्णनीय है ), स्यान्नावर्तित वावर्तव्यश्च ( किसी दृष्टि से नहीं है और अवर्णनीय है ), स्यावर्तित वावर्तव्यश्च ( किसी दृष्टि से है, और नहीं भी है तथा अवर्णनीय भी है ), के स्याद्वाच्य विद्वान्त का रामो रथानां पर प्रयोग करते हैं तथा अनेक भ्रमात्मक वस्तु की स्थापना करते हैं । संकराचार्य जो इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि प्रकाश और अन्धकार के समान एक ही वस्तु में एक साथ नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व एवं नानात्व तथा सत्पता व असत्पता नहीं रह सकते हैं ।<sup>३</sup> इनका स्याद्वाच्य रथं स्याद्वाच्य के अनुसार ही अप्रमाणित एवं असत्य सिद्ध हो जाता है, यह सिद्धान्त एक विविध पुरुष के अनर्गल प्रलाप के समान है । एवं प्रथम तो सप्तमंगोनयन द्वारा सप्त पदार्थों का ज्ञान भी अनिवारित हो जाता है तथा संक्षेपपूर्ण एवं अप्रमाण्य हो जाता है । जैन विचारकों का यह कहना कि वस्तु अनेकात्मक है अर्थात् हमारा व्यावहारिक ज्ञान अंशिक है, यह निवारित रूप ज्ञान है, अनित्यपूर्ण है क्योंकि इनके अनुसार निवारित वस्तुएं भी अन्तर्धर्मा से युक्त होती हैं और ऐसा होने पर सप्तमंगोनयन का प्रयोग इन पर भी होगा, इस प्रकार ये भी अनिवारित हो ही जायेंगे तथा निवारणार्था और निवारण-फल के विषय में भी अस्तित्व तथा नास्तित्व ही जावेगा । संकर कहते हैं कि इस प्रकार तीर्थंकर में भी उपवेश देने की सामर्थ्य नहीं रह जावेगी, अर्थात् स्याद्वाच्य के अनुसार प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता तथा प्रमिति ही निवारित नहीं होंगे ।

१. छा० बन्धुपर शर्मा, बौद्ध दर्शन और वैद्वान्त, पृ० १८१ ।

२. यतिवर श्री मोलै बाबा, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-रत्नप्रभा-भाष्यानुवावसहित,  
अ०२ पा०२ अधि० ६ सूत्र-३३, पृ० १२८७ ।



पुनः यह कहा जा सकता है कि इस सत्यमनीनय के द्वारा पाँच अस्तित्वार्थों की संख्या के बारे में भी श्रद्धा विकल्प सम्भव हो जाते हैं और परिणामस्वरूप इसकी संख्या में भी न्यूनता तथा अधिव्यक्ति प्राप्त हो जाता है। इन पदार्थों को स्वर्णनीय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपर्युक्त होने पर ये कथित नहीं हो सकते तथा इनका कथित होना और स्वर्णनीय होना विरुद्ध हो जाना है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्याख्याद द्वारा ये पदार्थ निर्धारित व अनिर्धारित दोनों हो जाते हैं तथा इस प्रकार इनका सम्यक् वर्णन व असम्यक् वर्णन दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं। उतना ही नहीं जैन सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष तथा स्वर्ग इत्यादि के विषय में भी अस्तित्व एवं अभाव तथा नित्यता एवं अनित्यता आदि केवल सम्भव ही जावेगी, इसलिये यहाँ भी अनिश्चितता ही दृष्टिगत होती है। शंकर कहते हैं कि जो वस्तु भावम्प है, उदाहा अभाव नहीं हो सकता है, जो नित्य है वह अनित्य नहीं हो सकता है। व्याख्याद द्वारा प्रत्येक वस्तु सम्भवतः सत्, असत् तथा अवकल्य आदि विकल्पाँ से युक्त है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को विरुद्ध धर्मों से युक्त मानना तर्कसंगत नहीं है। शंकर कहते हैं कि परमाणुवाद का निराकरण पठे हो ही चुका है, अतः जैन-वर्णन के अनुसार पुण्डलसंज्ञक अणुओं से संघात की उत्पत्ति को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

जैनी विचारक यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा या जीव एकवैसीय अर्थात् शरीर के अलावा माप वाला होता है। शंकर का कथन है कि जिस प्रकार एक पदार्थ में विरुद्ध धर्मों को स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है, उसी प्रकार यह माम्बता भी असंगत एवं वीचपूर्ण<sup>१</sup> है। क्योंकि एकवैसीय होने से आत्मा परिच्छिन्न व सीमित हो जावेगा और इस प्रकार यह घट पटादि के समान अनित्य हो जावेगा। कर्मबंध से मानव अपने अन्व जन्मों में यदि लक्ष्मी जैसे वृक्ष आकार वाले तथा बीटी जैसे सूक्ष्म शरीर को कारण लेगा

१. एस०के० बैलवलकर, दि ब्रह्मसूत्र भाष्य भावरायण विद्वत् दि कर्मट भाष्य शंकराचार्य, अध्याय २ पाद-२, पृ० ३३ पृ० १२६-३०।

२. एवं आत्मा आत्मस्थीय ॥ यत्किर भी मोले बाबा, सांख्य-माध्य-रत्नप्रभा-भाष्यभाष्य सक्ति, अ०२, पा०२ अधि०६ सूत्र ३४, पृ० १२६१।

तब उन शरीरों के अनुपात में वह अपने आपको व्याप्त नहीं कर पावेगा । मानव जन्म में भी उसके लिए यही समस्या उत्पन्न हो जावेगी, क्योंकि वाय्वावस्था, तरुणावस्था तथा बुढ़ावस्था में मानव-शरीर समान विस्तार वाला नहीं होता है । शंकर का कथन है कि यदि जैन दार्शनिक यह कहें कि अनन्त अवयवों से परिपूर्ण जीव लघु तथा दीर्घ शरीर के अनुसार संकुचित एवं विस्तृत हो जाता है, तब यह भी युक्तिमत् नहीं है क्योंकि ऐसी दशा में हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जीवात्मा के अनन्त अवयव समान दैर्घ्य की ही आवृत्त करते हैं अथवा नहीं, यदि आवृत्त करते हैं तो एक परिच्छिन्न शरीर में अनन्त अवयव कैसे समाहित होगी और यदि आवृत्त नहीं करते तो इसका तात्पर्य यह है कि अनन्त अवयवों से आवृत्त प्रत्येक एक अवयव के प्रवेश के मापवाला हो जाएगा । ऐसा होने से समस्त अवयवों के एकत्रित विस्तार का विचार नहीं किया जा सकेगा और परिणामस्वरूप इनकी कल्पना हमें एक स्थूल शरीर के रूप में न करके सूक्ष्म अणुमात्र रूप में करनी होगी और तब हम यह अनुमान भी नहीं कर सकते कि एक परिच्छिन्न सीमित शरीरमात्र जीव अपने में अनन्त अवयवों को समाहित करेगा ।

पुनः संकराचार्य जी का यह कहना है कि यदि जैन-दार्शनिक अपने पक्ष के समर्थन में यह कहें कि--बड़ा एवं छोटा शरीर प्राप्त करने के लिए जीव के अवयव क्रमशः निकट एवं दूर हो जाते हैं, तबने का तात्पर्य यह है कि जीव के कुछ अवयव कटस्थ व रथायी हैं, किन्तु शेष अवयवों का शरीर के परिमाण के अनुसार वृद्धि एवं ह्रास होता रहता है, इसलिए जीव दैर्घ्य के माप के बराबर हो सकता है, यह भी अतार्किक एवं असंगत युक्ति है, क्योंकि क्रमशः वृद्धि एवं नाश होने से जीव विदारयुक्त हो जावेगी और तब वे अन्य पट, पट वर्मादि के समान

---

१. समान एवं एकस्मिन् अपि जन्मानि कामरयाधिन रथापिरेव दौघः

--यतिवर श्री भोलैबाबा, ब्रजसूत्र, शांकरभाष्य, पृ० १२४२

वस्तुता को प्राप्त हो जावेगा तथा जीव अपने जाने-जाने वाले अवस्थाओं के कारण स्वयं ही जगम और जगम के गुणों से युक्त होकर आत्मा तत्त्व हो जावेगा; इस प्रकार हम कूटस्थ या स्थिर आत्मा का निरूपण नहीं कर सके। अतः जैन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का, कि कर्मा के बन्धन से जीव संसार में निमग्न रहता है और बन्धनमुक्त होने पर वह मोक्ष प्राप्त करके ऊर्ध्वगामी हो जाता है, वाय हो जावेगा। जीव की वृद्धि के समय उसके अवस्थाओं का प्रावृत्ति तथा जीव के ह्रास के समय अवस्थाओं का विलीन होना जिस प्रकार संभव है, वह भी स्पष्ट नहीं होता क्योंकि आत्मा असीमित तत्त्व है इसलिए इसलिए इसे भूततत्त्वों से उत्पन्न तथा ह्रास भूत तत्त्वों में विलीन होना भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। साधारण तथा असाधारण ज्ञानों के अवस्थाओं के लिए कोई अन्य आधार को प्रमाणिक रूप से नहीं प्राप्त होता। उस प्रकार आशङ्क्य करने वाले अनन्त अवस्था अनिश्चित परिमाणवाले हैं अतः आत्मा का स्वरूप भी अनिश्चित ही होगा। इंकर कहते हैं कि जैन दार्शनिकों का उपरोक्त मत भी युक्तिसंगत नहीं है। पुनः वे कहते हैं कि यदि जैन विचारकों के तर्कों को इस अर्थ में ग्रहण किया जाय कि जीव का परिमाण परिवर्तित होने पर भी उसी प्रकार नित्य हो सकता है, जिस प्रकार वह सूर्य का प्रवाह नित्य होता है तथा जिस प्रकार बौद्धों का विज्ञान-प्रवाह अथवा श्रान्तान नित्य है उसी प्रकार जैन दार्शनिकों का भी जीव-प्रवाह नित्य है, तब भी इनका मत तर्कसंगत एवं न्यायोचित नहीं सिद्ध होता क्योंकि इस अवस्था में आत्मा की वस्तुत्व से विलीन मानना होगा और परिणामस्वरूप बौद्धों को भाँति वैरात्म्यवाद का सिद्धि होगी।

जैन मतावलम्बियों के इसी सिद्धान्त का स्पष्टन संकराचार्य जी एक अन्य युक्ति द्वारा इस प्रकार करते हैं -- जैन विचारकों के मतानुसार मोक्ष की अवस्था में प्राप्त होने वाला जीव परिमाण नित्य होता है अर्थात् मोक्ष के समय जीव

१, स्मराराधाकृष्णन, दि ब्रह्मसूत्र, वृत्तन ५, (३३-३६), २, २, ३५ पृ० ३८६

२, जार्ज धीनू, वैवात्म्य सूत्र पार्ट १, ज०२ पा०२ सूत्र ३५, पृ० ४३३

की स्थिति नित्य होती है। शंकर कहते हैं कि यदि मौझावरथा में जीव परिमाण घटता-बढ़ता नहीं, नित्य ही रहता है तब इसे अपनी पूर्ण अवस्थाओं में भी श्रयांश आदि और मध्य की अवस्था में भी कुछ स्थिति द्वारा से विधीन होकर नित्य ही होना चाहिए, क्योंकि पहले परिमाण की अनित्य मानने से अन्तिम परिमाण को भी अनित्य ही मानना होगा, नित्य नहीं। जीव अपनी प्रत्येक अवस्था में समान परिमाण वाला ही हो सकता है, इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की विशिष्टता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतः पूर्वापर की स्वीकृति में विरोध होने के कारण जाल्सा को प्रत्येक शरीर के समान परिमाण वाला मानना वर्ज्य नहीं है, जीव को सबैव अणु या मक्षान ही स्वीकार करना होगा।<sup>१</sup>

(२)

एक बार पुनः जब हम अपने इस दृष्टिकोण को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करते हैं कि शंकराचार्य जो का अद्वैत दर्शन हम भारतीय दर्शन के सम्पूर्ण सम्प्रदायों को व्यवस्थित करने का सुखकर प्रदान करता है, तब हमारा अभिप्राय यह कहने का नहीं होता कि ये सब भारतीय दर्शन व्यवस्थाएँ अपने स्वरूप में अद्वैतादी हैं। स्पष्ट रूप से वे अद्वैतादी हैं भी नहीं अन्यथा अविवारपूर्वक तथा नियंत्रित रूप से अपनी युक्तियों द्वारा शंकराचार्य जो को इन दर्शनों की बालीना करने की क्या आवश्यकता हो सकती थी। इस प्रश्न में हमारा अभिप्राय केवल यह सिद्ध करना है कि किसी भी पाश्चात्य दर्शन और शंकर के अद्वैत दर्शन में जो समानता है उसको अपना उन भारतीय दर्शनों तथा शंकर के अद्वैत दर्शन में बहुत अधिक साम्य है। पूर्ण शंकर की अद्वैतादी विचारवृष्टि ही भारतीय दार्शनिक विचार-वृष्टि का बीजमंत्र है, इसलिए स्वीकृत व प्रष्ट भारतीय विचारवृष्टि तथा पाश्चात्य विचार-वृष्टि के बीच विभिन्नता को स्पष्ट करने के लिए उन्हें ही एक उचित माध्यम के रूप में अपनाया जा सकता है। यहाँ हम अपनी युक्तियों

तथा सामर्थ्य का निरर्थक प्रयोग यह बिताने के लिए नहीं करेंगे कि शंकराचार्य जी द्वारा कई दृष्टिकोणों से की गयी जैन दर्शन की आलोचना न्याययुक्त तथा समाप्तपूर्ण है। यहाँ हमें इस बात पर महत्व देने की आवश्यकता है कि—क्या जैन दर्शन का/एक सम्मेलनवादी व्यवस्था के रूप में नहीं समझा गया है ? किन दृष्टिकोणों का परिवर्तन करके यथासंभव इसे जड़ित दर्शन के समीप लाया जा सकता है ?

उपरोक्त प्रयोजन से हम इस बात का प्रतिपादन करेंगे कि जैन दर्शन सम्मेलनवादी दर्शन नहीं है। उसी दर्शन-व्यवस्था में ज्ञान का कोई वैराश्य नहीं है। जैन विचारक यह प्रतिपादित करते हैं कि अनेक रूपों में प्रतीत होने की सम्भाव्यताओं के साथ परिपूर्णता ही सत्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन मतावलम्बियों के अनुसार एक ही वस्तु को जानने व देखने की अनेक दृष्टियाँ संभव हैं, परन्तु फिर भी सम्पूर्ण सत्य सब दृष्टियों के संश्लेषण में ही निहित है। प्रत्येक दृष्टि एक सम्पूर्ण दृष्टि है, तथा प्रत्येक दृष्टि अपने में यह भी समाहित करती है कि उसके प्रतिपक्षी का भी अस्तित्व है; उसका प्रतिपक्षी असत्य नहीं है। अनेक दृष्टियों में से प्रत्येक सत्य को जानने का एक मार्ग है, परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि अन्य शेष मार्ग व दृष्टियाँ भी असत्य नहीं हैं। वस्तु अन्तःकर्मात्मक है, इसके एही अनेकधर्मिता से ही जैन विचारक यह निमित्त करते हैं कि अनेकान्त दृष्टि ही वस्तु-सत्य को जानने का वह तरीका है, जिसमें व्यक्ति किसी एक दृष्टि द्वारा अपने विवक्षित धर्म का ज्ञान प्राप्त करे भी अन्य दृष्टियों से अन्य धर्मों के ज्ञान का निर्णय नहीं कर सकता है। यही अनेकान्त दृष्टि ही जैन विचारकों की मयदृष्टि या रयाव्दाव है।

१. कृष्णचन्द्र मदाचार्य, रटलीण इन फिलोसफ़ी, बाल्युम १, पृ० २४३ :

"His theory of indeterministic truth is not a form of ~~an~~ scepticism. It represents, not doubt, but toleration of many modes of truth."

२. एमपेली राधाकृष्णन् तथा चार्ल्स व-मूर, स सांख्यिक इन इंडियन फिलोसफ़ी, पृ० २६९ ।

जैन दर्शन के अन्तर्गत ज्ञानमीमांसात्मक स्थिति पूर्णतया यथार्थवादी है, कि जिसमें सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तु का स्वरूप वस्तु विषय के स्वरूप के समान वस्तुगत हो जाता है। वस्तु-विषय अपने इस धर्म के कारण कि वह वस्तु है भ्रामक नहीं है। भ्रम किसी भी वस्तु की वस्तुगत स्थिति के ज्ञान में नहीं निहित होता है, यह तबल इस प्रकार के एक मताधिकारिक विश्वास में निहित है कि एक विशिष्ट स्थिति में काल की दृष्टि से किसी भी वस्तु कठ व्याजि का किसी भी वस्तु का जानना इतना व्यापक है कि जानने की कोई अन्य स्थिति सम्भव हो नहीं है। परन्तु प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों है, क्योंकि कोई भी वस्तु-विषय जब अपने आप की एक अन्य दृष्टि में प्रस्तुत करता है, तब उसकी या सम्भाषना उसे किसी एक स्थिति में समाप्त नहीं करती है। अतः हम इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि जैन दर्शन के प्रति यह जाह्नप नहीं लगाया जा सकता है कि अपने सप्तमंगीनय सिद्धान्त को प्रस्तुत करने में जैन-दर्शन विरोध के निगम की उपेक्षा करता है। जब भी वरित-नारित का सक्रिय रूप में स्वीकार किया गया है तब उनकी स्थिति का क्रमानुसार स्वीकार किया गया है, तथापि एक के बाद दूसरे की स्थिति है, एक साथ अथवा युगपत रूप में नहीं। उनका सम्बन्ध क्रमार्पण है, स्रष्टार्यण नहीं है। सप्तमंगीनय के चतुर्थमंग के रूप में वर्णित अज्ञेय की धारणा ही हमें एक ऐसी सांकेतिक सूत्र के रूप में प्राप्त होती है, जिसके द्वारा जैन दर्शन का एक दृष्टिपूर्ण दर्शन के रूप में समझा जा सकता है। जब हम यह कहते हैं कि एक विशेष वस्तु-विषय अज्ञेय है, तब यह कहने का आशय त्रिप्राय यही होता है कि वह अनिवर्त्नीय है। अज्ञेय कहने का यह अर्थ नहीं होता कि इसका अनिवर्त्नीय स्वरूप पता व विपदा तथा वरित व नारित का सम्बन्ध है, वरि न तो यही कहा जा

१. कृष्णचन्द्र मद्राबाय, स्टडीज़ इन फ़िलासफी, वॉल्यूम-१, पृष्ठ ३४१

\* The determinate existent is, in the sense explained, being and negation as distinguishably together, together by what the Jaina calls *Kramārpana*."

सकता है, कि यह अवलोक्यता अस्तित्व व नास्तित्व इन दोनों की पूर्ण समष्टि है, क्योंकि जो कुछ भी पूर्ण समष्टि होगी, वह मौलिक नहीं होगी। यह भी अवलोक्य अव्यक्त तथा अमौलिक नहीं है, जैन विचारकों के अनुसार इसका एक मौलिक स्तर है। इनके अवलोक्य की यह धारणा जड़त-वैवान्त दर्शन के अनिवर्तनीयता की धारणा के समान है। यहाँ समस्या यह उत्पन्न होती है कि जैन दर्शन तथा जड़त दर्शन के अनिवर्तनीयता के दृष्टिकोणों में वस्तुतः समानता है जैसा समानता केवल आपासित होती है। हम यह सिद्ध करते हैं कि अनिवर्तनीयता सम्बन्धी जैन दृष्टिकोण अर्थात् जैन वास्तविकता का अवलोक्य अपने आपकी किता से नहीं बल्कि वस्तु-जात में निहित सचाई से सम्बन्धित करता है। इनके अनुसार एक वस्तु-विषय ही अवलोक्य रूप में वर्णित है। इस प्रश्न के उत्तर में कि जैन विचारक किता वस्तु को अवलोक्य क्यों कहते हैं, यह कहा जा सकता है कि वस्तु ज्ञात है, इसलिए अवलोक्य है। किता भी ज्ञात वस्तु के अस्तित्व तथा अस्तित्व के बारे में ऐसा है, वैसा है उस प्रकार का कोई भी विकल्प नहीं किया जा सकता है। क्योंकि जो ज्ञात है उसके बारे में अस्तित्व-नास्तित्व कोई भी निर्णय विवेचित नहीं किया जा सकता है। परन्तु जैन विचारकों का अवलोक्य तो एक भेद या नय के रूप में अपने आपकी ज्ञान की स्थिति से ही सम्बन्धित रहता है। ज्ञान की स्थिति में ही एक वस्तु-विषय को अवलोक्य स्वीकार किया जाता है। यहाँ पर बाधा व धारण है। ये धारणा विचार-तत्त्व हैं जिसमें शोधक तत्त्व को प्राप्त करना है।

जड़त-वैवान्त के अन्तर्गत रज्जु में सर्प का प्रभाव ही वस्तुतः अनिवर्तनीय स्थिति का निरूपण करता है। रज्जु सर्प नहीं है, और इस सर्प के रूप में जाना भी नहीं जा सकता है। भ्रमात्मक स्थिति का अन्तर्गत सर्प है और नहीं दोनों ही हैं, क्योंकि यह स्थिति धारण में विलक्षण रूप विरमयपूर्ण स्थिति है।

१. दि पंथापिका ऑफ़ पञ्चपाव, नायकाईस कोरियन्टल सिनिज़ बौल्डूम-१०७  
 पृष्ठ ८, Superimposition (Adhyāsa) means the manifestation of the nature of something in another which is not of that nature. That (manifestation), it is reasonable to hold, is false (mithyā). The word 'mithyā' is of double signification--it is denotative of negation as well as of inexpressibility (anirvacanīyatā) "

यहां पर अनिवर्त्तीयता ज्ञान के कारण नहीं वरन् अज्ञान के कारण है । जो कुछ ज्ञान नहीं है उसे ज्ञान के रूप में ग्रहण किया गया है और जो कुछ केवल विश्वास का विषय है वह ज्ञान से अलग नहीं है । जो सत् नहीं है उसे सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । परन्तु रज्जु-सर्प के द्वारा वर्णित अज्ञेय वेदान्त दर्शन की अनिवर्त्तीयता केवल एक सामान्यानुमान है । इस सामान्यानुमान के दो पक्षों में एक तो ( रज्जु ) अतीन्द्रियात्मक या पारमार्थिक है तथा दूसरा ( सर्प ) व्यावहारिक या आनुभविक है । ज्ञात अपने स्वरूप में व्यावहारिक है, ज्ञेय अतीन्द्रिय या पारमार्थिक है । अतीन्द्रिय अथवा परमार्थ ही सत्य है, किन्तु ज्ञात या व्यवहार सत्य नहीं है, यह एक आभासमात्र है, या यों कहिए कि ज्ञेय पर ज्ञात का आरोपण है, अख्यास है । इसलिए यदि हम कहते हैं कि यह सत्य है तब हमारा तात्पर्य यह होता है कि ज्ञेय से इसका तादात्म्य है । ज्ञात व्यावहारिक स्वरूप का एक वस्तु-विषय है; यह चिन्तन या व्यवहार का विषय है किन्तु क्या ज्ञेय विचार का विषय है अथवा क्या यह चिन्तन का विषय हो सकता है । इसका उत्तर है नहीं, इसलिए एक व्यावहारिक स्थिति का ज्ञेय से तादात्म्य नहीं हो सकता है । अप्रतिबद्ध ज्ञेय अज्ञेय है, अज्ञेय का तात्पर्य है--ज्ञात के रूप में अज्ञेय । सत्य के रूप में ज्ञात की मान्यता ज्ञेय के साथ इसके तादात्म्य पर आधारित है, परन्तु यदि ज्ञेय अप्रतिबद्ध है, अज्ञेय है तब इसे चिन्तन के वस्तु-विषय के रूप में नहीं वर्णित किया जा सकता है । यह वस्तु विषय ही ज्ञात कहलाता है ।

जैन दर्शन के अनुसार जो ज्ञात ज्ञान का विषय है, शंकर के अनुसार वही अज्ञान का विषय है । जो वस्तुतः ज्ञात है वह अप्रतिबद्ध है, परन्तु यहां 'ज्ञात' का तात्पर्य एक वस्तु-विषय के रूप में ज्ञात होना नहीं है । अप्रतिबद्ध ज्ञेय तो अज्ञेय है क्योंकि इसे विचार या चिन्तन की किसी भी कोटि के अन्तर्गत कोटिनिर्मित नहीं किया जा सकता है और इसीलिए यह अनिवर्त्तीय है ।



ब्रह्म अवैद्य है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसमें अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता नहीं है अर्थात् जो अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता रखता हुआ अवैद्य है, वही ज्ञान सत्य व अनन्त है, क्योंकि वह किसी अन्य के ज्ञान से न प्रकाशित होकर स्वयं-प्रकाशित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अवैद्य वैदान्त के उन्मत्त पारमार्थिक रूप से ब्रह्म अवर्णनीय है क्योंकि यह स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है। इसका ज्ञान के विषय के रूप में वर्णन नहीं हो सकता है। तार्किक रूप से ज्ञान अनिवर्णनीय है क्योंकि ब्रह्म की सत्ता से बाधित हो जाने के कारण और प्रत्यक्षा का विषय होने के कारण यह सत् असत् से विलक्षण है। परन्तु जैन दार्शनिकों का 'अवज्ञेय' अनिवर्णनीय ज्ञान एवं साध्यस्वरूप ब्रह्म न होकर सत्य की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र रह जाता है तथा इनका अवज्ञेय संकराचार्य जो की मांति सत्-असत् से विलक्षण भी नहीं है क्योंकि ये अपने अवज्ञेय को अस्ति-नास्ति से युक्त मानते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि वस्तु-ज्ञात का अवज्ञेय के रूप में वर्णन करते समय जैन दार्शनिक ज्ञान की स्थिति को त्रुटिपूर्ण बना देते हैं क्योंकि--(१) प्रथम तो जो ज्ञेय है आवश्यक रूप से वह वर्णनीय भी है तथा उसकी अभिव्यक्ति भी हो सकती है और (२) जो अनभिज्ञेय या अवर्णनीय है वह एक वस्तु-विषय के रूप में ज्ञेय है।

कदाचित् जैन विचारक अनभिज्ञरूप से एक कौटि की मान्यता प्रदान करते हैं। अन्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अपनी दार्शनिक व्यवस्था में वे वैदान्त दर्शन की विन्तन-प्रक्रिया की हो और विसर्पण करते हैं। उनकी यह

१. बिल्कुली, तत्त्वप्रदीपिका, उदासीन संस्कृत ग्रन्थमाला, पृ० १६।

२. स्वयंप्रकाश का लक्षण अवर्णनीय नहीं है; क्योंकि अवैद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार-योग्यता ही उसका लक्षण है।

३. वही, पृ० ४५।

कोटि' अनिर्वचनीय' या 'अवच्छेद्य' की कोटि है। जैन विचारक फिर विन्तन-स्तर को अपनाते हैं, यदि उसे धोखा ही और जं-ग स्तर प्रदान करते तब उन्हें भी इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती कि कैवल्य को एक ऐसी अतीन्द्रिय स्थिति प्रदान की जाय जो विन्तन से परे की स्थिति है। जैन के अनुसार कैवल्य भुक्ति के रूप में और मुक्ति मोक्षा के रूप में न तो 'यह है' न तो 'वह है' बल्कि एक ऐसी भुक्ति है जो विशुद्ध रूप से वस्तुगत भुक्तिमोक्षा में ही सम्मिल है। जैन विचारक अपने दर्शन में अवच्छेद्य को ज्ञान की एक कोटि प्रदान करते हैं, इसका त्रेय इन्हें अवश्य ही प्राप्त होना चाहिये, परन्तु तब भी ये बौद्ध-युक्त ही रह जाते हैं, क्योंकि ये प्रारम्भ से अन्त तक यथार्थवादी तथा पूर्णरूप से वस्तुवादी विचारक ही रहते हैं। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों है? इसका प्रमुख कारण यह है कि जैन विचारकों ने श्रुति से स्वतंत्र होकर मोक्षा को प्राप्त करने का मार्ग अपनाया। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि ये श्रुति-विरोधी सिद्धान्त को अपनाते हैं तथा श्रुति को ज्ञान का प्रमाण नहीं स्वीकार करते। हम जानते हैं कि श्रुति को प्रमाण न मानने वाले सभी तत्त्व-दर्शन विन्तनात्मक या वर्णनात्मक तत्त्व-दर्शन के रूप में ही रह जाते हैं। विन्तनात्मक तत्त्व-दर्शन विचार व कल्पना की रचना है जबकि वर्णनात्मक तत्त्व-दर्शन पूर्णतया व्यावहारिक या वास्तविक रह जाता है। ये दोनों तत्त्वदर्शन कोई भी तत्त्व-दर्शन नहीं हैं, समकालीन पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शनों में तत्त्व-दर्शन के महान् बहु-विचारकों ने इस तथ्य को पर्याप्त रूप से स्पष्ट किया है। जैन दर्शन भी श्रुति को मान्यता न देने के कारण आशंकित हो जाता है।

१. कृष्णचन्द्र मद्राचार्य, स्टडीज़ इन फ़िलासफ़ी, वॉल्यूम १, पृ० ३४१

\* It is objective as given: it can not be said to be not a particular position nor to be non-existent. At the same time it is not the definite distinction of position and existences: it represents a category by itself."

## अध्याय - ७

=====

### उपसंहार

किसी शोध-प्रबन्ध के सम्पूर्णण के लिए एक उपसंहार वांछनीय होता है। यद्यपि यह एक औपचारिकता मात्र ही प्रतीत होती है; किन्तु फिर भी इस औपचारिकता की पूर्ति के लिए हम इस शोध-प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय के रूप में एक उपसंहार प्रस्तुत करना अनावश्यक नहीं समझते हैं। अतः अपने शोध प्रबन्ध का समापन करते हुए हम निम्नलिखित अनुच्छेदों को उपसंहार स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। इस अन्तिम अध्याय में हमारा कोई नवीन 'विशेष्य विषय' नहीं है प्रत्युत इसमें भी हम अपने पूर्व अध्यायों में विवेचित तथ्यों को ही स्पष्ट करेंगे। शोध-प्रबन्ध की भूमिका में व्यक्त विचार तथ्यों का ही निरूपण इस परिच्छेद में किया गया है; अतः यहाँ एक पुनः उपसंहार को प्रस्तुत करने में हमारी न्याय-औचित्यता केवल यही हो सकती है कि निबन्ध का निष्कर्ष हमारे विचार-दृष्टि के उस प्रमाणीकरण की विशिष्टता पर प्रकाश डाल सकता है जिसकी ओर निबन्ध के अन्य परिच्छेदों में निहित समस्त युक्तियाँ अभिमुख हैं।

प्राकृत्य एवं पार्श्ववाच्य समस्त वर्तमान में द्रन्द्वन्याय के विभिन्न प्रकारों व दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त किया गया है; परन्तु इन समस्त दृष्टिकोणों व द्रन्द्वन्याय-सम्बन्धी विभिन्न अर्थों में जो 'सर्वाङ्ग सामान्य तथ्य' गृहीत हो सकता है, उसके समर्थन में केवल यह कहा जा सकता है कि द्रन्द्वन्याय दार्शनिक तर्क-वितर्क के लिए सर्वैव एक प्रमाण ही युक्त होता है। इस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि वह प्रमाण किस प्रकार का है और किस प्रकार की स्थिति में उसका उत्पन्न है? उक्त स्वरूप यह कहा जा सकता है कि वह एक ऐसी 'युक्ति' है जो एक मिथ्यापूर्ण एवं प्रमात्सक स्थिति के स्वरूप को उपलब्धित करने के लिए अभिप्रेरित होती है, क्योंकि प्रमास्वप्न होने के कारण वह स्थिति हमारे लिए स्थाप्य होती है। चूंकि एक युक्ति के लिए स्थिति-निर्वाह अनिवार्य होता है इसलिए यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि द्रन्द्वन्याय एक 'तर्कण' है अथवा एक तर्कप्रधान बौद्धिक प्रक्रिया है। यदि हमारे सामने कोई निष्पार्श्वक अभिप्राय

न होता और यदि हमें यह लक्षित करना न होता कि एक विशिष्ट प्रकार का विवाद अव्याज्य है अथवा एक विशिष्ट स्थिति प्रसारण एवं निष्पत्तिपूर्ण है तो द्वन्द्वन्याय की कोई आवश्यकता न होती। एक तर्कहीन के रूप में द्वन्द्वन्याय का सम्बन्ध स्थापित अथवा प्रम की संशुद्धि से होता है। एक प्रसारण परिस्थिति तथा एक प्रसारण कथन के निष्पत्ति का रहस्य ज्ञात हो जाने पर उनके निष्पत्ति या संशुद्धि की अपरिहार्य रूप से मांग होती है। परन्तु यह निष्पत्ति या तो केवल आनुभविक स्तर की विषय सामग्री से अर्थात् हमारे अनुभव के उस वस्तुगत स्तर से सम्बन्धित होता हो सकता है जिसका सम्बन्ध प्रत्यक्षीकरण द्वारा उपलब्ध स्थापन से है अथवा यह किसी तत्त्ववैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित हो सकता है। एक तार्किक स्थिति में विषय आनुभविक रूप से स्थापित नहीं हो सकता है क्योंकि तार्किक स्तर का विषय दृश्य ज्ञान से परे है जिसे कान्ट ने सामान्य वस्तु-विषय कहा है और उनके अनुसार इस सामान्य विषय के अनेक रूप निर्धारित किये जा सकते हैं। हमें दृष्टिगत होता है कि वही वह कर्मा की विद्वत् अवधि हो या एलिज्बेडर का वैश्व-कालिक सार्वभौमिक अथवा रामानुज व माध्वाचार्य का ईश्वर हो या जैन व वैश्विक विचारकों का परमाणु तथा सार्वभौमिक विचारकों का प्रकृति-पुरुष हो, हमने सर्वत्र एक ऐसे सूक्ष्म विषय को ही महत्व दिया है, जो प्रत्यक्षानुभव की विषय-सामग्री नहीं है। एक द्वन्द्वन्याय आनुभविक स्तर पर प्रस्तावित प्रम-निवारण के लिए किसी द्वन्द्वन्याय की आवश्यकता नहीं होती है। इस स्तर पर प्रम का परिष्कार एक सूक्ष्म प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हो जाता है, इसलिए यहाँ प्रम-निवारण एक प्रागनुभवी विधि द्वारा नहीं किया जाता है। प्रम-सम्बन्धी आनुभविक स्थिति में सर्व के रथान पर रज्जु को बैलना किसी प्रागनुभवी तर्क द्वारा प्रेरित नहीं है; इस प्रकार के ज्ञान का कारण पूर्णरूपेण व्यावहारिक है। सर्व के रथान पर रज्जु के कथन के लिए हमारे पास कोई भी प्रागनुभवी प्रमाण नहीं है, इसके लिए केवल विद्वत् व्यावहारिक तर्क ही है, जो किसी भी वर्ग में अनिवार्य नहीं होता है। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत या तो हमें सत्य या प्रम के भेद का परित्याग करना होगा या उन दोनों में भेद करने के लिए एक अनिवार्य क्वांटि की जांच करनी होगी। इस अनिवार्य क्वांटि की जांच ही तत्त्ववैज्ञानिक-चिन्तन है। अतः तत्त्ववैज्ञानिक की उत्पत्ति प्रम के उस आनुभविक दृष्टिकोण की अवधारणा

में ही होती है जिसे हम अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम तथ्यों के आनुपक्षिक जगत से वास्तव-अवस्थित विचारों के तत्त्व-वार्शनिक जगत की ओर संक्रमण करते हैं और इस संक्रमण की औचित्यता प्रदान करने के लिए एक साक्ष के रूप में प्रयुक्त 'तर्कणा' की प्रक्रिया' की द्वान्द्व्याय कहलाती है। अब; इस द्वान्द्व्याय में द्वान्द्व्याय की एक ऐसी साक्ष के रूप में गृहण किया जाता है जो सत्ता के एक आनुपक्षिक दृष्टिकोण के विरुद्ध सत्ता के एक तत्त्व-वार्शनिक दृष्टिकोण की औचित्यता प्रदान करता है। परन्तु एक ही तत्त्वस्वार्शनिक सिद्धान्त नहीं है, इसलिए द्वान्द्व्याय इन दो अतिरिक्त प्रयोजनों के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है -- (१) एक तत्त्ववार्शनिक दृष्टिकोण को एक दूसरे तत्त्व-वार्शनिक दृष्टिकोण के विरुद्ध औचित्यपूर्ण एवं तर्कसंगत सिद्ध करने के लिए तथा (२) सम्पूर्ण तत्त्व-वार्शनिक दृष्टिकोणों के वास्तव-असिद्ध स्वरूप को पिला कर उनका प्रत्याख्यान करने के लिए। ऐसा चिन्तित होता है कि उपरोक्त कथित कार्य ही द्वान्द्व्याय का उचित कार्य है। यही विद्वद् द्वान्द्व्याय है। चूंकि इसका प्रस्तावक निश्चय है, इसलिए यह विद्वद् द्वान्द्व्याय अपने स्वरूप में निर्वैवाच्यक है। माध्यमिक वार्शनिक सुविचारों में भी इसी प्रकार का द्वान्द्व्याय प्राप्त होता है। इन वार्शनिकों के अनुसार यह अनुविन्तनात्मक चेतना के स्वीकृत लक्ष्य के रूप में 'विद्वद् आलोचना' का सहविस्तारी है। हम यह कह सकते हैं कि बाँध-दर्शन में द्वान्द्व्याय का कार्य उत्कृष्ट रूप से विचार द्वारा व्यक्त तथ्यों की निरर्थकता एवं निःसारता को सिद्ध करना है क्योंकि इसका प्रकृत लक्ष्य तत्त्ववार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टिगुण्यता को पिलाना है।

१. श्री एस०एस० राय, 'वेदान्त एण्ड डायलैक्टिक्स' फिलासफ़ी सेक्शन, यूनिवर्सिटी

ऑफ़ कलाहाबाव स्टडीज़, १९६७, पृ० २२-२३

• ...dialectic among the Mādhyamikas is Coextensive with criticism as the avowed aim of reflective consciousness... But considered in the deeper aspect of its function in Buddhism, as a whole, the dialectic is pre-eminently occupied with the demonstration of the hollowness or even the no-content nature of what thought apprehends."

कान्ट के दर्शन के एक निरीक्षण-आत्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछ सीमा तक हमकी 'आलोचना' 'बुद्ध द्रव्यव्याय' होने का आभास देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी इसका प्रयोग निष्कर्षात्मक प्रयोग के लिए करती है, अर्थात् यह प्रवर्तित करने के लिए करते हैं कि अप्रतिबद्ध ज्ञेय नहीं है और इसे जानने से सम्पन्न करने के लिए वैज्ञानिक रूप से कोई भी सिद्धान्त प्राप्त नहीं होता है। इसका अर्थ है कि कान्ट के दर्शन में द्रव्यव्याय, सत्ता-सम्बन्धी सिद्धान्तों की अन्तिम संशुद्धि की स्थापना करने के लिए भावी अव्यक्ती दार्शनिकों को रोक देता है, क्योंकि यह अन्तिम सम्शुद्धि केवल सत्ता के ज्ञेय होने पर ही प्राप्त हो सकती है। आनुभविक, अनुभवातीत तथा अतिअनुभवातीत, इन तीन प्रकार के स्तरों का कान्ट प्रतिपादन करते हैं। कान्ट के इस स्तर-भेद का प्रमुख अभिप्राय केवल तर्कबुद्धि के क्षेत्र से परे अतिअनुभवातीत स्तर की स्थापना करना है तथा ज्ञान के क्षेत्र से परे अतिअनुभवातीत सत्ता को अर्थ प्रदान करना है। यद्यपि ऐसा मालूम होता है कि कान्ट के दर्शन में द्रव्यव्याय को केवल आलोचना के लिए अपनाया गया है, किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि उनके दर्शन में इसका स्पष्ट लक्ष्य नैतिक, धार्मिक, तथा सार्वव्यापक अनुभूतियों को इस प्रकार उन्नत करना है कि वे 'निःशेष' की प्रजाता बन सकें।

कान्ट की यही विचार-वृष्टि हमें द्रव्यव्याय पर एक पुनर्विचार करने का संकेत देती है। प्रश्न यह है कि क्या इसका विचार, तर्कणा के एक प्रकार के रूप में होना चाहिए, जो केवल आलोचना तक ही सीमित है? कुछ विचारकों के अनुसार तो द्रव्यव्याय का लक्ष्य विचार की अपर्याप्तता को ही दिखाना है। माध्यमिक दर्शन भी इसी तथ्य का समर्थन करता है कि कोई भी तत्त्व-दार्शनिक सिद्धान्त विश्व की सन्तुष्टिपूर्ण व्याख्या करने में अपर्याप्त एवं असमर्थ है। अतः विचारक विचार-कोटियाँ तथा आभासों के आत्म-विनष्ट स्वरूप को प्रकट करने के लिए

६६ दृष्टव्यवस्था कठ दृष्टव्य कदम००००००

ही द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करते हैं। किन्तु यह तो द्वन्द्वन्याय की सीमा को न्यूनतम संकुचित रूप में स्वीकार करने के समान है। ऐसा मालूम होता है कि माध्यमिक दार्शनिक दृष्टिपुङ्खा की बात सच होती है और इन विचारानुसार सम्पूर्ण दृष्टिपूर्ण है मन को रिक्त करना, चेतना व अस्तित्व की सर्वाच्च अवस्था अर्थात् निर्वाण के लिए मार्ग प्रशस्त करना है। अतः अपने अन्तिम लक्ष्य में द्वन्द्वन्याय को 'विमुक्त' होने तथा 'रक्षेत्र' होने के अर्थ में समझा जाता है। ठीक ऐसी ही धारणा हीगल के दर्शन में भी प्राप्त होती है। तर्क-बुद्धि प्रताप त्रिभुज गति द्वारा उस अन्तिम अवस्था का अतिक्रमण कर जाती है जिसमें समस्त विरोधों का समाधान हो जाता है और जो हीगल को 'परम' कहलाती है। यहाँ परम पूर्णतया तर्कप्रधान या बौद्धिक है। तर्क-बुद्धि स्वयं व्यापारों की शीघ्र विकास करती है तथा उनका परिहार भी कर देती है और इसके साथ-साथ स्वयं ही सत्ता बन जाती है। हीगल के विचारानुसार व इसी राजा में समस्त व्यापारों का क्षम हो जाता है अर्थात् समन्वय हो जाता है।

द्वन्द्वन्याय के रूप में स्वीकृत तर्कबुद्धि-प्रताप की सर्वाच्चता हीगल एवं माध्यमिक दोनों दर्शनों में बहुत जम्ही तरह घोषित है। बाकि माध्यमिकों के दर्शन में द्वन्द्वन्याय द्वारा विरोधों का अतिक्रमण करके, बाकि हीगल के दर्शन में विरोधों का समन्वय करके, तर्कबुद्धि प्रताप की सर्वाच्च जाधार पर ही स्थापित किया गया है। यह पूर्णतया एक भिन्न बात है कि माध्यमिकों का द्वन्द्वन्याय परम (तत्त्व) को निरपेक्ष निर्णय अथवा सर्ववृष्टिसून्यता द्वारा दिखाता है,

१. श्री एस०एस० राय, वैवान्त एण्ड बुद्धिपूर्ण फिलॉसफी सेक्शन, यूनिवर्सिटी ऑफ़ इलाहाबाद स्टडीज़, १९६०, पृ० २४

\* In an un-exceptional manner the dialectic in Buddhist Absolutism is unreflexive in its function; it looks one way only. It seeks only to indicate the self-dissipating nature of the appearances and the categories of thought."



जबकि हीगल उसी अभीष्ट को, निम्नकोटियों के विरोधों का उच्चकोटियों में और सम्पूर्ण कोटियों का शर्वाङ्ग सत्ता परम में समापान करके, प्राप्य वतलाने है ।

इससे यह अनुगमित होता है कि हीगल के दर्शन में भावात्मक रूप से द्रव्यन्याय ही वादि, मध्य व अन्त तर्कात् सब कुछ है । माध्यमिक दर्शन में भी द्रव्यन्याय ही सब कुछ है; यद्यपि माध्यमिक विचारक निष्पेक्षात्मक विधि से ऐसा सिद्ध करते हैं यानी एक ऐसी विधिति द्वारा सिद्ध करते हैं, जिसमें मानव-मरिच्छक सम्पूर्ण भावों से वंचित हो जाता है और सब दृष्टियों से मुक्त हो जाता है । इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि वीनों ही दर्शन द्रव्यन्याय के लिए प्रतिफलतात्मक क्षमता के एक प्रकार को स्वीकार करते हैं । यही क्षमता ही अभीष्ट परिस्थितियों की उत्पाक है ।

हमारे विचारानुसार द्रव्यन्याय-सम्बन्धी इन दृष्टिकोणों में भ्रान्त रूप में समझा गया है । तर्क-प्रक्रिया के रूप में स्वीकृत द्रव्यन्याय रचनात्मक स्थिति में एक साधन मात्र है जो सहायक क्रिया से मुक्त होता है । यह अपने आप में अनुगमित है । यह दृष्टिकोण वैदान्त का है, विशेष रूप से जड़त-वैदान्त इसमें अनुपादन करता है, इसके अनुसार द्रव्यन्याय दृष्टि या दर्शन के सैद्धान्तिक विस्तार में एक अनिवार्य सोपान है जिसकी वाचिक अभिव्यक्ति धृति में होती है । धृति समस्त प्रपञ्च व मानात्म्य की समाप्त करके जड़त तत्त्व को व्यक्त करने के लिए तर्क को सहायक साधन बनाती है अतः तर्क केवल धृति का सहायक होता है, यह परम की व्याख्या नहीं कर सकता है । हीगलवादी तथा माध्यमिक दर्शनों के विरुद्ध वैदान्त विचारक आग्रहपूर्वक इस तथ्य का समर्पन करते हैं कि तर्क में उस स्थिति को उत्पन्न करने की कोई क्षमता नहीं है जिससे 'परम' ( कृष्ण ) का ज्ञान अनुगमित हो सकता है । अतः इस सम्बन्ध में हम कान्त के द्रव्यन्याय-सम्बन्धी दृष्टिकोण का समर्पन करते हैं, जो स्पष्ट रूप से तर्क की किसी ऐसी शक्ति को अस्वीकार करते हैं, जिसके द्वारा सत्ता का ज्ञान हो सके । तर्क के विरुद्ध अपने पुष्ट सन्देह के कारण

ही कान्ट ज्ञान-क्षेत्र और नैतिकता के क्षेत्र में भेद करते हैं। नैतिकता की  
 सम्प्रेक्ष्यता की विधानों के लिए ही कान्ट ज्ञान का अपकर्षण करते हैं तथा  
 ज्ञान ही के इसी निम्न स्तर की विधानों के लिए ही वह इन्द्रजाल का प्रयोग  
 करते हैं। इस शोध प्रबन्ध के प्रमुख मार्गों में हमने सर्वत्र यह प्रदर्शित करने का  
 प्रयत्न किया है कि इन्द्रजाल की अपनी कोई स्वतंत्र स्थिति व प्रगति नहीं  
 है। यह एक ऐसी तरंगणा या घुड़िया है जो बाह्यीकृतक तथा रक्तात्मक किसी  
 या पशु में स्वतंत्र रूप से कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकती है। एक वैज्ञानिक सम्प्रदाय  
 के रूप में प्रकृत ज्ञान दर्शन अन्य दर्शनों की अपेक्षा इन्द्रजाल जैसा तर्क के कार्य  
 व स्थान की अधिक स्पष्ट रूप से दर्शाता है। परन्तु प्रकृत ज्ञान के रूप में यहाँ  
 आवश्यक रूप से यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारी दर्शन-विधा तर्क से परम  
 को और नहीं अपितु 'परम' से तर्क की ओर है। अतः इन्द्रजाल, हमें परम  
 का ज्ञान नहीं प्रदान कर सकता है, जैसा कि हीगल द्वारा समर्थित है और न तर्क  
 द्वारा उस स्थिति का ही अनुमान किया जा सकता है जो परम की अनुपस्थिति  
 का प्रेरक होती है; जैसा कि माध्यमिकों की सर्ववृष्टिजन्यता द्वारा सम्भव है।  
 परम की ओर तर्क का प्रगति एक अन्तः प्रगति है, इसलिए इन्द्रजाल का एक  
 जीवितपूर्ण कार्य 'तर्क' नहीं है। वेदान्त के अनुसार दर्शन एक वैदिक प्रक्रिया  
 नहीं है, यह एक अनुविन्नात्मक अनुपस्थिति है। ज्ञानिष्ठ जीव इस तर्कातिव अवस्था  
 का अनुभव प्रसिद्ध की उस स्थिति के रूप में करता है जो सम्पूर्ण नानात्व व भेदों  
 से मुक्त है। इसी को 'निरा' या 'अज्ञान' के रूप में वर्णित किया गया है।  
 अतः वेदान्त में तर्क का कार्य यह प्रदर्शित करना है कि इस ज्ञान स्थिति में सम्पूर्ण  
 भेद निराश्रित हो जाते हैं, जीव व ज्ञान का नानात्व यानी किसी प्रकार का  
 भी नानात्व केवल भेद-वृष्टि में ही आधारित होता है। इन्द्रजाल न तो  
 भेद वृष्टि की उत्पन्न करता है और न तो उत्पन्न कर ही सकता है; यह केवल  
 इस बात का संकेत मात्र कर सकता है कि हमारी भेद-वृष्टि के समस्त प्रपञ्च व

विरोधां से मुक्त है। तत्वाणां यह भेद-दृष्टि के समर्थकों को यह पताता है कि भेद-दृष्टि केवल विरोधां व संघर्षां तथा आनन्दभाव की ओर ही हमारा नेतृत्व करती है। शंकर के यहाँ मैं द्रव्यन्याय एक तर्कशैली के रूप में यह व्याख्या करने के लिए प्रतिष्ठित होता है कि ज्ञान ही परम सत्ता यानी 'ब्रह्म' है और 'सच्चिदानन्द' ही हमारा 'परम' है, 'ब्रह्म' है। परन्तु इसके व्याख्या करने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह इस अवस्था को उत्पन्न कर सकता है। जिसका निषेध करना है, वह त्रिविधा है और जो भेद-दृष्टि है। इस प्रकार द्रव्यन्याय भेद-दृष्टि का निषेध है। परन्तु जहाँ तक भेद-दृष्टि स्वयं ब्रह्म है, वहाँ निषेध का निषेध अभिप्रेत होता है।

सत्य की स्थिति एक उच्च स्थिति है। डा० बन्धुधर शर्मा का कहना है कि द्रव्यन्याय का अन्तिम लक्ष्य विरोधां का समाधान करना होता है और हमें यह परिलक्षित कराना होता है कि जिस दृष्टि में समस्त विरोधां का शमन हो जाता है वह तार्किक चोत्र से परे की दृष्टि है और विचार के विमर्शात्पन्न-बोध से परे की दृष्टि है। इस दृष्टि में सम्पूर्ण तर्क समाप्त हो जाते हैं, इसलिए समस्त द्रव्यन्याय भी यहाँ मूक हो जाते हैं। किन्तु विद्वत् को उत्पन्न करने के लिए नेत्रों में सम्मिश्रित अन्तःशक्ति की भाँति हमारी दृष्टि-वेतना भी अपने

१. श्री एस०एस० राम, वैवान्त एण्ड बुकिंग्स, फ़िलासफ़ी सैकल, यूनिवर्सिटी ऑफ़ ब्रजहाबाद राठकोट, १९६०, पृ० २४

"In the Advait it stands for the cancellation of the bhedadrsti - a cancellation in which, working in collaboration with revelation, is to be understood as co-extensive with the Brahman itself. For all one knows about the Advait, the Brahman it self - for all - should be understood as the support of a phenomenality that stands so long only as the differentiating outlook lasts. And the differentiating outlook being only the support of the false, the dialectic which demonstrates the falsity of the many, is merely a dynamic pursuit engaged in the cure of a distempered outlook."

२. डा० बन्धुधर शर्मा, वि रैन ऑफ़ हाइलेक्टिक इन फ़िलासफ़ी--इण्डियन एण्ड वेस्टर्न, ( ए थोसिस सबमिटेड टू वि यूनिवर्सिटी ऑफ़ ब्रजहाबाद, फ़ॉर वि डिग्री ऑफ़ डॉक्टर ऑफ़ लैटर्स ) पृ० ४५१ व ४५३ ।

आप 'तर्कणा' के सांवे में अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त होती है ।

तर्कणा का यह सांवा दृष्टि-वैतना के दो प्रकार के स्वरूपों को दर्शाता है--

(१) मण्डनात्मक ( २ ) तण्डनात्मक । मण्डनात्मक स्वरूप में यह हमारी दृष्टि की कुस्वप्न में समाप्त होने से बचाता है और अपने तण्डनात्मक स्वरूप में यह उन समस्त सम्भव विधियाँ व दृष्टियाँ के विरुद्ध प्रतिपाद करता है जिसके अन्तर्गत हमारी वैतना वास्तव परिस्थितियाँ के द्वारा अनेक कुस्वप्नों व मिथ्या-पार्श्वों को अपना लक्ष्य समझ कर भ्रमित हो सकती है और हमारी यह भ्रमित वैतना अस्तु तत्त्वज्ञानिक सिद्धान्तों का आकार ग्रहण कर लेती है और सच्चा है उस अपरोक्षानुभूति में अपना कोई भी आधार नहीं रखती जिसे आत्मा, ईश्वर इत्यादि का नाम दिया गया है ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

|                                        |                                                                             |
|----------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------|
| अहंमान, पृ० ६०                         | -- हिस्ट्री ऑफ़ फ़िलासफ़ी, भाग २                                            |
| असिन, पृ० ३००                          | -- फ़िलासॉफ़िकल एनालिसिस, १६५६                                              |
| अरोविन्सो, श्री                        | -- दि लाइफ़ डिवाइन                                                          |
| आत्मानन्द (रवाभी)                      | -- संकरस टीचिंग इन दिज ओन वर्ल्ड (मन्य बुक यूनिवर्सिटी)                     |
| ईथिंग, ए० सी०                          | -- ए हाई कर्पेट्री ऑन कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ प्यार रीज़न                       |
| उपाध्याय, गंगाप्रसाद                   | -- ब्रह्मवाच ( कला प्रेस, प्रयाग )                                          |
| उपाध्याय, बल्लभ                        | -- भारतीय दर्शन<br>श्री संकराचार्य                                          |
| उपाध्याय, भरत सिंह                     | -- बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १ और २                            |
| एबट, टी० कै०                           | -- कान्ट्स थ्योरी ऑफ़ एथिक्स                                                |
| एवरमै                                  | -- क्लासिकल ऑफ़ खेलेटिक फ़िलासफ़ी                                           |
| एल्बर्ट, एपेल, हेनिस<br>हारि मोटरफ़ाइट | -- ग्रेट ट्रैडिशनल इन एथिक्स                                                |
| एयर, ए० कै०                            | -- कैम्ब्रिज, टुथ एण्ड लोज़िज                                               |
| ब्रह्मचर, हवल्लू० बी० ब्रा०            | -- फ़ॉन ए लोज़िकल प्वाइंट ऑफ़ व्यू                                          |
| कॉन्वर, डी० बी० ब्रा०                  | -- ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ वेस्टर्न फ़िलासफ़ी                               |
| कॉरनर, ए०                              | -- कान्ट ( पैलिन् )                                                         |
| कार्तिकर, बी० कै०                      | -- स्टडीज़ इन वेदान्त                                                       |
| कैथर्न, ए० कै०                         | -- ए क्रिटिकल एकाउण्ट ऑफ़ दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट                            |
| केशिरर, ए० ०८८५००                      | -- कान्ट्स फ़ुल्ट क्रिटिक<br>ए कर्पेट्री ऑन कान्ट्स क्रिटिक ऑफ़ ज़कर्मै     |
| कौल, आर० एन०                           | -- इन्प्रीडिखी, रीज़न एण्ड इन्फ़िस्टेन्स                                    |
| गौराडा, बालस्पति                       | -- भारतीय दर्शन                                                             |
| गायन्धरा, हरिकृष्ण                     | -- श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित )                        |
| गङ्गापादीधकारिका                       | -- शांकरभाष्य, भाष्यक्यापनिषद् (हिन्दी अनुवाद सहित-<br>गीताप्रेस, गोरखपुर ) |
| घाटे, बी० एस०                          | -- दि वेदान्त ( मण्डारकर, औरियन्टल इन्स्टीट्यूट, पूना )                     |

- वज्र, वै०एन० -- फ़िलासॉफ़िकल वारगुमेन्ट एण्ड डिसेम्प्लीमेन्ट ( प्रेसिडेन्सियल सेलेंस-इण्डियन फ़िलासॉफ़िकल कांग्रेस, फ़ोरटिवेथ सेल, युनिवर्सिटी ऑफ़ जोधपुर, दिसम्बर, १९६६ )
- स्टर्ली, ए०के० -- दि योगावार बाइबलियलिज़्म
- बटोपाध्याय, स्तीशबन्धु और बत्ता, धीरेन्द्रमोहन -- भारतीय दर्शन
- चित्पुल -- उत्सवप्रदीपिका ( उवासीन संस्कृत विद्यालय ग्रन्थमाला )
- चतुर्वेदी, कृष्णमोहन -- सांख्यकारिका ( ईश्वरकृष्णविरचिता सांख्यकारिका की विस्तृत भूमिका एवं भाषानुवाद सहित, 'अनुराधा' हिन्दी-संस्कृत विश्व व्याख्या )
- जोरिसन, ए०ए०ए० -- लॉजिकल स्टडीज़  
-- दि नैचर ऑफ़ ट्रूप
- फ़ा, गंगानाथ -- शंकर वैदान्त
- हॉयर, डी०पी० -- कान्ट्स सॉल्यूशन फ़ॉर वैरिफ़िकेशन इन मेटाफ़िज़िक्स
- धोबी, जार्ज -- वैदान्त सूत्र, पार्ट १ और २
- बत्ता, धीरेन्द्रमोहन -- दि बीफ़ कान्ट्स ऑफ़ कॉन्टेम्प्लोरी फ़िलासफ़ी
- वास, रासबिलारी -- ए ईण्ड्रुक टू कान्ट्स क्रिटीक ऑफ़ च्यार रीज़न
- वास, एस०के० -- ए हिस्ट्री ऑफ़ वैदान्त
- वासगुप्ता, सुरेन्द्रनाथ -- इण्डियन फ़िलासफ़ी, वॉल्यूम १ और २
- वैवराज, एन०के० -- ऐन इन्ट्रोडक्शन टू शंकरस थ्योरी ऑफ़ नॉलेज
- नागराजराय, पी० -- इन्ट्रोडक्शन टू वैदान्त
- निशिलानन्द ( रवामी ) -- वैदान्त सार ऑफ़ सबानन्द
- निश्चलदास -- श्री विचार सागर  
-- श्री वृत्तिप्रभाकर (संश्लेष एवं अनुवाक रवामी जात्मानन्द सुमि )
- पद्मपाद -- पंचपाथिका ( गायकवाडीज ऑरियन्टल सिरीज़ वॉल्यूम-१० अंग्रेजी अनुवाक--डी०, केंटरमथ्या )
- प्रकाशानन्द -- वैदान्त सिद्धान्त मुक्तावली ( अच्युत )

|                        |                                                                                                 |
|------------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------|
| पॉटर, कार्थ०एच०        | -- प्रीसपोजीशन ऑफ़ इण्डियाज़ फ़िलासफ़ी                                                          |
| पारमोर, जॉन            | -- ए वण्ड्रेड डायर्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी                                                              |
| प्रिंगिल पेटरसन, ए०एस० | -- दि वाइडिया ऑफ़ गॉड                                                                           |
| प्रिवर्ह               | -- कान्ट्स थ्योरी ऑफ़ नॉलेज                                                                     |
| पेटन, एच०जे०           | -- दि कंटेगोरिकल इम्परेटिव                                                                      |
| फ़िलन्ट, राबर्ट        | -- थीयज़                                                                                        |
| फ़ॉर् लेनबर्ग, रिचार्ड | -- दि रीगदी ऑफ़ मॉर्न फ़िलासफ़ी                                                                 |
|                        | -- कान्ट्स मेटाफ़िज़िक्स ऑफ़ एक्सपीरिएंस, वॉल्यूम १, २                                          |
| फ़िन्डले, जे०एन०       | -- हीगल--ए रीक्क्यूमिनेशन                                                                       |
| फ़ेजर, ए०सी०           | -- सेलेक्शन्स फ़ॉम कर्ले                                                                        |
| स्वायल, एम्मु          | -- स्पिनाज़ाज़ एथिक्स                                                                           |
| बर्नार्ड               | -- कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ ज़र्मैट ( ट्रांसलेशन )                                                  |
| बैक, लैविस स्वाइट      | -- डेमोन्स कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ प्रैक्टिकल रीज़न                                                |
| बेल्लर, एस०के०         | -- दि क्रूसुन ऑफ़ बावरायण ( दिव दि कर्मेट ऑफ़ संकराचार्य, चैप्टर ११, क्वार्टर्स १-२, पर्थ एडीशन |
| बैडा, डुलियन           | -- कान्ट ( कैसल एण्ड कम्पनी लिमिटेड)                                                            |
| बैरले, एफ़०एच०         | -- एपिग्रॉस एण्ड रियलिटी                                                                        |
| ,,                     | -- एस्सैज़ ऑन टुव एण्ड रियलिटी                                                                  |
|                        | -- क्लेक्टड एररिज़ वॉल्यूम १, २                                                                 |
| बोर्साके, बी०          | -- दि हिस्ट्री ऑफ़ इस्थेटिक्स, १९३४                                                             |
|                        | -- दी मीटींग ऑफ़ एक्स्ट्रीम्स इन कन्टेम्प्लेरी फ़िलासफ़ी ।                                      |
| मट्टाचार्य, कालिदास    | -- ऑल्टरनेटिव स्टैण्डपॉइन्ट्स इन फ़िलासफ़ी                                                      |
| मट्टाचार्य, के०सी०     | -- स्टडीज़ इन फ़िलासफ़ी वॉल्यूम १, २                                                            |
| मट्टाचार्य, हरिदास     | -- दि क्लरल डेरिटेज ऑफ़ इण्डिया, वॉल्यूम १११, रामकृष्ण मिशन                                     |
| मट्टाचार्य, हरिमोहन    | -- दि प्रिन्सिपल्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी                                                                |
| मट्टाचार्य, बी०        | -- दि वागमशास्त्र ऑफ़ गौड़पाद                                                                   |
| मोलेबाबा, यतिशर श्री   | -- क्रूसुन शांकरमाध्व, रत्नप्रभा-भाषानुवाद सहित भाग १ और २ ।                                    |

- म्यूर, जी० आर० बी० -- ए स्टडी ऑफ़ होगत्स लॉजिक  
 म्योरहेड, जॉन एव० -- दि प्लेटामिक ट्रेडींग इन दैलीकल फ़िलासफ़ी  
 मलहानी, जी० आर० -- मेटाफ़िजिक्स ऑफ़ जैस| वैमान्त अद्वैतिक एम्पिरिस्टमॉलॉजी  
 मलफ़ी, जै० पी० वरि धर्माई-  
 जै० एव० -- कान्ट्स क्रिटिकल फ़िलासफ़ी वॉल्यूम-11  
 -- कान्ट्स प्रालिगोमिनाएनी फ़्यूवर मेटाफ़िजि  
 मुक़र्बी, ए० सी० -- नैवर ऑफ़ सैल्फ़  
 -- सैल्फ़ पॉट एण्ड रिवलिटी  
 मुर्ति, टी० आर० बी० -- दि सैन्ट्रल फ़िलासफ़ी ऑफ़ बुद्धिप्र  
 -- दि रैशनल बेसिस ऑफ़ अद्वैतिज़्म ( फ़िलासॉफ़िकल  
 क्वार्टर्ली, वॉल्यूम-१६, १६४२ )  
 मैदज़, आर० -- ए एण्ड्रुड ह्यर्स ऑफ़ क्रिटिस फ़िलासफ़ी  
 मेरेडिथ, जैम्स क्रीड -- कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ कमेन्ट  
 मेक्टागर्ट, जॉन -- स्टडीज़ इन सीगैलिजन डाइअलैक्टिक  
 मेकामुज़ -- दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी  
 ,, -- कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ़ म्योर रीज़न ( ट्रांसलेशन )  
 रसेल, बी० -- दि प्रॉबलम्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी  
 ,, -- वॉवर नॉलेज ऑफ़ दि एक्स्टर्नल वर्ल्ड  
 राबल, गिलबर्ट -- दि कॉन्सेप्ट ऑफ़ माइन्ड  
 राबु, पी० ओटी० -- दि वाइडियलिस्टिक थॉट ऑफ़ इण्डिया  
 राधाकृष्णन्, एस० -- इण्डियन फ़िलासफ़ी पार्० १, २  
 ,, -- भारतीय दर्शन, भाग १, २  
 ( भारतीय दर्शन का विश्वविख्यात अध्ययन, हिन्दी अनुवाद,  
 राजपाल एण्ड सेस, दिल्ली । )  
 -- दि ब्रह्म  
 -- हिस्ट्री ऑफ़ फ़िलासफ़ी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, वॉल्यूम-२  
 -- सेन वाइडियलिस्ट ऑफ़ ऑफ़ ठाडफ़  
 राधाकृष्णन्, एस० आर  
 मुर, वाल्ट -- ए सोर्सिज़्म ऑफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी



- रानाडे, जार०डी० -- स कान्मद्विष्टव सर्वे ऑफ़ उपनिषदिक फ़िलासफ़ी
- ॥ -- परमार्थ सांपान
- रोबिन्सन, डी०एस० -- ऐन सनथोर्लीजी ऑफ़ मॉडर्न फ़िलासफ़ी
- राय, एस०एस० -- दि हैरिटेज ऑफ़ शंकर
- दूबईस ऐन इनक्वायरी कम्सर्गि दि डिफ़िनिशन
- ऑफ़ इण्डियन कल्चर ( यूनिवर्सिटी ऑफ़ एलाबाबा
- स्टडीज़, १९६८, फ़िलासफ़ी सेक्शन )
- रोज़र्स, जार०ए०पी० -- स शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ एथिक्स
- लाइबनिज़ -- विड्विन्नु बिथा ( हिन्दी रूपान्तर, हिन्दी समिति,
- सूना विभाग, उत्तर प्रदेस )
- लैंगरडुड -- दि ट्रान्स्फ़ॉर्मेशन मैथड इन्क्लूड्ड इन दि हैरिटेज ऑफ़ कान्ट
- बुधवारण्यकौपनिषद् -- (साधुवाद शांकरभाष्य सल्लि, गीताप्रेस, गोरखपुर )
- माटसन, जॉन -- दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट एक्स्प्लेन्ड
- दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ कान्ट ( एक्स्ट्रैक्ट्स )
- मात्स, डबल्यू०एस० -- रिज़न एण्ड एक्सपेरियन्स ( ऑक्सफ़ोर्ड १९५७ )
- विग्रहब्याकर्त्तनी -- (नवनालन्व महाविहार, रिसर्च पब्लिकेशन )
- वेब, क्लीमेंट, सी०ए० -- कान्ट्स फ़िलासफ़ी ऑफ़ रैलिन
- वैलेस -- दि ऑथिक ऑफ़ डीगल
- अर्ना, वन्दुवर -- इण्डियन फ़िलासफ़ी ए क्रिटिकल सर्वे
- ॥ -- बाँब वर्लन वॉर वेवान्त ( प्रयाग विश्वविद्यालय डी०फ़िल
- की उपाधि के लिए स्वीकृत थीसिस, मूल लेखकृत हिन्दी-  
रूपान्तर )
- दि रैन ऑफ़ साइजैलेक्टिक इन फ़िलासफ़ी-इण्डियन एण्ड  
वेस्टर्न--( ए थीसिस सबमिटेड टू दि यूनिवर्सिटी ऑफ़  
एलाबाबा फ़ॉर दि डिग्री ऑफ़ डॉक्टर ऑफ़ लेटर्स,  
अप्रकाशित )
- अर्ना, मोलानाथ --युद्ध बुद्धिमीमांसा ( लेख - ४० कान्ट)
- ( अनुवादक ) --हिन्दी समिति

- जमा, रामभूति -- संकराचार्य ( उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का जातीयनात्मक अध्ययन )
- सारश्री, सूर्यनारायण और  
 कुम्भनाराज, सी० -- वि मामती ऑफ वाकरपति ( बटुःपूत्री )  
 दिक्कने एण्ड बसयर्स -- दि बैरिस्टेय ऑफ कन्नड-  
 वेदसारश्री, स्वामी-  
 श्री अनुमानप्रसाद -- महाकवि श्रीहर्षपूणितां लण्डनलण्डरायम ( श्री शंकर मिश्र  
 विरचित ' शंकरा' सहित तत्त्ववार्त्तिकी हिन्दी  
 व्याख्यापितम् )  
 -- कृष्णभूषण, शांकरभाष्यम् ब्रह्मतत्त्वविमर्शिणी ( हिन्दी व्याख्या-  
 सहितम् )  
 रद्दोसन, पी०एफ० -- इण्डियनजुवल्स  
 रिपनोत्रा -- एथिक्स ( स्वर्णिम )  
 रिमथ, एम०के० -- हर्मेनकुल कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ प्यार रीज़न ( ट्रांसलेशन )  
 -- ए कर्मेन्ट्री टू कान्ट्स क्रिटिक् ऑफ प्यार रीज़न  
 सरकार, महैन्द्रनाथ -- १६ सिस्टम ऑफ वैदान्तिक थोट एण्ड कलर  
 कारास्कृत्यायन, राहुल -- वर्तनविमर्शनी  
 सिद्धांत शिरोमणि,  
 आचार्य विश्वेश्वर -- तर्कभाषा कैलमिन्न पूणिता तर्कवैयर्थीपिका, हिन्दी-  
 ( व्याख्याकार ) व्याख्याविपुषिता ( काशी संस्कृत ग्रन्थमाला )  
 -- बटुःपूत्री--कृष्णभूषण शांकरभाष्यम् ( ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका, हिन्दी-  
 व्याख्यापितम् )  
 सिंद, आर०पी० -- दि वैदान्त ऑफ शंकर  
 सिंह, फ़तह ( अनुवादक ) -- आमास और चर ( कैलक एफ०एच० यूकेले, हिन्दी-समिति,  
 सूचना विभाग, उतर प्रदेश )  
 द्वारेश्वर -- वैष्णवसिद्धि ( अनुवादक ए०के० एल्स्टन )

|                     |                                                                  |
|---------------------|------------------------------------------------------------------|
| ट्रिपटने एण्ड वाक्स | -- वि टेरिटरी ऑफ कान्ट                                           |
| स्युम, डेविड        | -- स ट्रिटीज ऑफ स्युम नेबर                                       |
| वाइमान, बेदी        | -- फेडरल ऑफ इण्डियन बोट                                          |
| विंसा, धॉन          | -- कौंसिल एण्ड कौन्टेन्सोरिरी रीसिंस इन वि<br>फिलाराफनी ऑफ रीजिन |
| हिरियन्मा, एच०      | -- वि एसेन्सियल ऑफ इण्डियन फिलाराफनी                             |
|                     | -- वाउटलाइन ऑफ इण्डियन फिलाराफनी                                 |
| मिल, टॉमस ई०        | -- रथिक्स इन ध्योरी एण्ड प्रेक्टिस                               |
| क्रिवाटी, वार० ई०   | -- प्रोबलम्स ऑफ फिलाराफनी एण्ड रीजिन                             |

--